स्त्रियों के सब प्रकार के रोगों का सचित्र

'मैटीरिया मेडिका'

लेखक—

आयुर्वेद-विद्यापीठ तथा जयपुर राज्य द्वारा स्वर्ण-पदक

प्राप्त; विष-विज्ञान, उपयोगी चिकित्सा,

बाल-रोग-विज्ञानम् आदि

पुस्तकों के रचयिता

कविराज पं० धर्मानन्द जी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

प्रोफ़ेसर आयुर्वेद-विद्यालय, हृषीकेश

प्रकाशक—

'चाँद' कार्यालय,

इलाहाबाद
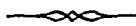
जून, १९२९

प्रथम संस्करण, २०००]

[मूल्य केवल ३) रु०

FIRST EDITION
Two Thousand Copies

Printed and Published

by

R. SAIGAL

at

The Fine Art Printing Cottage
28, Edmonstone Road
Allahabad

June
1929

र्ण ध्यान देकर अनुभव करने से यह सिद्ध होता है कि काल की विचित्र गति के अनुसार तथा प्रकृति के स्वभाववश सभी चीज़ों में परिवर्तन होता रहता है। एक समय था, जब आयुर्वेद का चन्द्रमा अपनी अष्टाङ्गपूर्ण कलाओं से समस्त भूमण्डल को प्रकाशित कर रहा था। उस समय इसका विकाश सम्पूर्ण भारत के मनुष्यों में व्याप्त था तथा सभी को "धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्" इस तत्वोपदेश का अक्षरशः ज्ञान था और सभी स्त्री-पुरुष इसको भली-भाँति जानते थे। यही नहीं, इसकी अनुपम ज्ञान की कला ने अन्य देशों को भी मुग्ध कर दिया था। अन्य देशों के लोगों ने यहाँ आकर इसके ज्ञान से अपने देशों में प्रचार कर उनको स्वस्थ तथा यशस्वी बनाया। तब भारत में—उस उन्नतिशील आयुर्वेद-युग में—न केवल पुरुषों को इसका ज्ञान था, बल्कि स्त्रियों में भी इसका पूर्ण ज्ञान था। इसके लिए शास्त्रार्थ में श्री० शङ्कराचार्य जी को पराजित करने वाली श्री० मण्डन मिश्र जी की पत्नी प्रमाण हैं। वही आयुर्वेद का ज्ञान काल के फेर से, अनेक राज्यों के परिवर्तन तथा आघातों से क्षीण होकर यहाँ तक लुप्त हुआ

कि मनुष्यों में सदा रोगों का निवास रहने लगा, जिसके कारण असंख्य मनुष्य असमय में ही काल के गोद में समा गए और समा रहे हैं। परन्तु दुःख की अवधि समाप्त होने से या उस विश्व-व्यापी सर्वसमर्थ प्रकृति देवी की असीम कृपा से फिर मनुष्यों में आयुर्वेद के गौरव का ज्ञान होने लगा है और चारों तरफ़ उसके विषय में कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य दिखाई देने लगे हैं। इन बातों को देखकर आशा की जाती है कि वह समय शीघ्र आने वाला है, जब कि ईश्वर की कृपा से आयुर्वेद अपनी पूर्ण कलाओं से युक्त होकर हमको निरामय होने में सफल कर देगा। अस्तु—

आज इस उन्नतिशील आयुर्वेद-युग में, जहाँ पर पुरुषों को इसके ज्ञान के लिए अनेकानेक सुविधाएँ मिल रही हैं, वहाँ पर क्यों न हमारी माता तथा बहिनों को इसके ज्ञान से परिचित कराया जाय? नीरोग तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तानों का पैदा करना और उनको निरामय रखना हमारी पूज्य माता तथा बहिनों के हाथ में है। जब तक उनको अपने स्वास्थ्य तथा शारीरिक व्याधियों के विषय में पूर्ण ज्ञान न होगा, तब तक हमारा भी स्वास्थ्य-रक्षा के साथ मनुष्यत्व को प्राप्त करना कठिन है। स्त्रियों के आयुर्वेद-ज्ञान-शून्य होने के कारण आज उनके असंख्य लाल बाल्यावस्था में ही काल के गाल में चले जाते हैं, और स्वयं वे जीवन भर रोगों से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकतीं। ऐसी दशा में उनको सदा सुखी रखना—स्वस्थ तथा नीरोग रखना—हमारा परम कर्तव्य है। इसके लिए हमारे पास दो ही उपाय हैं, पहला यह कि उनको अपने शारीरिक विषय में पूरा ज्ञान कराया जाय, जिससे वे अपने उत्पन्न

होने वाले रोगों से सावधान रहें और उनका यथोचित प्रतीकार कर सकें। दूसरा यह कि उनके चिकित्सक को उनके शारीरिक अवयवों के विषय में पूर्ण ज्ञान होवे। क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के बहुत से स्वतन्त्र तथा प्रधान रोग हैं, जिनमें शारीरिक चिकित्सा के सिवाय स्थानिक चिकित्सा ही विशेष रूप से करनी पड़ती है। स्थानिक चिकित्सा में स्त्री-चिकित्सक तभी सफल हो सकता है, जब कि वह स्त्री-जननेन्द्रियों तथा उनके प्रधान-प्रधान रोगों के विषय में पूर्ण ज्ञान रखता हो। इन्हीं बातों को देखते हुए हमने इस पुस्तक में स्त्री-जननेन्द्रियाँ तथा उनमें होने वाले अनेक रोगों का विस्तृत वर्णन किया है। उन रोगों में जहाँ तक हो सका है, आयुर्वेद के मत से निदान, चिकित्सा आदि का वर्णन किया है। जो रोग स्त्रियों को विशेष कर होते हैं तथा जिनका वर्णन आयुर्वेद में विस्तार के साथ नहीं आया है, उनको भी दूसरे शास्त्रों से लेकर विस्तार के साथ लिखा है। रोगों का निदानादि बहुत सरल रीति से दिया गया है। अस्तु, यदि इस पुस्तक से बहिनों का कुछ कल्याण हुआ तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

—धर्मानन्द बिल्वपाल

चौथा परिच्छेद

पाँचवाँ परिच्छेद

छठा परिच्छेद

सातवाँ परिच्छेद

आठवाँ परिच्छेद

चित्र-सूची

तिरङ्गे

आर्ट पेपर पर रङ्गीन

पुस्तक के रचयिता—

कविराज पं० धर्म्मानन्द जी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य,

प्रोफ़ेसर आयुर्वेद विद्यालय, हृषीकेश

The Fine Art Printing Cottage, Allahabad.

विषय-प्रवेश

सार में अतुल धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य यश, मान और कीर्ति का स्वामी होते हुए भी मनुष्य अपने को एक विशिष्ट वस्तु के अभाव में सर्वथा दीन-हीन तथा असहाय समझने लग जाता है। वह विशिष्ट वस्तु है पुत्ररत्न, जिसे प्राप्त करना तथा जिसका समुचित संरक्षण और संवर्द्धन हिन्दू-धर्म का एक महत्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। चरक ने लिखा है—"सन्तानहीन व्यक्ति उस अभागे वृक्ष के समान है जिसमें शाखाओं का प्रसार होते हुए भी, छाया और सौरभ के अभाव में न तो उसकी गोद पक्षियों के कलगान से मुखरित होती है, न उसके नीचे किसी श्रान्त पथिक को शान्ति मिलती है।"

शास्त्रों की युक्ति है—"आत्मावै पुत्रनामासि" अथवा "आत्माहि पुत्र रूपेण जायते।" पुत्र को आत्मा का दूसरा रूप कहा है—क्योंकि पुत्र स्त्री-पुरुष दोनों के सम्पूर्ण अवयवों के सम्मिश्रण का मूर्त्तिमान भाव है। पति-पत्नी के समस्त अंश सूक्ष्म रूप से शुक्र और शोणित में परिणत होकर गर्भ की सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि प्रमेह-पीड़ित या कुष्ठ-ग्रसित माता-पिता की सन्तान को भी प्रमेह या कुष्ठ का शिकार होना पड़ता है। इन रोगों के कारण माता-पिता के रक्त और वीर्य दूषित हो जाते हैं तथा उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान का जीवन घृणित और शोचनीय बन जाता है। सारांश यह कि माता-पिता के रज-वीर्य-दोष से उनका जीवन तो कष्टमय होता ही है, उनकी सन्तान पर भी इसका कुप्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यद्यपि सन्तान की उत्पत्ति में माता और पिता समान रूप से सहायक होते हैं, तथापि गर्भ माता के गर्भाशय में स्थित रहने और उसी की प्रकृति और आहार-बिहार के अनुकूल विकसित और पुष्ट होने के कारण सन्तति के ऊपर माता का प्रभाव अधिक पड़ता है। इस कथन की पुष्टि के लिए हमें प्रमाण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। हमारी आँखें नित्य ही देखा करती हैं कि एक ही स्थान पर रहती हुई और एक ही वायु-मण्डल में विचरण करने वाली दो माताओं की सन्तान

दो प्रकार की होती हैं। स्वस्थ शरीर वाली और उपयुक्त समय पर ऋतुमती होने वाली माता जहाँ सुन्दर, बलवान और तेजस्वी बालकों की जननी बनती है, वहीं मूर्खता और दरिद्रता की गोद में पली हुई माताएँ रोगी, अल्पायु और निकम्मे बच्चों को पैदा कर अपने जीवन की निस्सारता प्रकट करती हैं।

भारतवर्ष के बच्चों की मृत्यु-संख्या देखकर हृदय काँप उठता है। इस भयङ्कर अवस्था का एकमात्र कारण है माता-पिता की अस्वस्थता तथा उनका अनियमित आहार-विहार। इसके साथ ही साथ जब हम अपनी सामाजिक कुप्रथाओं पर दृष्टिपात करते हैं, तो विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमारी वर्त्तमान विवाह-पद्धत्ति शास्त्रानुकूल नहीं है। कहीं छोटी-छोटी बालिकाएँ बूढ़े पतियों की काम-लिप्सा पर बलिदान की जाती हैं तो कहीं अल्पवयस्क बालकों के ऊपर नवयुवती बधुओं का भार लाद दिया जाता है। पति-पत्नी की पारस्परिक योग्यता निर्धारित करने में यदि विवेक से भी काम लिया गया तो अनियमित आहार-विहार के कारण अल्पकाल में ही उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। चरक ने नर-वधू के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है :—

ऊनषोडश वर्षायाम् प्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्तो पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यतेः ॥

अर्थात्—यदि २५ वर्ष का पूर्ण स्वस्थ और ब्रह्मचर्य-युक्त पुरुष १६ वर्ष की स्वस्थ, ब्रह्मचारिणी और ऋतुमती स्त्री को गर्भदान दे तो वह गर्भ स्थायी होता है। इससे प्रतिकूल दशाओं में यदि गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न होता है, तो वह गर्भ प्रायः पतित या स्रवित होकर नष्ट हो जाता है। गर्भनाश के और भी अनेक कारण हो सकते हैं और उनमें स्त्री की रुग्णावस्था और जननेन्द्रियों की विकृति प्रधान हैं। इन कारणों के वर्त्तमान रहते हुए यदि गर्भ स्थायी भी हुआ तो उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान निस्तेज और अल्पायु अथवा जन्म से ही विकृत होती है। अतः स्त्री-सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा में निपुणता प्राप्त करने के लिए प्रथम उनकी जननेन्द्रियों का अध्ययन करना आवश्यक होगा। रोगों में स्थानिक तथा दैहिक दोनों प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं और जननेन्द्रियों का ज्ञान न होने से स्थानिक रोगों की चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन है।
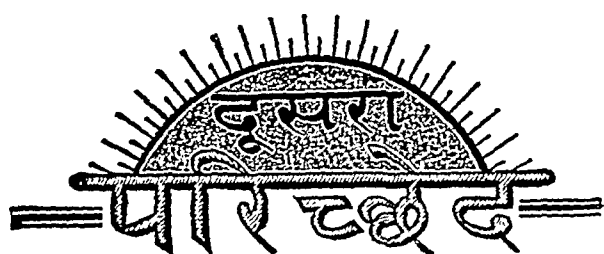
स्त्री-जननेन्द्रियाँ

यों की चार मुख्य जननेन्द्रियाँ हैं—गर्भाशय, भग, डिम्बग्रन्थि और डिम्बप्रणाली। 'प्रत्यक्षशारीर' नामक ग्रन्थ में इनका नाम क्रम से गर्भाशय, भग, बीजाधारग्रन्थि और बीजवाहिनी-प्रणाली लिखा है। मासिकधर्म और गर्भ से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण कहीं-कहीं स्तनों की गणना भी जननेन्द्रियों में की गई है। मासिक स्राव के साथ ही साथ स्तनों का विकाश होने लगता है और इसी समय को यौवन का आरम्भ माना गया है। जिस स्त्री का आर्तव विलम्ब से प्रकट होता है, उसकी स्तन-वृद्धि आदि यौवन-लक्षण भी विलम्ब से प्रकट होते हैं। गर्भ-स्थिति हो जाने

के पश्चात् आर्तववाही स्रोतों में रुकावट पैदा होती है। इससे पहले तो रुका हुआ आर्तव गर्भस्थ शिशु के निमित्त जरायु या अपरा (खेड़ी) का रूप धारण करता है और इस कार्य की समाप्ति के पश्चात् स्तन-पेशियों की पुष्टि और स्तन्य (दूध) की सृष्टि करने में लग जाता है। सुश्रुत ने लिखा है, बाह्याभ्यन्तर भेद से स्त्री-जननेन्द्रियों के दो प्रकार हैं। बाह्य जननेन्द्रियाँ जो बाहर से दिखाई देती हैं—जैसे भग, भगनासा, भगोष्ठ, योनिद्वार आदि, और अन्तरीय जननेन्द्रियाँ जो स्त्री के वस्तिगह्वर या श्रोणि (पेडू) के भीतर छिपी रहती हैं, जैसे डिम्बग्रन्थि, डिम्बप्रणाली, गर्भाशय, योनि आदि। नीचे इन इन्द्रियों का विस्तृत वर्णन किया जायगा।

भग

पुरुष के मेढ़ेन्द्रिय (लिङ्ग) और अण्डकोषों के स्थान पर स्त्री के जो अङ्ग दिखाई देते हैं, वे सब मिल कर भग (Vulva) कहलाते हैं। भग के बीच में एक दरार होती है, जिसके दो भाग हैं और इनमें से प्रत्येक को भगोष्ठ कहते हैं। ये भगोष्ठ त्वचा (चमड़ा) के झोलों से बने हुए हैं और इनके नीचे वसा (चर्बी) होने के कारण उभरे हुए दिखाई पड़ते हैं। इन ओष्ठों को हटा कर और दरार को चौड़ा करके देखा जाय तो इनके भीतर दो और ओष्ठ दीखते हैं। ये ओष्ठ भी त्वचा से बने होते हैं, पर इनमें

वसा कम होने के कारण ये पतले दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों—बाहरी और भीतरी—ओष्ठों को, जिन्हें क्रम से बृहत् ओष्ठ और लघु ओष्ठ कहते हैं, विस्फारित कर देखने से पता चलता है कि भीतर दो छिद्र हैं, एक बड़ा और दूसरा छोटा। मैथुन के समय इसी बड़े छिद्र में, जिसे योनि-द्वार कहते हैं, पुरुष का शिश्न प्रवेश करता है तथा इसी द्वार से मासिक स्राव और बालक की उत्पत्ति होती है। छोटा छिद्र योनि-द्वार से एक या दो इञ्च ऊपर होता है और इसके द्वारा मूत्र-त्याग होने के कारण इसे मूत्र-बहिर्द्वार कहते हैं।

अक्षतयोनि स्त्रियों के योनिद्वार पर त्वचा का एक पतला परदा होता है। इसका नाम योनिच्छद या कुमारी-च्छद है, क्योंकि यह कुमारियों के ही होता है। इस परदे में एक छिद्र होता है, जिसके द्वारा प्रति मास आर्तव निकला करता है। प्रथम मैथुन में दृढ़ शिश्नेन्द्रिय के प्रवेश से यह परदा फट कर भीतर घुस जाता है और इसी कारण स्त्री को थोड़ी सी पीड़ा के साथ-साथ रक्त भी निकलता है। कभी-कभी यह परदा पतला तथा इसका छिद्र चौड़ा होता है। ऐसी दशा में यदि शिश्नेन्द्रिय पतली हुई तो यह परदा नहीं फटता और बिना पीड़ा के मैथुन हो जाता है। इस परदे के वर्त्तमान होने से निश्चय किया जाता है कि स्त्री के साथ मैथुन नहीं किया गया है। परन्तु यहाँ

पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि कभी-कभी चोट लगने से भी यह परदा फट जाया करता है।

बृहत् भगोष्ठ ऊपर जाकर एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इनका सन्धि-स्थान, जो कुछ उभरा हुआ दिखाई देता है, कामाद्रि या भगपीठ कहलाता है। यौवनावस्था में स्त्रियों के इस स्थान पर बाल उग आते हैं। भगपीठ या कामाद्रि के नीचे दोनों बृहत् ओष्ठों के बीच में मूत्र-बहिर्द्वार के ऊपर एक छोटा सा अङ्कुर होता है, जिसे भगनासा, भगाङ्कुर या भगशिश्निका कहते हैं। जिस प्रकार पुरुषों के शिश्न होता है, उसी प्रकार स्त्रियों के यह अङ्ग होता है, परन्तु शिश्न की अपेक्षा बहुत ही छोटा। शिश्न की भाँति इसमें भी दो दण्डे होते हैं, जिन्हें भगनासा-दण्डिका कहते हैं। इनकी रचना शिश्न-दण्डिकाओं के सदृश होती है। भगनासा का शिरा शिश्न-मुण्ड के समान होता है। उसकी त्वचा ऊपर को हट सकती है और क्षुद्रोष्ठों की त्वचा से मिली रहती है। शिश्नमुण्ड के जैसा भगनासा में कोई छेद नहीं होता, जिससे होकर मूत्र या शुक्र के सदृश कोई वस्तु द्रवित हो। स्त्रियों का मूत्र-मार्ग पृथक् होता है। मैथुन के समय शिश्न के समान भगनासा भी रक्त से भर कर दृढ़ हो जाता है और इसमें शिश्न के रगड़ खाने से स्त्रियों को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। मैथुन की समाप्ति के पश्चात् रक्त का प्रवाह बन्द हो जाने

के कारण शिश्न की भाँति भगनासा भी शिथिल पड़ जाता है।

गर्भाशय

भावमिश्र के मतानुसार स्त्री की योनि शङ्ख की नाभी के समान तीन घेरे या चक्रों वाली होती है। प्रत्येक घेरे को वलि कहते हैं और बाहर से भीतर की ओर इनका नाम क्रमशः समीरणा, चान्द्रमसी और गौरी है। इसी तीसरी गौरी वलि के भीतर गर्भाशय (Uterus) स्थित है। शुक्र और शोणित के प्रथम वलि में पहुँच कर रुक जाने से गर्भ स्थित नहीं होता, दूसरी में रुकने से कन्या और तीसरी में पुत्र की उत्पत्ति होती है। रोहू मछली के शिर के समान गर्भाशय मुख की ओर सङ्कुचित और भीतर की ओर विस्तृत होता जाता है। सुश्रुत तथा भावप्रकाश में इसका स्थान पित्ताशय तथा पक्वाशय के बीच में बताया गया है। पक्वाशय का शायद उस स्थान से मतलब होगा, जिसे आजकल अङ्गरेज़ी में रेक्टम (Rectum) कहते हैं और पित्ताशय कदाचित् मूत्राशय के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि आधुनिक शोध के द्वारा इस इन्द्रिय का स्थान मूत्राशय (वस्तिस्थान) और रेक्टम के बीच निर्धारित किया गया है। यह इन्द्रिय डिम्बवाहिनी नाड़ी के द्वारा गर्भ को धारण करती और डिम्बों को पकड़े रहती है। यहीं पर ९-१० मास तक गर्भ

की वृद्धि होती है। गर्भस्थिति के पूर्व नीरोगावस्था में इसकी लम्बाई २ से ३ इञ्च तक, चौड़ाई १ से २ इञ्च तक, मोटाई लगभग १ इञ्च और वज़न १ से डेढ़ औन्स तक होता है। गर्भाशय के चारों ओर की दीवार तीन आवरणों से बनी हुई है, पहला आवरण रस-त्वचा-निर्मित, दूसरा स्नायु-मय और तीसरा श्लेष्म-त्वचा से बना हुआ है।

ऊपर गर्भाशय की उपमा शङ्ख से दी गई है। इससे ज्ञात होता है कि इसके ऊपरी भाग को मोटा होने के कारण गर्भाशय का गात्र और निम्न-भाग को—जो योनि से जुड़ा हुआ रहता है—पतला होने के कारण गर्भाशय की ग्रीवा कहा है। इसके नीचे दोनों ओष्ठों से घिरा हुआ अपत्य-पथ का छिद्र है, जिसको गर्भाशय का मुख कहते हैं। गर्भाशय के आधारभूत, आवरण-कला-निर्मित छः बन्धन हैं—दो आगे, दो पीछे और दो दोनों पार्श्वों में। सामने के दो अर्द्धचन्द्राकार बन्धन गर्भाशय के मुख और मूत्राशय के पृष्ठभाग के बीच में स्थित हैं तथा पीछे के दो बन्धन गर्भाशय को मलाशय (Rection) से संयुक्त करते हैं। गर्भाशय के उत्तर तथा दक्षिण पार्श्वों के दो चौड़े बन्धन वस्ति-प्रदेश के किनारों तक फैले हुए हैं और विशेषतः इन्हीं के द्वारा वस्ति-प्रदेश दो भागों में विभक्त होता है। सामने के भाग में मूत्राशय, मूत्र-नलिका और

अपत्य-पथ हैं तथा पिछले भाग में मलाशय का स्थान है। इन्हीं बन्धनों के कारण गर्भाशय अपने स्थान पर टिका रहता है और जब कभी किसी कारण-विशेष से ये बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, तो गर्भाशय स्वभावतः अपने स्थान से हट जाता है। इस क्रिया को गर्भाशय-च्युति कहते हैं। गर्भाशय के भीतर का खोखला भाग इसके आकार-मान से छोटा होता है। इसके ऊपर का अंश त्रिकोणाकार है और यहीं से दो डिम्ब-प्रणालियाँ पृथक् होकर दोनों तरफ़ चली जाती हैं। गर्भाशय की अन्तस्त्वचा या श्लेष्म-त्वचा में सूक्ष्म नलिकाओं का जाल फैला रहता है, जिससे उत्पन्न होनेवाला स्राव गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में उसे पोषित करता है। गर्भाशय की धमनियों और शिराओं का जाल विलक्षण रीति से फैलकर गर्भ-जाल की शिराओं से संलग्न होता है और गर्भ को उसकी मध्य तथा अन्तिम अवस्थाओं में पुष्टि प्रदान करता है।

आमाशय की श्लेष्म त्वचा की भाँति गर्भाशय की श्लेष्म-त्वचा में भी शोषक-शक्ति वर्त्तमान है और प्रसूति या ज़च्चा होने के बाद इस शक्ति का बढ़ जाना सम्भव है। इससे सूतिका ज्वर आदि भयङ्कर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। गर्भाशय में स्थिति-स्थापन की शक्ति भी (Power of Elasticity या रबर के समान फैलने और सिकुड़ने का गुण) पर्याप्त मात्रा में पाई

जाती है। इस कारण गर्भ-वृद्धि के साथ-साथ इसका आकार बढ़ने लगता और प्रसूति के बाद फिर सिकुड़ कर छोटा हो जाता है। उस समय इसका वज़न कम होकर केवल २॥ या ५ तोले से ८ या १० तोले तक रह जाता है। इस फैलने और सिकुड़ने की शक्ति से तीन लाभ होते हैं, गर्भ की वृद्धि के लिए यथोचित स्थान प्राप्त होता है, प्रसव के समय बच्चे के बाहर निकलने में सहायता मिलती है तथा रक्त-स्राव शीघ्र बन्द हो जाता है। वृद्धावस्था में डिम्ब की उत्पत्ति नहीं होती और गर्भाशय भी सिकुड़ कर इतना छोटा हो जाता है कि उसमें डिम्ब प्रवेश करने नहीं पाता। इन कारणों से वृद्धा स्त्रियों के न तो मासिक स्राव होता है और न उनमें गर्भ-धारण की योग्यता ही रह जाती है।

डिम्ब-ग्रन्थियों का आकार और परिमाण कबूतर के अण्डे के बराबर होता है। लम्बाई एक से सवा इञ्च तक, चौड़ाई पौन इञ्च और मोटाई आधा इञ्च के लगभग होती है। इनका स्थान गर्भाशय के दोनों तरफ़ है और ये वस्ति-गह्वर के बग़ल की दीवारों से लगी रहती हैं।

डिम्बप्रणाली

गर्भाशय से आरम्भ होकर दो नलियाँ दाहिनी और बाईं ओर से डिम्ब-ग्रन्थियों में जा मिलती हैं। इन नलियों को डिम्ब-प्रणाली (Falopian tube) कहते हैं। ये गर्भाशय

के बग़ल वाले चौड़े बन्धनों के ऊपरी भाग में बन्धन की तटों के भीतर रहती हैं। इनकी लम्बाई लगभग ४ इञ्च और मोटाई गर्भाशय के पास १/८ इञ्च तथा डिम्ब-ग्रन्थि के पास १/४ इञ्च होती है। इन नलियों के भीतर से बहुत तङ्ग होने के कारण इनका भीतरी व्यास गर्भाशय के पास केवल १/२५ इञ्च तथा डिम्ब-ग्रन्थि के पास १/१२ इञ्च रह जाता है। ये नलियाँ डिम्ब-ग्रन्थि से जुड़ी हुई नहीं हैं, तो भी इनसे निकले हुए डिम्ब सरलतापूर्वक इनके छिद्र-द्वार तक पहुँच जाते हैं। इसका कारण यह है कि डिम्बप्रणाली का वह शिरा, जो ग्रन्थि के पास है, कुछ फूला हुआ है और उसके चारों ओर एक झालर सी लगी हुई है। इस झालर का कुछ भाग ग्रन्थि से संयुक्त है और इसी के सहारे डिम्ब छिद्र-द्वार तक पहुँच जाते हैं। इस प्रणाली की दीवार सौत्रिक तन्तु और अनैच्छिक मांस से बनी हुई है। इसके भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला में लम्बाई की ओर सलवटें या झोल पड़े रहते हैं। कला के पृष्ठ की सेलों में सेलाङ्कुर होते हैं, जिनकी गति गर्भाशय की ओर होने के कारण डिम्ब को गर्भाशय की ओर जाने में सहायता मिलती है।

योनि

गर्भाशय के प्रकरण में योनि (Vagina) का कुछ वर्णन हो चुका है। वास्तव में योनि एक नली है, जिसका ऊपरी

भाग गर्भाशय की ग्रीवा के निम्नांश से संयुक्त होकर गर्भाशय के बहिर्मुख को आच्छादित करता है और नीचे का भाग, जिसका मुख खुला हुआ रहता है, भग में भगोष्ठों के बीच मूत्र-बहिर्द्वार से ½ इञ्च नीचे समाप्त हो जाता है। अक्षतयोनि स्त्रियों में योनिद्वार का अधिक भाग योनिच्छद नामक झिल्ली द्वारा बन्द रहता है। गर्भाशय सामने की ओर झुका हुआ होता है, इस कारण जहाँ योनि और गर्भाशय एक दूसरे से मिलते हैं, वहाँ एक समकोण की उत्पत्ति होती है। गर्भाशय की ग्रीवा का कुछ भाग योनि के भीतर घुसा हुआ है। इससे गर्भाशय के अगले ओष्ठ और योनि की अगली दीवार तथा पिछले ओष्ठ और पिछली दीवार के बीच कुछ अन्तर पड़ जाता है। इस अन्तर को योनि का अग्र और पाश्चात्य कोण कहते हैं। पाश्चात्य कोण अग्र-कोण से अधिक गहरा होता है। योनि की लम्बाई प्रायः तीन-चार इञ्च होती है। इसकी सामने की दीवार पिछली दीवार से कुछ कम लम्बी होती है। दीवारों की रचना सौत्रिक तन्तु तथा अनैच्छिक मांस के द्वारा होती है और भीतरी पृष्ठ पर श्लेष्मिक कला का आवरण रहता है, जो सदा कुछ तर रहा करता है। योनि की दीवारें एक दूसरे से सटी हुई रहने के कारण कीड़े-मकोड़े या अन्य कोई पदार्थ सहसा इसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता। यह द्वार के पास,

जहाँ मूत्राशय के साथ इसका संयोग होता है, तङ्ग होती है, बीच में चौड़ी और गर्भाशय के पास जाकर फिर तङ्ग हो जाती है। योनिद्वार पर योनि-सङ्कोचनी पेशी लगी रहती है और दीवारों पर शिरा-जाल फैले रहते हैं, जो मैथुन के समय रक्त से भर जाने के कारण दीवार को पहले की अपेक्षा अधिक मोटी कर देते हैं।

मासिक-धर्म

जैसे किसी खेत में बोने के लिए परिपक्व बीज की आवश्यकता होती है, वैसे ही पुत्रोत्पत्ति के लिए शुद्ध और परिपक्व शुक्र और आर्तव की आवश्यकता है। सुश्रुत में लिखा है—"पुरुष के शुक्र की भाँति स्त्री का शुद्ध आर्तव भी गर्भोत्पत्ति का एकमात्र प्रधान कारण है।" इसके अशुद्ध या विकृत होने से गर्भोत्पत्ति तो दूर, स्त्री का स्वास्थ्य भी नष्ट होकर प्रदर, रक्तगुल्म आदि नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। स्त्रियों के प्रायः सभी रोगों का उसके आर्तव से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा करता है। ऐसी दशा में स्त्री-रोग-चिकित्सक के लिए मासिक धर्म (Monthly Course) का ज्ञान रखना उतना ही या उससे भी अधिक आवश्यक है, जितना कि स्त्री-

जननेन्द्रियों का। मासिक-धर्म स्त्री के शरीर का एक मुख्य धर्म है। परन्तु शोक के साथ कहना पड़ता है कि अज्ञानान्धकार में डूबे रहने के कारण बहुत सी स्त्रियाँ इसे अस्वाभाविक समझती और रोकने की चेष्टा करती हैं। फल यह होता है कि उनके ऊपर नाना प्रकार के रोगों का आक्रमण होता है जिसमें उनका जीवन नष्ट हो जाता है। यह तो स्त्री-जननेन्द्रिय का अनिवार्य धर्म है। इसके सम्बन्ध में लज्जित होने की कोई आवश्यकता नहीं, वरन् आवश्यकता इस बात की है कि हम लोग समझें, मासिक स्राव क्यों होता है, इसका उद्देश्य क्या है, इसमें कौन-कौन से व्याघात होते हैं और उनके निरोध का उपाय क्या है।

मासिक-धर्म का आरम्भ-काल निर्धारित करते समय जलवायु और आहार-विहार को दृष्टि में रखना आवश्यक है। पश्चात्य देशों की अपेक्षा इस देश का जलवायु अधिक उष्ण होने के कारण १२ से १४ वर्ष की अवस्था में यहाँ कन्याओं का मासिक स्राव आरम्भ हो जाता है। पूर्व महर्षियों के मतानुसार भी भारतवर्ष में स्वस्थ और नीरोग स्त्रियों का मासिकधर्म १२ वर्ष की अवस्था में आरम्भ होकर साधारणतः ५० वर्ष तक चलना चाहिए। किसी-किसी हालत में यह स्राव १४ से १७ वर्ष की अवस्था में आरम्भ होता है। परन्तु इङ्गलैण्ड आदि शीतप्रधान

देशों में यह अवधि १४ से १६ वर्ष के बीच मानी गई है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि इस निश्चित काल के भीतर किसी-स्त्री का मासिक धर्म प्रारम्भ न हो, तो समझना चाहिए कि उसे कोई न कोई रोग अवश्य है। गर्भस्थिति के बाद ही मासिक स्राव बन्द हो जाता है और उस समय तक बन्द रहता है जब तक सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् कई महीने नहीं व्यतीत हो जाते। दो आर्तवों के बीच बहुधा २८ दिन का अन्तर होता है, परन्तु किसी-किसी स्त्री को दो या एक दिन न्यूनाधिक भी लगते हैं। स्राव में कम से कम एक दिन, साधारणतः तीन-चार दिन और अधिक से अधिक छः दिन लगा करते हैं। छः दिनों से अधिक स्राव का जारी रहना या महीने में दो-तीन बार स्राव का होना रोग का लक्षण है।

मासिक-धर्म प्रारम्भ होने की अवस्था में स्त्रियों में अनेक परिवर्त्तन होते हैं। उनका शरीर गोल और रमणीक बन जाता है, स्तनों का विकाश होता है, मानसिक भावों में लज्जा का प्रादुर्भाव और पुरुषों से परदा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। स्राव में रक्त का परिमाण प्रायः एक या डेढ़ पाव होता है। इसकी न्यूनाधिकता विकृति का परिचायक है। स्रवित आर्तव का रङ्ग प्रारम्भ में हलका लाल होता है। बीच में गहरा लाल और तीसरे या चौथे दिन जब कि स्राव बन्द होता है, फिर हलका लाल हो

आता है। आर्तव अधिकतर पतला होता है, पर श्लेष्मा का मिश्रण उसे चटपटा और चिपकने वाला बना देता है।

आर्तव की प्रवृत्ति

मासिक स्राव आरम्भ होने के पूर्व रक्त-केशिकाओं से रक्त प्रवाहित होकर गर्भाशय की श्लेष्मिक कला में स्थान-स्थान पर इकट्ठा होता है। यह कला रक्त से परिपूर्ण होकर पहले की अपेक्षा अधिक कोमल, पिलपिली और मोटी पड़ जाती है। उपयुक्त समय आने पर यहाँ से रक्त बाहर निकलता है और स्राव की अवधि समाप्त होने पर कला सिकुड़ कर अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाती है। आर्तव निकलने के समय शेष जननेन्द्रियों में भी थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन होता है। डिम्ब-ग्रन्थि, डिम्ब-प्रणाली और योनि अधिक रक्तमय होकर लाल हो जाती हैं और गर्भाशय का आकार विस्तृत होता है। आर्तव निकलने के दो-चार दिन पहले से इसके निकलने तक बहुधा स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक अवस्था में अनेक परिवर्तन उपस्थित होते हैं। इस समय आलस्य और अरुचि साधारण सी बातें हैं। कमर, कूल्हों तथा पेड़ू में कुछ भारीपन मालूम होता है। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और कहीं-कहीं चञ्चल-प्रकृति स्त्रियों को अजीर्ण तथा क़ब्ज़ भी होते हैं। अधिकांश अमीर घरों

की स्थूलकाय शिक्षिता स्त्रियाँ, जिन्हें मन को उत्तेजित करने वाले क़िस्से-कहानी की पुस्तकें पढ़ने का अभ्यास होता है, ऋतु-काल में पेड़, कमर और कूल्हों की पीड़ा के अतिरिक्त हाथ-पैरों के टूटन से पीड़ित हुआ करती हैं।

मासिक स्राव का कारण

मासिक स्राव क्यों होता है, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। कोई-कोई इसका सम्बन्ध गर्भ-सञ्चार से बताते हैं। परन्तु इस प्रश्न की सर्वमान्य मीमांसा न तो प्राचीन ग्रन्थकार कर पाए हैं और न आधुनिक विज्ञान-वेत्ता। जो कुछ भी हो; सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके एक से अधिक प्रयोजन होंगे, जिनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जायगा।

मासिक-स्राव का डिम्ब के साथ, जो प्रति मास डिम्ब-ग्रन्थियों से निकल कर डिम्ब-प्रणाली में आता है, कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है, क्योंकि जब डिम्ब पक कर डिम्ब-प्रणाली में आने वाला होता है तभी अधिकतर स्राव होता है। रजोदर्शन के साथ-साथ डिम्ब का पकना आरम्भ होता है और रजोनिवृत्ति के बाद डिम्ब-ग्रन्थि सिकुड़ कर छोटी होने लगती है तथा डिम्ब निकलना बन्द हो जाता है। इसी समय आर्तव का बहना भी रुकता है।

मासिक स्राव होने के बाद १५ दिनों में ही गर्भ-

सञ्चार हो सकता है या हुआ करता है। ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होते जाते हैं और नूतन स्राव का समय निकट आता है, त्यों-त्यों गर्भस्थिति की सम्भावना कम होती है। इससे सिद्ध होता है कि रजोदर्शन के पश्चात् के १० या १५ दिन गर्भाधान-संस्कार के निमित्त अत्युत्तम हैं। सुश्रुत के लेखानुसार स्राव वाले तीन-चार दिनों में मैथुन करना एक कलुषित कार्य ही नहीं, वरन् अपने स्वास्थ्य को क्षीण और आयु को नष्ट करना है।

मासिक स्राव का यह भी एक प्रयोजन ज्ञात होता है कि उससे गर्भाशय की दीवारें इस योग्य हो जावें कि उनमें गर्भ चिपक सके।

पहले बताया जा चुका है कि मासिक स्राव प्रायः २८ दिनों के अन्तर से हुआ करता है। जो स्त्री जितने दिनों में रजस्वला होती है, उसके दशगुने दिनों में वह बच्चा जनती है; जैसे २८ दिनों के कालान्तर वाली स्त्री २८×१० =२८० दिनों में और २७ दिनों के कालान्तर वाली स्त्री २७×१०=२७० दिनों में बच्चा जनेगी। इसी तरह अन्य अवधिवाली स्त्रियों का प्रसव-काल भी निश्चित किया जा सकता है।

गर्भ-स्थिति-काल के निरूपण में अनेक मतभेद हैं। कोई कहते हैं कि २७० दिन से लेकर २९० दिनों के बीच में प्रसव हो जाता है और कोई कहते हैं कि २९५ दिन में

बच्चा पैदा होता है। अनेक प्रत्यत्नकर्ताओं का मत है कि २७९ दिन ही गर्भ का ठीक स्थिति-काल है। इसमें से अन्तिम मत ही बहुत अनुसन्धान से सर्वथा योग्य सिद्ध होता है।

ऋतुमती के नियम

ऋतुमती स्त्री को मासिक धर्म के बाद तीन दिनों तक कुशा की शय्या पर सोना या बैठना चाहिए; पत्तल, मिट्टी के बर्त्तन या हाथ में रख कर हविष्यान्न (जौ, चावल, खीर) खाना चाहिए तथा पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए; यहाँ तक कि इस अवधि में पति का दर्शन करना भी वर्जित है। चौथे दिन स्नान करने के पश्चात् शुद्ध वस्त्राभूषण धारण कर सर्वप्रथम अपने पति का दर्शन करना चाहिए, क्योंकि सन्तान के रङ्ग-रूप पर इसका गम्भीर प्रभाव पड़ता है। जैसे फ़ोटो के केमरा में लगे हुए नए प्लेट पर सामने की वस्तुओं का प्रतिविम्ब चित्रित हो जाता है उसी प्रकार सर्वप्रथम जिस पुरुष का दर्शन किया जाता है, उसकी छाया स्त्री के नेत्रों में प्रविष्ट होकर गर्भ को प्रभावित करती है और प्राय: सन्तान की आकृति और शायद प्रकृति भी उस पुरुष के समान बन जाती है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि आग्नेय (स्निग्ध और ऊष्ण) पदार्थों से शोणित और रज की पुष्टि होती है तथा सौम्य

(स्निग्ध और शीत) पदार्थों के द्वारा वीर्य की। अतः सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से प्रेरित होकर सहवास करने के पूर्व पुरुष को अपने शरीर में घी की मालिश तथा दूध-भात या प्रधानतः चावल का आहार और स्त्री के शरीर में तेल की मालिश तथा उड़द की बनी वस्तुओं का पथ्य ग्रहण करना चाहिए। दम्पति के लिए, पुत्र की कामना हो तो सम—४ थी, ६ ठीं, १० वीं या १२ वीं—रात्रियों में और कन्या की इच्छा हो तो विषम—५ वीं, ७ वीं ६ वीं या ११ वीं—रात्रियों में सहवास करने का विधान पाया जाता है। १३ वीं रात्रि के बाद सहवास करना युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि १३ दिनों के बाद गर्भाशय में गर्भ ग्रहण करने की शक्ति घटने लगती है। जिस दिन से गर्भस्थिति के लक्षण प्रकट हों, उसी दिन से गर्भिणी के नियमों का पालन आरम्भ करना चाहिए। इस तिथि के पश्चात् मैथुन करना एक भयङ्कर पाप है, क्योंकि इससे स्त्री की जननेन्द्रियों में गर्मी पैदा हो जाने के कारण गर्भपात की आशङ्का रहती है।

नष्टार्तव

मासिक स्राव के अभाव या बन्द हो जाने को नष्टार्तव (Amenorrpea) कहते हैं। इसके दो भेद हैं, बिलकुल बन्द हो जाना और किसी कारण-विशेष से बीच-बीच में बहुत दिनों के लिए रुक जाना। जैसा ऊपर लिखा जा

चुका है, गर्भधारण के समय, सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् कुछ काल तक और ५० वर्ष की आयु के बाद स्राव का बन्द हो जाना रोग नहीं समझा जाता। ऊपर जो मासिक स्राव का अभाव और अवरोध दो रोग बताए गए हैं, उनमें से स्रावाभाव रोग में अनेक कारणों से, जिनमें रक्त की न्यूनता, यक्ष्मा, कण्ठमाला आदि शारीरिक कारण प्रधान हैं, मासिक स्राव बन्द हो जाता है और यौवन के लक्षण भी प्रकट नहीं होते। मानसिक चिन्ता, शुद्ध जल-वायु का अभाव, आहार-विहार में अनियम या डिम्बनली की विकृति भी रजोरोध का कारण हो सकती है। रजो-रोध से उत्पन्न होने वाले रोगों में स्नायु-विकार (हिस्टी-रिया आदि) प्रधान है और ऐसे रोगों का यही एकमात्र मुख्य लक्षण है। इससे हिस्टीरिया, रक्तगुल्म, कम्पवायु आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की स्नायविक वेदनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। दूसरे प्रकार के रजोरोध में स्राव आरम्भ होकर बाद को किसी कारण से बन्द हो जाता है। इन कारणों में स्थान-परिवर्त्तन, समुद्र-यात्रा, जल में भीगना, ठण्ढ लगना आदि हो सकते हैं। इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के स्नायु-विकार, हृद्रोग, शिरभारी, स्नायु-पीड़ा, शरीर में स्थान-स्थान पर यन्त्रणा और योषापस्मार (हिस्टीरिया) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मासिक स्राव थोड़ा होकर रुक जाने को भी रजोरोध कहते हैं। इसका

कारण अधिकांश में योनि के भीतरी परदे का न होना ही होता है, परन्तु योनि में किसी प्रकार की पीड़ा होने या उसमें शस्त्र-क्रिया करने से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है।

आयुर्वेद में इस रोग के लिए 'नष्टार्तव' नाम का प्रयोग हुआ है तथा वायु और कफ का दूषित होना इसके कारण बताए गए हैं। पित्त-दोष से यह रोग उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि पित्त रक्त को नष्ट नहीं करता। इसके विरुद्ध पित्त की वृद्धि से आर्तव महीने में कई बार और अधिक मात्रा में बाहर निकलता है। क्षीणार्तव रोग में आर्तव की मात्रा क्षीण होकर बहुत ही कम हो जाने से मासिक स्राव नियत समय के पीछे और अल्प परिमाण में होता है। इसके अतिरिक्त स्राव के समय योनि में वेदना भी होती है। नीचे इन रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया जायगा :—

रोग की चिकित्सा करने के पहले उसके कारणों पर ध्यान देना आवश्यक है। यह रोग साधारणतः रक्त के अभाव या कोरोसिस आदि रोगों के कारण पैदा होता है। अतः इन रोगों की यदि समुचित चिकित्सा कर दी जाय तो रजोरोध स्वयं अच्छा हो जायगा। इस रोग में स्वास्थ्य के साधारण नियमों—शुद्ध वायु का सेवन, सूर्य-किरण-युक्त मकान में वास, हलका व्यायाम और पुष्टिकर तथा लघु भोजन आदि—का पालन करना ही मुख्य उपचार है।

(१) सुश्रुत कहता है कि मासिक-धर्म की अप्रवृत्ति में स्त्री को मछली, कुलत्थ का क्वाथ या दालकाञ्जी, तिलों का कल्क, शराब और उड़द खिलाना उपयोगी है। पीने के लिए गोमूत्र-तक्र (अर्धोदक), दही, सिरका आदि गरम और तेज़ चीज़ें देनी चाहिए।

(२) शुद्ध सुहागा, एलुवा, कसीस, सोंठ और हींग को समान मात्रा में लेकर घीग्वार के रस में घोटने के पश्चात् चने के बराबर गोलियाँ बना कर प्रति दिन दो गोली गरम जल के साथ खिलाई जा सकती हैं। इससे रज का बन्धन खुल कर मासिक-धर्म ख़ूब खुलासा होने लगेगा।

रजोदर्शन के समय शीत-स्थान या जलवायु से बचना चाहिए। क्षीणार्तव रोग में रजःप्रवर्तक औषधियाँ देना निषिद्ध है, क्योंकि इससे अन्य धातुओं में गर्मी पैदा होती है और रोगोत्पत्ति की आशङ्का रहती है। लिखा है कि क्षीणार्तव रोग में रक्तक्षय रोग की चिकित्सा करने से लाभ होता है। अतः रोगिणी को रक्त-वर्द्धक आहार—विशेषतः सेब, अङ्गूर, अनार, किसमिस, अमरूद, नाशपाती, सन्तरा आदि—और जाङ्गल-मांस-रस (ख़ुश्क देशों के जानवरों का मांस) के साथ साठी चावलों का भात खिलाना चाहिए। अवस्थानुसार दूध, घी और मधु के सेवन से भी लाभ होता है। अनुपान की उक्त व्यवस्था के

साथ साधारण व्यायाम, प्रातःकाल में शुद्ध वायु का सेवन और शरीर में तेल की मालिश करानी चाहिए।

आर्तवाधिक्य

मासिक स्राव के समय योनि में से अधिक रक्त निकलने का नाम 'रजोधिक्य' है। किन्तु ऋतुकाल के अतिरिक्त अन्य समय में योनि से अधिक रक्त का निकलना रक्तप्रदर कहलाता है। रजोधिक्य (Menorrpagia) उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं, जैसे तीक्ष्ण, उष्ण या अम्ल पदार्थों का अधिक सेवन, शरीर में उष्णता की वृद्धि या स्राव के समय खटाई, मिर्च, अचार आदि तेज़ और गरम चीज़ें खाना, पीड़ा तथा उपदंशजन्य जरायु की विकृति से भी अधिक रक्त-स्राव होता है। इसके अतिरिक्त जोशीले नाटकों को देखने और शृङ्गारिक उपन्यासों को पढ़ने से उत्पन्न होने वाली स्नायविक उत्तेजना इस रोग की उत्पत्ति और वृद्धि में सहायक होती है। मानसिक चिन्ता, अधिक मैथुन, गरम मसाले, तेज़, गरम, चिकने और पौष्टिक भोजन से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। इसलिए चिकित्सक को इसका कारण ढूँढ़ कर उसके प्रतिकार की चेष्टा करनी चाहिए। इस रोग में कभी-कभी इतना अधिक रक्त निकलता है कि स्त्री अत्यन्त दुर्बल हो जाती है और मृत्यु का भय रहता है, परन्तु किसी-किसी स्त्री को अधिक

रक्तस्राव से कोई विशेष कष्ट नहीं होता। इस रोग में रक्त का रङ्ग और घनत्व शुद्ध रक्त से बहुत ही भिन्न होता है। इसकी चिकित्सा के दो अङ्ग हैं—स्थानीय शुद्धि और औषधि-प्रयोग। स्थानीय शुद्धि के लिए योनि में पिचकारी देने के बाद निम्नलिखित औषधियों का सेवन करना चाहिए।

(१) अनन्तमूल, मुलेठी, लाल चन्दन, पद्माक, महुवे के फूल और ख़स को समान मात्रा में लेकर कूट ले। फिर १ तोला औषधि १ पाव पानी में ८ घण्टे तक भिगावे और छानने के बाद उसमें एक तोला शहद मिलाकर पी जाय।

(२) खरेंठी, चन्दन, पितपापड़ा, गिलोय, धनिया, ख़स और नेत्रबाला समान भाग में लेकर कूट ले। २ तोले औषधि का आध सेर पानी में क्वाथ बना लेवे और जब चार तोला शेष रहे तब छान कर पीले।

(३) योनिप्रक्षालन के लिए बड़, पीपल, पाकर और पारस-पीपल की छाल को कूट कर पानी में उबाल ले। ठण्ढा होने पर छान कर उसे योनि धोने के काम में लावे।

(४) काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा और महामेदा अथवा इनके अभाव में शतावर, असगन्ध, बिदारीकन्द और बाराही कन्द को समान मात्रा में लेकर दूध में पीस ले और उसकी लुगदी बना कर योनि में रक्खे।

एक ही स्थान पर भयङ्कर वेदना होती है। इस वेदना की यह विशेषता है कि यह जितनी शीघ्रता से उत्पन्न होती है, उतनी ही शीघ्रता से वन्द भी हो जाती है। परन्तु वन्द होकर जव कभी फिर उभरती है, तो रोगिणी को प्राणान्त-कारी क्लेश देती है। शरीर स्वस्थ होने पर स्राव-सम्वन्धी पीड़ा अल्प-काल में मिट जाती है।

(२) डिम्व-रजःकष्ट—यह अधिकतर अनियमित मैथुन, योनि के स्थान-भ्रष्ट होने या डिम्व-ग्रन्थियों की उत्तेजना या प्रदाह (शोथ) के कारण पैदा होता है। ऋतु-काल में डिम्व-ग्रन्थियों के स्थान में वेदना का होना इस रोग का प्रधान लक्षण है। यह वेदना प्रायः वाईं तरफ़ होती है और ऊपर स्तनों तक तथा नीचे घुटनों तक फैल जाती है। कहीं-कहीं कनकनाहट, खिंचाव और जलन होती है। इस रोग से गर्भ-स्राव या पात होता है और कभी-कभी स्त्रियाँ वन्ध्या भी हो जाती हैं।

(३) प्रदाह-जनित कष्ट—वस्ति-गह्वर की विकृति, प्रदाह या रक्ताधिक्य के कारण स्राव के समय अकस्मात् शीत लगने से या स्राव के एकाएक वन्द हो जाने पर उत्पन्न होता है। प्रदाहज कष्ट में दाह, तृष्णा आदि लक्षण पाए जाते हैं, परन्तु साधारणतया शिर भारी और शरीर-यन्त्रणा होकर ही शान्ति हो जाती है।

(४) वाधा-जनित रजःकष्ट—जरायु-ग्रीवा की नली

के छोटी पड़ जाने, जरायु-मुख के पेशी-समूह में आक्षेप (खिंचाव, झटके) होने, जरायु के झुक जाने, योनि के दब जाने या अर्बुद आदि के कारण उत्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त जरायु-ग्रीवा में अनेक प्रकार की तीक्ष्ण औषधियों के लगाने से भी यह रोग पैदा हो सकता है। इसमें वेदना रुक-रुक कर होती है और चिपकता हुआ जल के समान रक्त बाहर निकलता है। और कोई विशेष वेदना नहीं होती।

(५) झिल्ली-युक्त रजःकष्ट—ऋतुकाल में रक्त-स्राव के साथ झिल्ली के परत निकलते हैं तथा रक्त की मात्रा अधिक होती है। इस रोग के लक्षण गर्भ-स्राव के समान होते हैं और इसमें पीड़ा प्रसव-वेदना के समान एकदम ज़ोर से उठती और जल्दी कम हो जाती है। चिपचिपे रक्त के साथ छीछड़े परत जैसी चीज़ निकलती है और उसके बाद कष्ट कम हो जाता है।

इस रोग की चिकित्सा में रोगिणी को गरम जल का सेंक, गरम जल के टब में बैठाना और पीने के लिए गरम पानी देना लाभदायक है। पानी में भीगने, शीतल जल, शीतल स्थान तथा ठण्ढे भोजन से बचना चाहिए। स्राव बन्द करने के लिए निम्नलिखित योग काम में लाया जाता है:—

बाँस का पत्ता, पुराना गुड़, अजवायन, सोंठ, पीपल और काला ज़ीरा समान भाग में २ तोला लेकर आध

सेर पानी में पकावे। एक छटाँक शेष रहने पर छान ले और गुड़ मिला कर पिलाये। इस प्रकार दिन में तीन बार करना चाहिए। स्राव के अच्छी तरह बन्द हो जाने पर स्त्री को लघु मात्रा में पथ्य आहार देना चाहिए तथा शुद्ध वायु और बनविहार आदि का सेवन कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त कारणों को दूर करने की उचित चेष्टा करनी चाहिए।

शुद्ध और दुष्टार्तव

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि वात, पित्त और कफ़ के दोष से रोगों की उत्पत्ति होती है। उससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्तव की विकृति के कारण भी उक्त दोष ही होंगे। भिन्न-भिन्न दोषों के भिन्न-भिन्न लक्षण पाए जाते हैं और उन्हीं लक्षणों के अनुसार चिकित्सा की प्रणाली स्थिर की जाती है। अतः यहाँ इन लक्षणों का वर्णन पृथक्-पृथक् किया जायगा। मासिक-स्राव-प्रकरण में आर्तव के जिन दोषों की चर्चा की गई है, वे भी इन्हीं के अन्तर्गत समझे जाते हैं और उनकी चिकित्सा इन्हीं दोषों के अनुसार की जाती है।

(१) वात-दूषित आर्तव का रङ्ग काला लिए हुए लाल होता है और स्राव के समय अधिक वेदना होती

है। इसके लिए वात-नाशक औषधियों का क्वाथ पान और स्नेह-वस्ति (गुदा में पिचकारी घृत-तैल-मिश्रित द्रवों के साथ) देकर अन्त में उत्तर-वस्ति (योनि में स्नेह पिचकारी) देनी चाहिए। वात-नाशक औषधियों के क्वाथ से योनि को धोना और उनकी लुगदी तथा उनमें पकाए हुए तेल का फ़ाया योनि में रखना चाहिए। वात-नाशक औषधियों के नाम ये हैंः—(१) अरणी, (२) पाषाण-भेद गोखरू, (३) कुशकास, (४) वन्दा, (५) नरसल, (६) पटेर, (७) नीला और पीला बाँसा, (८) अपामार्ग, (९) मोलसिरी का फूल, (१०) अखु आदि। अष्टवर्ग तथा जीवनीय गण की औषधियाँ भी वात-नाशक हैं।

(२) जिसके कारण जलन, दाह, तृष्णा, ज्वर और मुख-शोथ होवे, जिसका रङ्ग नीला-पीला हो तथा जिसमें मुर्दे की सी गन्द आती हो, उसे पित्त-दूषित आर्तव समझना चाहिए। इसमें विरेचन देकर अन्त में उत्तर-वस्ति देनी चाहिए। पित्त-नाशक औषधियों का क्वाथ पिलाना, उससे योनि को धोना और उन्हीं की लुगदी बना कर योनि में रखना चाहिए। पित्त-नाशक औषधियाँ—(१) अनन्तमूल, (२) मुलेठी, (३) चन्दन, (४) ख़स, (५) पद्माक, (६) खरैंटी, (७) महुवे का फूल, (८) जम्भीरी फल इत्यादि।

(३) कफ-दूषित आर्तव कच्चे आम या मछली की

सुश्रुत के वचनानुसार पथ्यपूर्वक रहने वाली निरुपद्रव स्त्री के रजोधिक्य रोग में रक्तपित्त रोग की चिकित्सा करनी चाहिए। रक्त-प्रदर की चिकित्सा का वर्णन आगे किया जायगा।

कष्ट-रजःप्रवृत्ति

मासिक स्राव के समय अत्यन्त कष्ट का अनुभव होना रजोवाधा या कष्ट-रजःप्रवृत्ति कहलाता है। कारण-भेद से इसके पाँच प्रकार माने गए हैं—(१) स्नायुदोष-जनित (२) डिम्ब-दोष-जनित (३) प्रदाह (शोथ)-जनित, (४) वाधा-जनित और (५) झिल्ली-युक्त। इस रोग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। किसी-किसी का कथन है कि स्राव के वन्द होने से योनि फैल जाती है और रजःप्रवृत्ति में कष्ट होता है। दूसरे लोग यह कहते हैं कि रक्त की कमी होने पर जब स्राव के समय स्नायुओं में दवाव पैदा होता है, तब उनमें वेदना का अनुभव होने लगता है। इनके मतानुसार इस रोग का एक-मात्र कारण स्थानिक विकृति है, जो शरीर के अस्वस्थ होने पर प्रकट होती है। तीसरे प्रकार के पण्डितों की धारणा है कि स्थानिक शोथ के कारण यह रोग उत्पन्न होता है और कुछ लोग यह भी समझते हैं कि इस रोग का कोई एक कारण नहीं है, वरन् यह दैहिक और मानसिक दोनों कारणों से उत्पन्न होता है।

अस्तु, इतना हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि शरीर की दुर्बलावस्था में यह व्याधि प्रकट होती है और इसमें जरायु तन कर भयानक पीड़ा देता है। किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि शरीर के दुर्बल होते ही यह बीमारी धर दबाती है। सच बात तो यह है कि शारीरिक दौर्बल्य मासिक-धर्म को अव्यवस्थित बना देता है और इसके बाद रोग का सूत्रपात होता है। प्रायः देखा गया है कि इस रोग का कोई एक कारण समझ कर उसके अनुसार चिकित्सा आरम्भ की गई और फल कुछ भी न हुआ। इसके बाद दूसरे और तीसरे कारणों को ढूँढ़ना पड़ा। इसलिए भिन्न-भिन्न लक्षणों का वर्णन करने में निम्नलिखित कारण-विभाग उचित और आवश्यक समझा गया:—

(१) स्नायविक-बाधा-जनित कष्टरज—इसमें रोगिणी की स्नायुओं में हर समय वेदना वर्तमान रहती है। यह रोग प्रधानतः उन स्त्रियों को होता है, जो एकान्त में काम-सम्बन्धी विचारों में लीन रहती हैं या जिन्हें वैधव्य के कारण घर में सब विलास-सामग्रियों के विद्यमान होते हुए भी अपने यौवन की उठती हुई उमङ्गों और मधुर लालसाओं का दमन करना तथा स्पर्धा की आँखों से अन्य सधवा स्त्रियों का बनाव-शृङ्गार देख कर अपने भाग्य को कोसना पड़ता है। इसमें स्राव के पूर्व या पश्चात्

सी गन्धवाला, कुछ सफ़ेदी लिए हुए लाल रङ्ग का होता है। इससे योनि में खुजली और पीड़ा तथा शरीर में भारीपन और आलस्य होता है। चिकित्सा करते समय पहले वमन कराकर उत्तरवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। फिर कफ-नाशक औषधियों का क्वाथ पीने और धोने के लिए तथा कल्क और फ़ाया योनि में रखने के लिए काम में लाना चाहिए। कफ-नाशक औषधियाँ—(१) चित्रक, (२) गिलोय, (३) पाठा, (४) सतोने की छाल, (५) नीम, (६) वाँसा, (७) करञ्ज, (८) कुटकी, (६) कुड़ा की छाल, (१०) अरणी, (११) वरणा, (१२) सहिजना, (१३) छोटी-बड़ी कटैली आदि।

(४) रक्त-दूषित आर्तव की चिकित्सा पित्त-दूषित आर्तव के अनुसार की जाती है, क्योंकि पित्त की विकृति से ही रक्त में दोष उत्पन्न होता है और यही कारण है कि इस रोग में गरम, तेज़, रूक्ष और विदाही अन्न-पान का निषेध किया गया है। इसे कुणय-गन्धि आर्तव भी कहते हैं।

इन चार रोगों के अतिरिक्त वात-कफ दोष से ग्रन्थि, पित्त-कफ से पूतिपूय (दुर्गन्ध-युक्त पीव के समान), पित्त-वात से क्षीण और सन्निपात से मूत्रपुरीष-गन्धि आर्तव की उत्पत्ति होती है। कुणय-गन्धि, पूतिपूय, क्षीण और मूत्रपुरीष-गन्धि आर्तव असाध्य माने गए हैं, क्योंकि

अस्तु, इतना हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि शरीर की दुर्बलावस्था में यह व्याधि प्रकट होती है और इसमें जरायु तन कर भयानक पीड़ा देता है। किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि शरीर के दुर्बल होते ही यह बीमारी धर दबाती है। सच बात तो यह है कि शारीरिक दौर्बल्य मासिक-धर्म को अव्यवस्थित बना देता है और इसके बाद रोग का सूत्रपात होता है। प्रायः देखा गया है कि इस रोग का कोई एक कारण समझ कर उसके अनुसार चिकित्सा आरम्भ की गई और फल कुछ भी न हुआ। इसके बाद दूसरे और तीसरे कारणों को ढूँढ़ना पड़ा। इसलिए भिन्न-भिन्न लक्षणों का वर्णन करने में निम्नलिखित कारण-विभाग उचित और आवश्यक समझा गया:—

(१) स्नायविक-बाधा-जनित कष्टरज—इसमें रोगिणी की स्नायुओं में हर समय वेदना वर्तमान रहती है। यह रोग प्रधानतः उन स्त्रियों को होता है, जो एकान्त में काम-सम्बन्धी विचारों में लीन रहती हैं या जिन्हें वैधव्य के कारण घर में सब विलास-सामग्रियों के विद्यमान होते हुए भी अपने यौवन की उठती हुई उमङ्गों और मधुर लालसाओं का दमन करना तथा स्पर्धा की आँखों से अन्य सधवा स्त्रियों का बनाव-शृङ्गार देख कर अपने भाग्य को कोसना पड़ता है। इसमें स्राव के पूर्व या पश्चात्

सो गन्धवाला, कुछ सफ़ेदी लिए हुए लाल रङ्ग का होता है। इससे योनि में खुजली और पीड़ा तथा शरीर में भारीपन और आलस्य होता है। चिकित्सा करते समय पहले वमन कराकर उत्तरवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। फिर कफ-नाशक औषधियों का क्वाथ पीने और धोने के लिए तथा कल्क और फ़ाया योनि में रखने के लिए काम में लाना चाहिए। कफ-नाशक औषधियाँ—(१) चित्रक, (२) गिलोय, (३) पाठा, (४) सतोने की छाल, (५) नीम, (६) बाँसा, (७) करञ्ज, (८) कुटकी, (९) कुड़ा की छाल, (१०) अरणी, (११) वरणा, (१२) सहिजना, (१३) छोटी-बड़ी कटैली आदि।

(४) रक्त-दूषित आर्तव की चिकित्सा पित्त-दूषित आर्तव के अनुसार की जाती है, क्योंकि पित्त की विकृति से ही रक्त में दोष उत्पन्न होता है और यही कारण है कि इस रोग में गरम, तेज़, रूक्ष और विदाही अन्न-पान का निषेध किया गया है। इसे कुणय-गन्धि आर्तव भी कहते हैं।

इन चार रोगों के अतिरिक्त वात-कफ दोष से ग्रन्थि, पित्त-कफ से पूतिपूय (दुर्गन्ध-युक्त पीव के समान), पित्त-वात से क्षीण और सन्निपात से मूत्रपुरीष-गन्धि आर्तव की उत्पत्ति होती है। कुणय-गन्धि, पूतिपूय, क्षीण और मूत्रपुरीष-गन्धि आर्तव असाध्य माने गए हैं, क्योंकि

इनकी चिकित्सा प्रायः असफल होती है। तथापि सुश्रुत ने इन असाध्य रोगों में से प्रथम चार की चिकित्सा का उल्लेख किया है। ग्रन्थि-भूत आर्तव में स्नेह-पान के पश्चात् वात-नाशक औषधियों की वस्ति और उत्तर-वस्ति देकर अन्त में सोंठ, मिर्च, पाढ़, पीपल और कुड़ा की छाल का क्वाथ पिलाया जाता है। पूतिपूय और कुणप-गन्धि आर्तव में स्नेह-पान के अतिरिक्त वमन और विरेचन करा कर उत्तर-वस्ति देनी चाहिए। लाल चन्दन के क्वाथ का पान और प्रक्षालन करा कर उसी से सिद्ध किए हुए घृत का फ़ाया योनि में रखना चाहिए। मूत्रपुरीष-गन्धि आर्तव सब प्रकार असाध्य होने के कारण उसकी चिकित्सा का वर्णन करना व्यर्थ समझा गया। आर्तव-दोषों की चिकित्सा करने के पश्चात् स्त्री को रसायन और वाजीकर योगों का सेवन तथा साठी के चावलों का भात, उष्ण और स्निग्ध गुणवाले भोजन, मांस-रस और मद्य व्यवहार में लाना चाहिए।

जब तक शुद्ध आर्तव के लक्षण दिखाई नहीं दें, तब तक गर्भाधान-संस्कार के लिए प्रयत्न करना अनुचित है; क्योंकि ऐसी अवस्था में पहले तो गर्भ का टिकना ही असम्भव है, यदि टिक भी जाय तो अकाल में ही पात या स्राव होकर नष्ट हो जाता है। नीचे शुद्ध आर्तव के लक्षणों का वर्णन किया जायगा।

शशासृक् प्रतिमंयुत्तु यद्वालाक्षा रसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥

अर्थात्—जो आर्तव ख़रगोश के रक्त के समान या लाख के रस के समान लाल हो, जिससे स्वच्छ कपड़े पर धब्बा न पड़े या पड़ने से धुल कर साफ़ हो जाय और जिसमें किसी प्रकार की दुर्गन्ध न आती हो, उसे शुद्ध आर्तव समझना चाहिए। जिस स्त्री के ठीक समय पर, उचित मात्रा में और बिना कष्ट के उपरोक्त लक्षणों-वाला शुद्ध आर्तव निकले उसे रजःस्वला कहते हैं। ऐसी स्त्री को उत्तम सन्तति के लिए ऋतु-काल-सम्बन्धी नियमों का यथोचित पालन करना चाहिए।

हिस्टीरिया

रजोदोष से उत्पन्न होनेवाले रोगों में हिस्टीरिया सर्व-प्रधान है। कोई-कोई उसे योषापस्मार भी कहते हैं। परन्तु यह नाम उसके लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ता; क्योंकि वास्तव में यह युवतियों को होनेवाला मृगी-रोग है। आयुर्वेद में इस प्रकार के किसी विशेष रोग का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथापि आयुर्वेदोक्त अपतन्त्रक रोग से इसके लक्षण मिलते-जुलते हैं। लिखा है, "तन्द्रा-रोगाश्च वातजाः" अर्थात् सब प्रकार के तन्द्रारोग—स्तम्भ, शूल, आक्षेप, कम्प, मूर्च्छा आदि—वात-दोष से

इनकी चिकित्सा प्रायः असफल होती है। तथापि सुश्रुत ने इन असाध्य रोगों में से प्रथम चार की चिकित्सा का उल्लेख किया है। ग्रन्थि-भूत आर्तव में स्नेह-पान के पश्चात् वात-नाशक औषधियों की वस्ति और उत्तर-वस्ति देकर अन्त में सोंठ, मिर्च, पाढ़, पीपल और कुड़ा की छाल का क्वाथ पिलाया जाता है। पूतिपूय और कुणप-गन्धि आर्तव में स्नेह-पान के अतिरिक्त वमन और विरेचन करा कर उत्तर-वस्ति देनी चाहिए। लाल चन्दन के क्वाथ का पान और प्रक्षालन करा कर उसी से सिद्ध किए हुए घृत का फ़ाया योनि में रखना चाहिए। मूत्रपुरीष-गन्धि आर्तव सब प्रकार असाध्य होने के कारण उसकी चिकित्सा का वर्णन करना व्यर्थ समझा गया। आर्तव-दोषों की चिकित्सा करने के पश्चात् स्त्री को रसायन और वाजीकर योगों का सेवन तथा साठी के चावलों का भात, उष्ण और स्निग्ध गुणवाले भोजन, मांस-रस और मद्य व्यवहार में लाना चाहिए।

जब तक शुद्ध आर्तव के लक्षण दिखाई नहीं दें, तब तक गर्भाधान-संस्कार के लिए प्रयत्न करना अनुचित है; क्योंकि ऐसी अवस्था में पहले तो गर्भ का टिकना ही असम्भव है, यदि टिक भी जाय तो अकाल में ही पात या स्राव होकर नष्ट हो जाता है। नीचे शुद्ध आर्तव के लक्षणों का वर्णन किया जायगा।

शशासृक् प्रतिमंयुत्तु यद्वालाक्षा रसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥

अर्थात्—जो आर्तव ख़रगोश के रक्त के समान या लाख के रस के समान लाल हो, जिससे स्वच्छ कपड़े पर धब्बा न पड़े या पड़ने से धुल कर साफ़ हो जाय और जिसमें किसी प्रकार की दुर्गन्ध न आती हो, उसे शुद्ध आर्तव समझना चाहिए। जिस स्त्री के ठीक समय पर, उचित मात्रा में और बिना कष्ट के उपरोक्त लक्षणों-वाला शुद्ध आर्तव निकले उसे रजःस्वला कहते हैं। ऐसी स्त्री को उत्तम सन्तति के लिए ऋतु-काल-सम्बन्धी नियमों का यथोचित पालन करना चाहिए।

हिस्टीरिया

रजोदोष से उत्पन्न होनेवाले रोगों में हिस्टीरिया सर्व-प्रधान है। कोई-कोई उसे योषापस्मार भी कहते हैं। परन्तु यह नाम उसके लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ता; क्योंकि वास्तव में यह युवतियों को होनेवाला मृगी-रोग है। आयुर्वेद में इस प्रकार के किसी विशेष रोग का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथापि आयुर्वेदोक्त अपतन्त्रक रोग से इसके लक्षण मिलते-जुलते हैं। लिखा है, "तन्द्रा-रोगाश्च वातजाः" अर्थात् सब प्रकार के तन्द्रारोग—स्तम्भ, शूल, आक्षेप, कम्प, मूर्च्छा आदि—वात-दोष से

उत्पन्न होते हैं। इसमें भी बेहोशी के साथ आक्षेप, कम्प, स्तम्भ, श्वासावरोध आदि लक्षण पाए जाते हैं। अतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि रजोदोष से वायु के कुपित होने पर इस रोग की उत्पत्ति होती है। यद्यपि इसका विशेष सम्बन्ध स्त्री-जननेन्द्रियों के साथ होता है, तथापि वायु को कुपित करनेवाले अन्य कारण भी इसमें सहायक हो सकते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि डिम्बाशय की उत्तेजना ही इसका एकमात्र मुख्य कारण है, दूसरे यह अनुमान लगाते हैं कि डिम्बाशय के असाधारण रूप से बढ़ जाने पर इस रोग की उत्पत्ति होती है। शारीरिक कारणों के अतिरिक्त मन के साथ भी इसका गहरा सम्बन्ध है। स्वामी का अस्नेह या निष्ठुरता, पुरुष की कमज़ोरी, मैथुन में स्त्री की तृप्ति के बहुत पहले ही स्खलित हो जाना, भय, शोक, चिन्ता, वैधव्य आदि इसके कारण हो सकते हैं।

इस रोग का रोगी कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी दीर्घ निःश्वास लेता है। कभी-कभी श्वासावरोध भी हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि गले में कोई चीज़ अटक गई है। इसे गलावरोध हिस्टीरिया या अपतन्त्रक कहते हैं। इसके सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह कहना है कि पक्वाशय में अफरा होकर गलनाड़ी द्वारा वमन होने से गलावरोध उत्पन्न होता है। दूसरे लोग यह समझते हैं कि श्वास-नलिका में आक्षेप होने

के कारण इस रोग की उत्पत्ति होती है। रोगिणी पूर्णतया ज्ञानशून्य नहीं हो जाती। उसको अपने चारों ओर किसी प्रकार की भयानक चीज़ें दिखाई देती हैं, जिन्हें वह बता नहीं सकती। आँखें ऊपर को चढ़ जाती हैं, शरीर में कम्प, मूर्च्छा, स्वर-भङ्ग और शिर में पीड़ा होती है, स्त्री ज़मीन में गिर पड़ती है और हाथ-पैरों की मांस-पेशियों में ज़ोरों का आक्षेप होने लगता है। इस भयप्रद अवस्था को देख कर बहुत से अज्ञानी मनुष्य इसे भूत-प्रेतों का व्यापार समझते हैं और इसकी शान्ति के लिए ऐसी मूर्खतापूर्ण तदबीरें करते हैं, जिनसे लाभ के बदले हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है। हाथ-पैरों की ऐंठन शान्त होने पर रोगी को होश आता है। यह दशा सप्ताह में एक बार हुआ करती है। इसमें कभी-कभी अपस्मार का भ्रम होता है। अतः नीचे इन दोनों रोगों का भेद बताया जायगा।

हिस्टीरिया का रोगी धीरे-धीरे अचेत होता है, उसका मुख-मण्डल कुछ लाल और अविकृत रहता है, मुख से फेन नहीं निकलता, आँखें बन्द तथा चक्षु-गोलक स्थिर रहते हैं। इसके सिवाय रोगी दीर्घ निःश्वास लेता है और कभी-कभी हँसता वा रोता है। गला भारी और बन्द मालूम पड़ता है। शरीर में निस्तेजस्विता और बाईं ओर लघु आक्षेप होते हैं। रोग का वेग बहुत देर तक

रहता है और रात में शान्त होता है। जरायु में पीड़ा और मासिक-स्राव में विकृति होती है। परन्तु अपस्मार में आकस्मिक अज्ञानता, मुख-मण्डल नील और विकृत, मुख से झागदार लार का प्रवाह, दाँतों में किड़किड़ाहट और कभी-कभी जीभ का कट जाना आदि लक्षण पाए जाते हैं। रुग्णावस्था में रोगी जो कुछ भी देखता है, होश आने पर वह सब भूल जाता है। शरीर में तीव्र आक्षेप होता है, रोग का आक्रमण प्रायः रात में होता है और शीघ्र शान्त हो जाता है। जरायु और मासिक-धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन लक्षणों को अच्छी तरह देख लेने के बाद चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए।

हिस्टीरिया के लक्षणों के पाँच मोटे विभाग किए जा सकते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमशः मन, चेतना, पेशी, रक्त और शरीर के भीतरी यन्त्रों से होता है।

(१) मन में अनेक प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उठते हैं, किन्तु विवेक-बुद्धि, काम नहीं देती। साधारण ज्ञान और विवेचना की शक्ति भी जाती रहती है। रोगी के मानसिक भाव असङ्गत तथा हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। करुण-रस की कहानी सुन कर हँसने या रोने लगता है और दूसरों के दुख में समवेदना प्रकट करता तथा घबराता है।

(२) शरीर के अनेक स्थानों जाँघ, स्तन, शिर आदि

में दवाव और वेदना का अनुभव होता है। यह वेदना स्नायु-शूल के समान अधिकतर शरीर के बाएँ तरफ़ तथा स्तन और शिर में होती है, और ऐसा मालूम पड़ता है कि पेशियों में कोई सुई चुभा रहा है। शारीरिक देशों में उत्पन्न वेदना में इतना भेद रहता है कि हिस्टीरिया का दर्द प्रायः एक तरफ़, विशेषकर बाएँ तरफ़ ही रहता है और अस्थिर होता है तथा वेदना की उत्पत्ति और कमी का कोई निर्धारित समय नहीं रहता है। शारीरिक यन्त्र सम्बन्धी वेदना में पूर्वोक्त बातें नहीं होती हैं।

(३) पेशी-सञ्चालन सम्बन्धी लक्षणों में पक्षाघात और शीघ्र-शीघ्र आक्षेप की प्रधानता होती है। श्वास-यन्त्र की पेशियों में आक्षेप होता है। हास्य, रोदन, जृम्भण, हिक्का, हाँपनी आदि लक्षण पाए जाते हैं, तथा किसी-किसी अङ्ग में ऐसे जोरों का आक्षेप होता है जो क्लोरोफ़ॉर्म सुँघाने से भी शान्त नहीं होता। इस रोग में मूत्र-वेग रोकने की शक्ति नष्ट हो जाती है, परन्तु कभी-कभी रोग का वेग शान्त होने पर रोगी को दस्त आने लगते हैं।

(४) रक्त-सञ्चालन सम्बन्धी लक्षणों में कहीं नाड़ी मिलती है और कहीं नहीं मिलती। हृदय का कार्य बन्द होने पर मृत्यु के लक्षण दिखाई देते हैं। रोगी वाणी से रहित होकर अज्ञानयुक्त (बेहोश) पड़ा रहता है। जब रोग (वेग) शान्त होने लगता है, तब रोगी का हृदय

लम्बा श्वास लेता हुआ दिखाई देता है। ताप-मान बढ़ कर १०१ से १०८ या ११० तक पहुँच जाता है।

(५) आभ्यन्तरिक सम्बन्धी लक्षणों में प्रायः वमन होता है, आँतों में वायु की रुकावट होने से अफरा हो जाता है। कहीं-कहीं रोगी का मूत्र भी बन्द हो जाता है।

रजोदोष के अनुसार इसकी चिकित्सा कर सकते हैं। मन को शान्त और व्यवस्थित रखने का सब से अधिक प्रयत्न करना चाहिए। उत्तेजना उत्पन्न करने वाले नाटक और शृङ्गार-रस के उपन्यास कभी नहीं पढ़ना चाहिए। रोग का वेग आरम्भ होते ही शरीर के कपड़ों को ढीला कर देना चाहिए। शिर, मस्तक और मुख में ज़ोर से ठण्ढे जल का छींटा देना चाहिए। हींग और कपूर के साथ आक्षेप-निवारक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। बलकारक औषधियों का सेवन तथा जल-वायु के परिवर्तन से रोग का वेग यदि पूर्णतया शान्त नहीं होता तो कम अवश्य पड़ जाता है। शारीरिक चिकित्सा में सर्व-प्रथम जरायु-विकार होने पर उसकी शान्ति करनी चाहिए। मांस-पेशियों के एकदम सिकुड़ जाने पर बिजली का प्रयोग करना चाहिए। बेहोशी को दूर करने के लिए उसी समय एमोनिया या कोई कायफल आदि का तेज नस्य सुँघाना चाहिए। सदैव कोष्ठ को शुद्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिए। गरम, तेज़ व खट्टी चीज़ें न खानी चाहिए। गरम

मकान तथा गरम देश में नहीं रहना चाहिए। स्नायुओं में उत्तेजना पैदा करने वाली चीज़ें नहीं खानी चाहिए। रोगी की पिंडलियों में राई का पलास्टर बाँधना चाहिए। रोगी के शिर में वर्फ़ और योनि में उसी के जल की पिचकारी देनी चाहिए। यदि किसी विधवा स्त्री के ऊपर वहुत ज़ोर से रोग का आक्रमण होता हो तो उसे केले की जड़ का पानी २ तोला और कपूर ४ रत्ती मिला कर आठ-दस दिन तक पिलाना चाहिए। रक्तालपता के कारण रोग उत्पन्न हुआ हो तो अङ्गूर सेब आदि फलों का सेवन और रक्त-वृद्धि के कारण हुआ हो तो कूष्माण्ड-अवलेह या अडूसे के स्वरस में मिश्री मिला कर पीने से लाभ होता है। रोग का कारण दुर्वलता हो तो दूध के साथ च्यवनप्राश रसायन और शतावरी घी का सेवन करना चाहिए। पाचन-शक्ति क्षीण हो गई हो तो दस्तावर, पौष्टिक और शीत आहार तथा दीपन और पाचन ओषधियों का सेवन करना चाहिए। यदि कुमारी कन्या के यह रोग हो तो उसका विवाह और विवाहिता के हों तो पति-संयोग करा देना चाहिए। यदि रोगिणी को ऋतु-विकार हो तो पहले उसकी चिकित्सा करनी चाहिए, वाद को अन्य रोगों की।

(१) एक तोला जटामासी (वालछड़) को सायङ्काल एक छटाँक जल में भिगो दे। प्रातःकाल उसे मसल-छानकर २ तोला मिश्री मिलाकर पीने से हिस्टीरिया शान्त हो जाता है।

(२) अपामार्ग की एक तोला गीली जड़ और तीन-चार काली मिर्च घोटकर प्रातःकाल सात दिन सेवन करने से इस रोग में आश्चर्यजनक लाभ होता है।

(३) सायङ्काल के समय भिगोई हुई जटामासी या त्रिफला के जल और मधु के साथ मिलाकर षड् गुणावलि जारित उत्तम मकरध्वज अथवा उत्तम रससिन्दूर आधी रत्ती और कस्तूरी डेढ़ रत्ती को मिला प्रातःकाल सेवन करने से हिस्टीरिया में बड़ा लाभ होता है।

(४) केशर और जावित्री चार-चार माशे, असगन्ध, जायफल और गाय के दूध से शोधी हुई छोटी पीपल एक-एक तोले, अदरक २ तोले और पका हुआ सफ़ेद बङ्गला पान १० नग—सब औषधियों को पीसकर एक पहर तक खरल में अच्छी तरह घोटे, फिर उड़द के बराबर गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा ले। एक-दो गोली सायं-प्रातःकाल पान के साथ खाने से दो महीने में हिस्टीरिया रोग समूल नष्ट हो जाता है। इन गोलियों से मृगी, उन्माद, सन्यास (सक्ता) आदि रोगों में भी लाभ होता है और मस्तिष्क बलवान् बनता है।

(५) मल्ल चन्द्रोदय, मल तेल, महालाक्षादि तेल, रसराज रस, कृष्णचतुर्मुख रस आदि औषधियाँ भी इस रोग में बहुत हितकारी हैं।

वन्ध्या

जिस प्रकार एक पौधे की उत्पत्ति के लिए चार उपकरणों की आवश्यकता होती है—(१) शुद्ध और परिपक्व बीज, जो सड़ा, गला, घुना न हो, (२) उर्वरा भूमि, घास-पात से रहित, जोती हुई, (३) ऋतुकाल, बीज लगने का समय और (४) जल, जिसके द्वारा बीज अङ्कुरित हो सके, उसी प्रकार गर्भोत्पत्ति के लिए भी चार अनुकूल उपकरणों की आवश्यकता है—(१) शुद्ध वीर्य या परिपक्व शुक्र, (२) ऋतुमती स्त्री का शुद्ध गर्भाशय तथा अन्य जननेन्द्रियाँ (३) ऋतुकाल और (४) शुद्ध आर्तव, रज और डिम्ब। ऋतुकाल में पुरुष-वीर्य के डिम्ब के साथ संयुक्त होकर गर्भाशय में प्रवेश करने से गर्भ की उत्पत्ति होती है। इनमें से किसी एक का भी अभाव होने पर गर्भोत्पत्ति असम्भव है। अतः शुद्ध और परिपक्व वीर्य के साथ शुद्ध आर्तव का संयोग होने पर भी सन्तान-रूप पौधे का न उगना अथवा जीवन की जिस अवस्था में लोक और शास्त्र के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति रहती है, उस अवस्था में पुरुष-स्त्री का समागम होते हुए भी सन्तान का उत्पन्न न होना वन्ध्यात्व की परिभाषा समझनी चाहिए। सन्तानोत्पत्ति के निर्धारित काल के पूर्व या पश्चात् सन्तान का उत्पन्न न होना वन्ध्यात्व का लक्षण नहीं है।

इस रोग का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध पुरुषों से भी है, क्योंकि पुरुष भी दो प्रकार से बाँझ हो सकते हैं—

(१) पुरुष के वीर्य में जीवित शुक्र-कीट का अभाव और (२) पुरुष के लिङ्गोत्थान की कमी या इन्द्रिय का असम्यक् प्रवेश उसे सन्तानोत्पत्ति के लिए अयोग्य बना देते हैं! ऐसे पुरुष का स्वस्थ और योग्य जननेन्द्रियों वाली स्त्री से ऋतु-संयोग होते हुए भी सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। अनेक बार देखा गया है कि किसी स्त्री के प्रथम पति के साथ वर्षों रहते हुए कोई बच्चा पैदा नहीं हुआ, किन्तु दूसरा पति स्वीकार करते ही वह कई बालकों की जननी हो गई। अतः स्त्री के बन्ध्यात्व की चिकित्सा करने के पहले पुरुष की परीक्षा कर लेनी चाहिए। यदि पुरुष के स्वास्थ्य-दोष से स्त्री वन्ध्या हो गई हो तो स्त्री को छोड़ कर पुरुष की चिकित्सा करनी चाहिए। पुरुष के शुक्र और इन्द्रियों के शुद्ध हो जाने से ही वन्ध्यात्व रोग नष्ट होजायगा और दम्पति के सन्तान होने लगेगी।

स्त्रियों में वन्ध्यात्व दोष आने के कई कारण हैं—(१) डिम्ब की अनुत्पत्ति, (२) स्त्री-जननेन्द्रियों का अभाव या उनके मार्गों का प्रतिरोध, (३) मैथुन के समय विपरीत आचरण, (४) वीर्य तथा डिम्ब के संयोग में प्रतिरोध, (५) गर्भाशय का अर्बुद या ग्रन्थि, (६) डिम्ब-प्रणाली तथा डिम्बाशय में पीड़ा इत्यादि।

(१) वन्ध्यात्व की जिस अवस्था में डिम्ब की उत्पत्ति नहीं होती, उसमें सन्तान का उत्पन्न होना बहुत ही कठिन है। ऐसी दशा में यदि कुछ लाभ हो सकता है तो केवल पौष्टिक भोजन, व्यायाम तथा उदर-शुद्धि के द्वारा स्वास्थ्य को सुधार कर। इससे सम्भव है कि डिम्ब उत्पन्न होकर स्त्री को गर्भ-धारण के योग्य बना दे।

(२) स्त्री-जननेन्द्रियों के अभाव या योनि-मार्ग में रुकावट होने पर भी गर्भस्थिति की बहुत कम आशा रहती है। यदि स्त्री-जननेन्द्रियाँ सब की सब विद्यमान हों और शरीर भी स्वस्थ हो, केवल एक झिल्ली से योनि या भग का मार्ग रुका हो तो शस्त्र-चिकित्सा द्वारा झिल्ली को काट कर रुकावट दूर कर देने से गर्भस्थिति हो सकती है।

(३) बहुत सी स्त्रियाँ संयोग के समय जरायु के मुख में रुई की गद्दी या स्पञ्ज रख लिया करती हैं और मैथुन के अन्त में इसे निकाल कर फेंक देती हैं। कुछ स्त्रियाँ मैथुन के अन्त में योनि को अति तीक्ष्ण औषधियों के जल से भीतर से अच्छी तरह धो देती हैं। इस प्रकार के विपरीत आचरण करने से गर्भाधान संस्कार पूरा नहीं होता। फिर सन्तानोत्पत्ति कैसे सम्भव है।

(४) जरायु में अर्बुद या ग्रन्थि और डिम्बाशय में पीड़ा होने से वीर्य तथा डिम्ब के संयोग में बाधा उत्पन्न

होती है। इन बाधक कारणों को दूर कर देने से गर्भोत्पत्ति होने लगती है।

सहज वन्ध्यात्व

जन्म से ही वन्ध्या होना सहज वन्ध्यात्व कहलाता है। बहुत से पुरुष बिना लिङ्ग के पैदा होते हैं और अवस्था अधिक होने पर उन्हें मूँछ-दाढ़ी भी नहीं आती। इसी प्रकार बहुत-सी स्त्रियाँ जन्म से स्तन, भग और गर्भाशय आदि से रहित होती हैं। युवावस्था में उनके स्तनों का विकाश नहीं होता। कुछ स्त्रियों को केवल भग या गर्भाशय नहीं होता है। इस प्रकार की स्त्रियाँ और पुरुष सहज-वन्ध्या की श्रेणी में गिने जाते हैं।

जिन स्त्रियों का भग अधूरा होता है या एक प्रकार की झिल्ली से ढका हुआ रहता है, उनमें मासिकधर्म को छोड़ कर युवती के अन्य सब लक्षण प्रकट होते हैं। झिल्ली से ढकी हुई भगनाली का मुख पतली आलपीन के समान होता है या झिल्ली से ढके रहने के कारण भग के दोनों किनारे परस्पर जुड़ जाते हैं।

इन रोगों में बाल्यावस्था में कोई पीड़ा नहीं होती, जिससे उसी समय उनका प्रतिकार किया जा सके। यौवन के विकाश के साथ इन रोगों का भी उपद्रव उठ खड़ा होता है। ऋतुकाल में कटिप्रदेश और स्तनों में पीड़ा तथा हाथ-पैरों और शरीर में जलन आदि मासिक-स्राव

के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट हो जाते हैं और महीने में चार-पाँच दिनों तक रह कर स्वयं शान्त हो जाते हैं, किन्तु आर्तव नहीं निकलता। यदि भग के झिल्ली से ढके रहने के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है, तो झिल्ली रक्त से भर कर फूल जाती है और पेड़ू के मध्य में थैला के जैसा एक उभार दीखने लगता है। कभी-कभी लोग भूल से इसे गर्भाशय की थैली समझ लेते हैं। इसकी परीक्षा किसी योग्य वैद्य-डॉक्टर से करानी चाहिए।

भग-मुख के सङ्कुचित होने पर, भग के झिल्ली से ढके होने या भग की दीवारों के जुटे रहने के कारण यदि मासिक स्राव न होता हो तो ऋतुकाल के पूर्व किसी योग्य सर्जन द्वारा चीरा दिलाना चाहिए। ऋतुकाल में चीरा दिलाने से भीतर का रुका हुआ रक्त बड़े वेग से चीरे के मार्ग से बाहर निकलता है। इसके चीरे में लगकर सड़ने से पीव पैदा होकर पाइमियाँ व सेप्टीसिमियाँ नामक छूत रोगों के होने की सम्भावना रहती है। अतः ऋतुकाल के पूर्व ही चीरा देने का सबसे अच्छा समय रहता है।

आगन्तुक वन्ध्यात्व

आगन्तुक वन्ध्यात्व उसे कहते हैं, जो जन्म के बाद शारीरिक या स्थानिक कारणों से पैदा होता है। इसके काकुवन्ध्या और मृतवन्ध्या नामक दो भेद हैं। जिस

स्त्री के एक सन्तान उत्पन्न होकर मर गई हो और फिर गर्भाधान न होता हो, उसे काकु-वन्ध्या और जिसकी सन्तान उत्पन्न होकर मर जाया करती है, उसे मृत-वन्ध्या कहते हैं। आगन्तुक वन्ध्यात्व के शारीरिक तथा स्थानिक दो प्रकार के कारण होते हैं।

अति मैथुन, अमैथुन अथवा अधूरा मैथुन, अधिक निर्बलता, दीर्घ-रोग, शोक, चिन्ता आदि शारीरिक कारणों से न केवल स्त्री के सन्तान नहीं उत्पन्न होती, वरन् वह रजस्वला भी बहुत कम होती है।

गर्भाशय में वायु के भरने से आर्तव का नष्ट हो जाना, गर्भाशय में मांस-वृद्धि या मांसार्बुद का होना, गर्भाशय में किसी प्रकार के कृमि का पैदा होना, गर्भाशय का अत्यन्त शीतल होना, गर्भाशय का दग्ध हो जाना (जब अल्पवयस्का स्त्री के साथ पूर्णवयस्क पुरुष सहवास करता है तो उसकी गर्मी आर्तववाही स्रोतों को सुखा देती है, और आर्तव जल जाता है), गर्भाशय का उलट जाना, श्वेत-प्रदर या मासिक स्राव की विकृति से डिम्बों में परिवर्तन होना, गर्भाशय के मुख में सङ्कोच, काठिन्य वा क्षीणता का होना, भग और गुदा-मार्ग का मिल कर एक हो जाना आदि इस रोग के स्थानिक कारण कहे जाते हैं।

पुरुष-सम्भोग के अनन्तर यदि स्त्री के शरीर में कम्प

होता हो तो समझना चाहिए कि इसके गर्भाशय में वायु भर गया है। यदि कमर में पीड़ा हो तो मांस-वृद्धि, पेड़ू में पीड़ा हो तो कृमि-विकार, छाती में वेदना हो तो गर्भाशय की शीतलता, सिर और माथे में पीड़ा हो तो आर्तव-दग्ध और आँखों में पीड़ा हो तो गर्भाशय का परिवर्तन समझना चाहिए।

(१) काले तिलों के तेल में थोड़ी हीरा हींग को घोट कर उसका फ़ाया तीन दिनों तक योनि में रखने से गर्भाशय में भरी हुई वायु का दोष नष्ट हो जाता है।

(२) हाथी का नाख़ून और काला ज़ीरा दोनों को रेंडी के तेल में घोट कर इसका फ़ाया तीन दिनों तक योनि में रखने से मांस-वृद्धि का विकार दूर हो जाता है।

(३) हरड़, वहेरा और कायफ़ल तीनों को कपड़े धोने वाले साबुन के जल में बारीक पीस कर इसका फ़ाया तीन दिनों तक योनि में रखने से कृमि-विकार नष्ट हो जाता है।

(४) वच, काला ज़ीरा और असगन्ध प्रत्येक तीन-तीन माशा लेकर सुहागे के जल में पीस, उपरोक्त विधि से फ़ाया रखने से गर्भाशय की शीतलता नष्ट हो जाती है।

(५) लहसुन ४ रत्ती, समुद्रफल और सेंधानमक तीन-तीन माशे, तीनों को पानी में बारीक पीस कर तीन दिनों तक योनि में फ़ाया रखने से उष्ण तथा दग्धभाव

नष्ट हो जाता है। यदि फ़ाए से कुछ जलन और गर्मी मालूम पड़े तो १५–२० मिनट तक इसे रख कर उतार देना चाहिए और उस स्थान में गाय का घी या मक्खन लगा देना चाहिए। इससे जलन मिट जाती है।

(६) चार माशे केसर और कस्तूरी दोनों को पानी में घोट कर चने के बराबर गोलियाँ बना ले और एक बारीक वस्त्र में तीन-चार गोलियों की पोटली बाँध कर एक सप्ताह तक नित्य योनि में रखने से गर्भाशय सीधा हो जाता है।

रक्त-प्रदर

बिना ऋतु-काल के दुर्गन्धित मांस के धोवन के सदृश चिपचिपा तथा लसदार रक्त का थोड़ा-थोड़ा करके हर समय स्त्री की योनि से निकलते रहना रक्त-प्रदर कहलाता है। लिखा है—"तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत मनृतावपि। असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्त लक्षणात्।" अर्थात् यदि शुद्ध लक्षणों से रहित आर्तव अधिक मात्रा में हर समय योनि-द्वार से थोड़ा-थोड़ा करके बाहर निकलता रहे तो रक्त-प्रदर समझना चाहिए।

चरक के मतानुसार अत्यन्त नमकीन, खट्टे और गुरु पदार्थ, चरपरा, गरम और स्निग्ध मांस, ग्रामीण और जलीय जीवों का मांस, अधिक चर्बीदार मांस, खट्टा दही,

सिरका, दही का जल, काँजी, अचार, खटाई, तैल, गुड़ आदि गरम और तेज़ पदार्थों के अधिक सेवन अथवा धूप और अग्निताप के अधिक लगने से वायु कुपित होकर रक्त को पतला और अधिक बनाता है। यह रक्त गर्भाशय से सम्बन्ध रखने वाली आर्तववाही प्रणालियों में आकर आर्तव के साथ मिलता है और परिणाम-स्वरूप अधिक मात्रा में आर्तव बाहर निकलने लगता है। इसके सिवाय अधिक मैथुन, विरुद्ध भोजन, जननेन्द्रिय में चोट या दबाव और रक्त के जलीय अंश अथवा परिमाण के अधिक बढ़ जाने पर भी आर्तववाही स्रोतों का मुख ढीला होकर रक्त-प्रदर की उत्पत्ति कर देता है।

यह रोग वात, पित्त, कफ और सन्निपात के भेद से चार प्रकार का होता है—

(१) वातिक रक्त-प्रदर में लाल, ख़ुश्क, मांस के धोवन के समान, झागदार या ढाक के फूलों के जल के सदृश रक्त का स्राव होता है और कमर, कूलों, पीठ, चूतड़, पसुली, और हृदय में वेदना होती है।

(२) पैत्तिक प्रदर में उष्णता, जलन, तृष्णा, मोह, ज्वर, भ्रम और बेचैनी के साथ बार-बार अधिक परिमाण में पीला, नीला, काला और गरम रक्त निकलता है।

(३) कफ-प्रदर में मोचरस के सदृश लुआबदार, ठण्ढा, भारी, चिकना और पाण्डुवर्ण या माड़ के जैसा

रक्त निकलता है तथा मन्द-मन्द पीड़ा, उलटी, अरुचि, हृल्लास और श्वास में कष्ट होता है।

(४) सान्निपातिक प्रदर में भाँति-भाँति की पीड़ा के साथ हरताल, शहद, घी और चर्बी के समान रङ्ग-बिरङ्गा दुर्गन्धयुक्त स्राव होता है। अरुचि, अग्निमान्द्य, ज्वर, हृदय और पसुली में पीड़ा तथा शरीर में रक्त की कमी के कारण अधिक दुर्बलता होती है। यदि स्राव के कारण शरीर में दुर्बलता, तृष्णा, दाह, ज्वर, मूर्च्छा, भ्रम, शिर-पीड़ा, आँखों में अँधेरा, तन्द्रा, पाण्डुरोग, आक्षेप, कम्प और हृदय-पीड़ा आदि लक्षण पाए जायँ अथवा वात-रोग और सन्निपात से प्रदर का सम्बन्ध हो तो उसे असाध्य रोग समझना चाहिए। ज्वर का सम्बन्ध होने से प्रदर कष्टसाध्य हो जाता है। शरीर में बिना परिश्रम के थकावट, अन्यन्त दुर्बलता, मूर्च्छा, तन्द्रा, भ्रम, आँखों के सामने अँधेरा, प्रलाप, दाह, ज्वर तृष्णा, शरीर में पीलापन, अधिक रक्त-स्राव, और अनेक प्रकार के वायु-रोगों की उत्पत्ति—ये प्रदर के उपद्रव कहे जाते हैं।

चरक ने इसकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रदरोत्पादक कारणों से वायु कुपित होकर शारीरिक रक्त को पतला और परिमाण में अधिक बना देता है। यह बढ़ा हुआ रक्त गर्भाशय की रजोवाही शिराओं में

जाकर आर्तव से मिलता है और अधिक परिमाण में योनि-द्वार से होकर बहने लगता है। इससे रक्तपित्त के लक्षण प्रकट होते हैं। अतः इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था में पथ्य-पूर्वक चलने वाली तरुण स्त्री की चिकित्सा रक्तपित्त रोग (मुख, नाक, कान, गुदा और योनि से रक्त निकलना) के अनुसार की जाती है। विकृत स्राव को धीरे-धीरे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि सहसा रोकने या उपेक्षा करने से अनेक प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

(१) वातिक रक्त-प्रदर में यदि क़ब्ज़ हो तो हलका-सा विरेचन देने के बाद काला नमक १ माशा, ज़ीरा, मुलेठी, नीलोफर प्रत्येक दो-दो माशा, शहद ४ माशे और दही एक छटाँक, सबको मिलाकर दिन में दो-एक बार पिलाना चाहिए।

(२) कुश की जड़ को चावलों के जल के साथ पीस कर पीने से तीन दिन में पैत्तिक प्रदर नष्ट हो जाता है।

(३) रोहेडे की जड़ की छाल को जल में पीस कर चीनी या शहद के साथ पीने से कफ या पाण्डु-प्रदर अच्छा होता है।

(४) आँवले की गिरी को जल में पीस चीनी या शहद मिलाकर पीने से कफ-प्रदर शीघ्र अच्छा होता है।

(५) धाय के फूल और आँवलों के कल्क (लुगदी)

को शहद के साथ चाटने से पाण्डु-प्रदर बहुत शीघ्र शान्त होता है।

(६) काकजङ्घा अथवा कपास की जड़ के कल्क को चावलों के जल के साथ पीने से कफ-प्रदर शीघ्र आराम होता है।

(७) दार्व्यादि क्वाथ—दारुहल्दी, रसोत, अडूसे की छाल, मोथा, चिरायता, बेल की गिरी और शुद्ध भिलावा, इनको समभाग में लेकर कूट-पीस कर दो-दो तोले की मात्रा बना ले। एक मात्रा को आधा सेर पानी में पकाकर आध पाव या डेढ़ छटाँक जल शेष रहने पर छान ले। इसमें शहद मिलाकर पीने से अत्यन्त प्रबल और शूलयुक्त प्रदर भी (जिसमें काला, लाल, नीला और सफेद रक्त का स्राव होता है) थोड़े समय में नष्ट हो जाता है। इस क्वाथ को पीने के पूर्व मुख में घी चुपड़ लेना चाहिए, क्योंकि इसमें भिलावा पड़ता है। यदि रोगिणी को भिलावा माफ़िक़ न हो तो उसके स्थान में लाल चन्दन डाल देना चाहिए।

(८) अडूसे या गिलोय के स्वरस में चीनी या शहद मिलाकर पीने से पित्ताधिक प्रदर शान्त होता है।

(९) आँवले के रस में मिश्री मिलाकर सेवन करने से योनि-दाह शान्त होता है।

(१) उत्पलादिचूर्ण—लाल कमल, लाल कपास, कनेर,

गुड़हल, मौलसिरी की जड़, ज़ीरा और लाल चन्दन को समभाग में लेकर चूर्ण बना ले। इसको चावलों के जल में घोलकर प्रतिदिन दो बार पीने से रक्तप्रदर, रक्तमूत्र, योनि-शूल तथा कमर और पेट-दर्द अवश्य मिट जाते हैं।

(११) चन्दनादि चूर्ण—सफ़ेद चन्दन, जटामासी, लोध, कमलगट्टा, ख़स, नागकेशर, नेत्रबाला, पाढ़, नागरमोथा, इन्द्रजौ, सोंठ, अतीस, रसोत, मोचरस, मजीठ, नील कमल, बेल की गिरी, कुटज की छाल, धव के फूल, छोटी इलायची, आम की गुठली, अनारदाना, जामुन की गुठली और मिश्री, सबको दो-दो तोले लेकर बारीक चूर्ण बना ले। आवश्यकतानुसार दिन में दो-तीन बार खाने से कष्टसाध्य प्रदर, रक्तपित्त, रक्तातिसार और रक्तार्श आदि रोगों में बहुत लाभ होता है।

(१२) प्रदरारि अवलेह—मुलेठी, सफ़ेद चन्दन, लाख, लाल कमल, रसोत, ख़स, मोचरस, दारुहल्दी, मुनक़्क़ा, सतावर, बिदारीकन्द, नीलोफर, धव के फूल, गुड़हल की कली, बेर की गुठली की मींगी, बेल की गिरी, अशोक की छाल, आम और जामुन के कोमल लाल पत्ते, खरेंटी, अडूसे और कुश की जड़, चाँदी, लोहा और अभ्रक का भस्म, प्रत्येक एक-एक तोला, मिश्री १० छटाँक और शतावर-रस १ सेर। पहले पूर्वोक्त औषधियों का चूर्ण बनाकर रख ले, फिर सतावर के स्वरस में मिश्री की चाशनी बनाकर

नीचे उतार ले और उसमें सब औषधियों का चूर्ण मिला दे। शीतल होने पर ५ तोला शहद मिलाकर एक काँच के बर्त्तन में रख ले। ६ माशे से १ तोला तक प्रतिदिन तीन-चार बार चाटने से सब प्रकार के रक्त-प्रदर, रक्तार्श, रक्त-तिसार, मूत्रकृच्छ्र, योनिशूल, वस्तिशूल आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

(१३) सितोपलादि अवलेह—वंसलोचन १ तोला, सत-गिलोय १ तोला, इलायची छोटी १ तोला, पीपल छोटी ३ माशे, मिश्री ३ तोला और शहद या नीलोफर का शरबत ५ तोला। इनमें से सूखी औषधियों का चूर्ण बना कर शहद या शरबत में मिला कर रख ले। दोनों समय ६ माशे की मात्रा चाटने से प्रदर का अधिक स्राव बन्द हो जाता है।

(१४) पुष्करावलेह—रसोत, बंसलोचन, काकड़ा-सिङ्गी, चित्रक की छाल, मुलेठी, धनिया, तालीसपत्र, पप-ड़िया कत्था, ज़ीरा, काला ज़ीरा, निशोथ, खरेंटी की जड़, दन्ती की जड़, सोंठ, मिर्च और पीपल, प्रत्येक चार-चार तोला, शहद ३२ तोला, जावित्री, दालचीनी, मुनक्का, इलायची, तेजपात, नागकेशर और पिण्डखजूर प्रत्येक दो-दो तोले। इनमें से सूखी औषधियों का चूर्ण शहद में मिला कर एक काँच के बर्तन में रख ले। यह अवलेह सब प्रकार के प्रदरादि रोगों को नष्ट करता है। इसे ६ माशे की मात्रा में खाना चाहिए। अनुपान की व्यवस्था देश-कालानुसार।

(१५) आँवलक्यादि क्राथ—आँवला, हरड़, बहेरा और गुलाब के फूल प्रत्येक तीन-तीन तोले, सोंठ २ तोले, दारुहल्दी और लोध पाँच-पाँच तोले, सबको जौकुट कर १० मात्रा बना ले। प्रति दिन एक मात्रा को आधा सेर पानी में पका कर आध पाव शेष रहने पर उतार ले, उसमें २ तोले मिश्री मिला कर पीने से उपद्रव-सहित रक्त-प्रदर नष्ट हो जाता है।

(१६) गोक्षुरादि चूर्ण—गोखुरू, चिकनी सुपारी, माज़ूफल, सफ़ेद चन्दन, सोंठ, समुद्रशोष, रूमी मस्तगी, कमलगट्टा, इलायची, लोध और मोथा, प्रत्येक एक-एक तोला और मिश्री ११ तोले, सबका बारीक चूर्ण बना कर प्रतिदिन ६ माशे गोदुग्ध के साथ सेवन करने से प्रदर-रोग एक सप्ताह में समूल नष्ट हो जाता है।

(१७) गैरिकादि चूर्ण—लाल गेरू ६ माशे और सफ़ेद फिटकरी १० तोले, दोनों को पीस कर चूर्ण बना ले। डेढ़ माशे चूर्ण खाकर बकरी का आध पाव धारोष्ण दूध पीना चाहिए। इसको प्रदर की साधारण अवस्था में प्रतिदिन दो बार और उपद्रव-युक्त तथा कष्टसाध्य अवस्था में प्रतिदिन तीन-चार बार सेवन करने से बहुत शीघ्र लाभ होता है।

(१८) रसाञ्जनादि चूर्ण—शुद्ध रसोंत २ तोले, धाय के फूल, मोचरस और माजूफल प्रत्येक चार-चार तोले,

चौलाई की जड़ ३ तोले और चिकनी सुपारी २० तोले, इनका बारीक चूर्ण बना कर चावल के जल और शहद के साथ प्रतिदिन दोनों समय ६ माशे सेवन करने से रक्त-प्रदर निर्मूल हो जाता है। भोजन लघु तथा पुष्टि-कारक—गेहूँ की रोटी, पुराने शालि या साठी चावलों का भात, मूँग की दाल, घी, दूध आदि।

(१६) अशोकारिष्ट—१० सेर अशोक की छाल को जौकुट करके दो मन पानी में पकावे। २० सेर बाक़ी रहने पर उतार कर छान ले। काला ज़ीरा, सफेद ज़ीरा, हरड़, बहेरा, आँवला, दारु हलदी, सोंठ, नागर मोथा, सफ़ेद चन्दन, कमल के फूल, अडूसे की जड़ और आम की गुठली प्रत्येक चार-चार तोले, धाय के फूल और पुराना गुड़ एक-एक सेर, इनमें से चार तोले वाली औषधियों का चूर्ण कर उसमें गुड़ और धाय के फूलों को मिला दे। एक दिन तक एक बड़े क़लई के बरतन में सब को घोल कर रक्खे, फिर घी से धूपित एक मटके में सब को भर कर उसका मुख बन्द कर दे और मटके को खुली हवा में रक्खे। एक महीने के बाद रस को छान कर बोतलों में भर ले। २ तोले अरिष्ट में एक तोला पानी मिला कर दिन में तीन-चार बार पीने से कष्टसाध्य और उपद्रवयुक्त श्वेत तथा रक्त-प्रदर नष्ट होकर रोगिणी को खुलासा भूख लगने लगती है।

(२०) शिलाजतु वटिका—शुद्ध पारा और गन्धक एक-एक तोला लेकर उनकी कजली कर ले और कमल के पत्तों के रस में तथा कुटज के क्वाथ में दो दिनों तक मर्दन करे। शुद्ध शिलाजीत आध सेर, शुद्ध खाँड आध सेर, पीपल, वंसलोचन, आँवला, काकड़ासिङ्गी, छोटी कटेली के फूल और जड़, दालचीनी, इलायची और तेजपात, प्रत्येक एक-एक छटाँक। सबका चूर्ण करे। एक छटाँक मधु के साथ सबको घोट कर एक-एक माशे की गोली बना ले। इन गोलियों को अनार के रस या मांस-रस के साथ सेवन करने से श्वेत-प्रदर, रक्तातिसार, ज्वर, कुष्ठ, प्लीहा आदि अनेकानेक रोग समूल नष्ट हो जाते हैं।

(२१) प्रदरान्तक रस—शुद्ध खपरिया, कौड़ी की भस्म, शुद्ध गन्धक और पारा, बङ्ग-भस्म और रजत-भस्म प्रत्येक एक-एक तोला और लोह-भस्म ६ तोला। पहले पारे और गन्धक की कजली करे, फिर सबका बारीक चूर्ण बना कर घीग्वार के रस में एक दिन घोट कर सुखा ले। एक या दो रत्ती की मात्रा प्रातःकाल शहद अथवा गाय के दूध के साथ सेवन करने से अनेक प्रकार के प्रदरादि रोग नष्ट हो जाते हैं।

(२२) प्रदर-नाशक वटी—शुद्ध पारा, गन्धक और नाग-भस्म प्रत्येक एक-एक तोला, शुद्ध रसोत ३ तोले,

लोध ६ तोले। पारे और गन्धक को कजली करके उसमें अन्य औषधियों का चूर्ण मिला दे। अडूसे के पत्तों के रस में सबको घोट कर चार-चार रत्ती की गोलियाँ बना ले। दोनों समय शहद के साथ एक-एक गोली खाने से रक्त-प्रदर शीघ्र निर्मूल हो जाता है।

(२३) सर्वाङ्ग सुन्दर रस—अभ्रक-भस्म दो छटाँक, शुद्ध सुहागा २ तोले, दालचीनी, इलायची, तेजपात, कपूर, ख़स, जावित्री, नेत्रवाला, मोथा, नागकेसर, लौंग, कूट और त्रिफला, प्रत्येक छै-छै माशे। इनके चूर्ण को जल में घोट कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। इनको शहद अथवा दूध के साथ सेवन करने से उपद्रव-युक्त रक्त-प्रदर, मन्दाग्नि, ग्रहणी आदि अनेक रोग नष्ट होते हैं।

(२४) प्रियंवादि तैल—मालकाग्नि, कमल के फूल, मुलेठी, हरड़, वहेरा, आँवला, रसोत, लाल और सफ़ेद चन्दन, मजीठ, सौंफ़, सज्जीखार, सेंधानमक, मोथा, मोचरस, सँभालू के पत्ते, मकोय, बेल की छाल, नेत्र-बाला, पीपल, गजपीपल, असगन्ध और सतावर प्रत्येक चार-चार तोला और बकरी का दूध, दही का पानी, दारु-हल्दी का काथ और तिल का तेल प्रत्येक चार-चार सेर। पहले औषधियों को दूध में पीस कर लुगदी बना ले। फिर सबको एक कढ़ाई या टोपिये में डाल कर मन्द-

मन्द आँच पर दो-तीन दिनों तक पकावे। जब तेल बाक़ी रह जाय, तब छान कर रख ले। इस तेल के प्रति दिन शरीर में मालिश करने से रक्त तथा श्वेत-प्रदर, योनि-शूल आदि अनेक रोग दूर हो जाते हैं।

जब मासिकधर्म शुद्ध होने लगे, अर्थात् ख़रगोश के रक्त के समान रङ्ग वाला शुद्ध आर्तव प्रत्येक २७ वें दिन से आरम्भ होकर बिना किसी प्रकार की पीड़ा के तीन या पाँच दिनों तक उचित मात्रा में—न बहुत अधिक न बहुत कम—बहने के पश्चात् स्वयं बन्द हो जाय, तो समझना चाहिए कि रोग की निवृत्ति हो गई।

श्वेत-प्रदर

जिस प्रकार ९०-९५ प्रतिशत पुरुषों को प्रमेह का रोग होता है, उसी प्रकार ९० प्रतिशत स्त्रियाँ श्वेत-प्रदर से पीड़ित रहती हैं। कहा जा चुका है कि स्त्रियाँ अना-वश्यक लज्जा के कारण अपने रोगों को छिपाती हैं और जब रोग की दशा असाध्य हो जाती है, तब कहीं घर वालों को उसका पता चलता है। चिकित्सा आरम्भ होते न होते अवस्था ख़राब हो जाती है और जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसलिए इस बहुव्यापी रोग का साधा-रण ज्ञान प्रत्येक स्त्री-पुरुष को रखना चाहिए।

स्त्री-जननेन्द्रियों की श्लैष्मिक कला के किसी अंश से

पतला, लार के सदृश अथवा पीव-युक्त और लसदार पानी निकलना श्वेत-प्रदर कहलाता है। वास्तव में श्वेत-प्रदर कोई स्वतन्त्र रोग नहीं, क्योंकि यह भग, योनि, गर्भाशय और डिम्बाशय आदि इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों का एकमात्र होता है। अतः इसकी चिकित्सा करने के पूर्व उक्त इन्द्रियों की भली-भाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए। यह रोग स्थान-भेद से चार प्रकार का होता है—(१) भग-सम्बन्धी, जिसमें योनि के बाहरी भाग से स्राव होता है, (२) योनि-सम्बन्धी, जिसमें योनि के भीतरी भाग से स्राव होता है, (३) गर्भाशय-सम्बन्धी, जिसमें गर्भाशय के मुख से स्राव होता है तथा, (४) डिम्ब-प्रणाली सम्बन्धी जिसमें, गर्भाशय के अन्दर से स्राव होता है।

श्वेत-प्रदर के इस प्रकार श्रेणी-विभाग करने पर दो बातें स्पष्ट रूप से समझ में आ जायँगी—(१) यदि रोग श्लैष्मिक झिल्ली में शोथ होने के कारण उत्पन्न हुआ हो, तो उसकी चिकित्सा स्थानिक प्रकार से तथा (२) यदि किसी उपद्रव से, मिथ्या आहार-विहार से अथवा किसी शारीरिक विकृति के कारण पैदा हुआ हो तो उसकी चिकित्सा शारीरिक प्रकार से करनी चाहिए। भग-सम्बन्धी प्रदर में भगावरक्तश्लेष्मिक झिल्ली में विकृति होती है। उसमें से एक प्रकार का चावलों के जल के समान

लसदार सफ़ेद पानी निकलता है, जो वृहद्भगोष्ठों के बीच सञ्चित होता है और गाढ़ा होकर दोनों ओष्ठों में चिपक जाता है। इस प्रकार का प्रदर धातुक्षीणता, अशुद्धि, ठण्ढ, संक्रामक कीटाणु, सूज़ाक, हस्तमैथुन आदि अनेक कारणों से स्थानिक उग्रता की वृद्धि होने पर उत्पन्न होता है। इसके सिवाय भगशोथादि अन्यान्य कारणों से भी उत्पन्न हो जाया करता है।

(१) भग-सम्बन्धी प्रदर—प्रायः बालिकाओं के देखा जाता है। भग या उसकी ग्रन्थियों में शोथ अथवा क्षत हो जाने के कारण इसकी उत्पत्ति होती है। गर्भ, ऋतु-स्राव और अधिक मैथुन से भग में रक्त इकट्ठा होने पर शोथ उत्पन्न होता है। रगड़ या किसी उत्तेजक क्लेद के लगने से भग की श्लेष्मिक झिल्ली में घाव होता है। ये दोनों कारण इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

(२) योनि-सम्बन्धी प्रदर—योनि-मार्ग की श्लेष्मिक झिल्ली के श्वेत प्रदर में गदला, श्वेत और तेज रस विशिष्ट स्राव होता है। योनि-मार्ग की श्लेष्मिक झिल्ली में शोथ की न्यूनाधिकता होने से स्थानिक लक्षणों में भी परिवर्तन होता है। योनि में पीड़ा, शूल, गरमी और सङ्कोच का ज्ञान होता है। मूत्र-नली में जलन, बार-बार पेशाब करने की इच्छा, पेशाब करते समय पीड़ा, योनि के ऊपरी भाग में शूल और खुजली होती है। इसमें पहले वर्णहीन क्लेद

निकलता है, फिर रोग के पुराने पड़ने पर क्लेद में पीव का मिश्रण पाया जाता है। योनि में खिचाव और पीड़ा के अतिरिक्त श्लेष्मिक झिल्ली में शोथ भी होता है। स्वास्थ्य की ख़राबी, मूत्र-वेग का अवरोध, मैथुन की अपूर्णता या आधिक्य, योनि या समीपस्थ यन्त्रों की उत्तेजना, योनि के साथ बाहरी विकृत वायु का संसर्ग, विपरीत मैथुन आदि इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

(३) गर्भाशय-सम्बन्धी प्रदर दो प्रकार का होता है, पहला गर्भाशय-ग्रीवा का श्वेतप्रदर और दूसरा गर्भाशय शरीर (मध्य) का। ग्रीवा-सम्बन्धी प्रदर में कफयुक्त अण्डे की लार के सदृश लार गुण विशिष्ट स्राव होता है। पीब होने पर स्राव का रङ्ग पीला होता है।

गर्भाशय शरीर सम्बन्धी प्रदर में कफयुक्त और कभी-कभा पोब-मिश्रित जल के सदृश गदला और खारा स्राव होता है।

साधारणतः इसमें निकला हुआ क्लेद श्वेत-वर्ण, गन्धहीन और अधिक परिमाण में पाया जाता है। ऋतु-धर्म के पहले, पीछे अथवा मध्य में स्राव की मात्रा अधिक होती है। कमर में पीड़ा, शरीर में दौर्बल्य, तलपेट में गुरुत्व, योनि में शैथिल्य और गर्भाशय का अपने स्थान से हट कर नीचे आ जाना इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। गर्भाशय-ग्रीवा में खिचाव और रक्तसञ्चय का अनुभव

ता है। अग्निमान्द्य, क़ब्ज़, आँतों में ख़ुश्की, कमर में जकड़ाहट, हृदय-स्पन्दन की तीव्रता और स्नायुओं की दुर्बलता के अतिरिक्त बाएँ पसवाड़े में वेदना होती है।

गर्भाशय के मुख तथा ग्रीवा में शोथ, अधिक दुर्बलता, ऋतु का अवरोध, बार-बार गर्भपात या सन्तानोत्पत्ति और गर्भाशय की ग्रीवा में रक्त का सञ्चित होना आदि इस रोग के कारण माने जाते हैं।

(४) डिम्ब-प्रणाली सम्बन्धी प्रदर में साधारणतः पीब मिश्रित और कभी-कभी कफयुक्त जल के सदृश स्राव होता है। अधिक क्लेद के इकट्ठा होने पर प्रणाली फूल जाती है या अपना स्थान छोड़ कर गर्भाशय के भीतर निकल आती है। ऐसी अवस्था में अत्यन्त वेदना और शूल होता है। परन्तु क्लेद के निकल जाने पर वेदना आदि सभी लक्षण शीघ्र शान्त हो जाते हैं, यह रोग शैशव और बाल्यावस्था में भी उत्पन्न होता है। परन्तु स्थानिक या दैहिक कारणों से नहीं। अनुसन्धान द्वारा सिद्ध हुआ है कि बालिकाओं के होने वाला श्वेत-प्रदर संक्रामक स्वभाव का होता है। अन्य अवस्थाओं में भग आदि इन्द्रियों की अशुद्धि, भग में आघात या कृमि-दोष अथवा अनेक प्रकार के पेसिफ़िक ज्वर आदि कारणों से इस रोग की उत्पत्ति होती है।

आयुर्वेद में इस रोग के लक्षण प्रायः सोम-रोग से

मिलते-जुलते हैं। इसलिए बहुत से लोग इसे सोम-रोग भी कहते हैं। चरक सुश्रुतादि बड़े ग्रन्थकारों ने इस रोग का विस्तृत वर्णन न देकर इसको योनि-व्यापत्ति-समुदाय के अन्दर मान लिया है। परन्तु "चतुःप्रकारं प्रदरं वदन्ति" के अनुसार कफजन्य प्रदर को श्वेत-प्रदर मान लेना ठीक नहीं है। पूर्वोक्त चार प्रकार के प्रदर रक्त-दोष से उत्पन्न होते हैं और उनमें आर्तव का स्राव होता है। इसी के सम्बन्ध में चरक ने लिखा है—"रजः प्रदीयते यस्मात् प्रदरस्तेन कथ्यते।" अर्थात् जिसमें रजः (आर्तव) अधिक मात्रा में योनि-द्वार से बाहर निकले उसे प्रदर या असृक्दर कहते हैं। किन्तु श्वेत-प्रदर की यह विशेषता है कि इसमें आर्तव नहीं निकलता, बल्कि एक प्रकार का सफ़ेद पीव-युक्त और लसदार द्रव प्रवाहित होता है। इसलिए श्वेत-प्रदर को रक्त-प्रदरों की श्रेणी में रखना उचित नहीं ज़ान पड़ता। यहाँ पर प्रसङ्गवश सोम-रोग का वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सोमरोग

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादपि।
आपः सर्वशरीरस्थः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च॥
ततः स्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि।
प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुजः सिता।

कुपथ्य, अतिमैथुन, अधिक मानसिक या शारीरिक परिश्रम और शोक के कारण स्त्रियों का सर्वशरीर-गत जल-धातु, जिसको सोमधातु कहते हैं, विकृत हो कर अपने स्थान से पतित होता है और मूत्र-मार्ग से बिना पीड़ा के जल के समान बाहर निकलने लगता है। उसमें कोई गन्ध या गदलापन नहीं होता। शीत और श्वेत वर्ण का जल हर समय योनि-द्वार से बाहर निकलता रहता है। इस रोग को श्वेत-प्रदर कहते हैं। इसमें स्त्रियों के सम्पूर्ण शरीर में स्निग्धता और शीतलता पहुँचाने वाला सोम-धातु क्षीण हो जाता है। अतः इसे सोम-रोग भी कहते हैं। पुरुषों के प्रमेह के सदृश श्वेत-प्रदर या सोम-रोग स्त्रियों के लिए एक बड़ा ही भयानक और संहारक रोग है। सभी अवस्थाओं में इसका आक्रमण होता है। यहाँ तक कि यह दुष्ट रोग सात-आठ वर्ष की बालिकाओं को भी नहीं छोड़ता। छोटी अवस्था में मूत्र के साथ श्वेत रङ्ग की धातु गिरती है और शरीर सदैव खिन्न तथा शिथिल रहता है। इस रोग के पुराने पड़ने पर बल-क्षय के कारण मूत्राशय तथा उसके बन्धनों का मुख ढीला पड़ जाता है, जिससे स्त्रियों को मूत्रातिसार का रोग होता है और पीव के जैसी गाढ़ी धातु गिरने लगती है। इस स्थिति में पहुँच कर यह रोग प्रायः असाध्य हो जाता है। लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है—

शिरः शिथिलतास्तस्या मुखं तालु च शुष्यति ।
मूर्च्छा जृम्भाप्रलापश्च त्वग्रूक्षा चातिमात्रतः ॥

इसका भावार्थ यह है कि गन्ध और पीब रहित स्वच्छ सोम-धातु के निकलने से शरीर दिनोंदिन कृश होकर दुर्बल हो जाता है, थोड़ा भी चलने-फिरने से थकावट मालूम पड़ती है, किसी काम में जी नहीं लगता। आलस्य और शिथिलता बढ़ती है, चलने-फिरने की इच्छा नहीं होती, पाचन शक्ति कमज़ोर हो जाती है, खाने से तृप्ति नहीं होती, अधिक खाने की इच्छा बनी रहती है, शरीर जर्जर हो जाता है, शिर भारी, त्वचा में रूक्षता और कमर तथा पीठ में वेदना होती है, आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है, मुख और तालु में शोष होता है और ऋतु-स्राव विकृत, अनियमित अथवा बिलकुल बन्द हो जाता है।

श्वेत-प्रदर में भी स्थानिक और दैहिक दो प्रकार की चिकित्सा होती है। अतः चिकित्सा आरम्भ करने के पहले स्राव का दैहिक चिकित्सा-कारण निश्चित कर लेना चाहिए। उचित व्यायाम, पुष्टिकारक पथ्य, शीतल जल से स्नान, वायु-परिवर्तन और बलकारक औषधियों का सेवन करना होता है। बच्चे को दूध पिलाने अथवा किसी रोग के कारण शरीर में रक्त की कमी हो तो उत्तम लोह-भस्म या शुद्ध सङ्खिया से बनी हुई मल्लसिन्दूर आदि औषधियाँ देने से लाभ होता है।

स्थानिक चिकित्सा में स्राव कम करने के लिए बड़, पीपल, गूलर, पिलखन और पारिस पीपल का क्वाथ बना कर योनि में पिचकारी देनी चाहिए। क्लेद अधिक निकलता हो तो परमैंगनेट पोटास की और क्लेद निकलने के समय अधिक वेदना होती हो तो अफ़ीम की पिचकारी देनी चाहिए। भीतर स्राव के सञ्चित होने या स्थानिक शोथ होने पर गर्भाशय के मुख में जोंक लगाना लाभदायक है।

(१) लोहभस्म १ तोला, सीप की भस्म १ तोला, वङ्ग-भस्म १ तोला, राल १ तोला, यशद-भस्म ६ माशे, क्षीर काकोली ४ तोले, बिदारीकन्द २ तोले, सतावर १ तोला और नागकेसर २ तोले, सबको कूट-पीस कर तैयार कर ले। प्रतिदिन सुबह-शाम १ तोला चूर्ण मधु के साथ खाने से पाण्डु-रोग, रक्त की कमी और हर प्रकार की निर्बलता दूर होकर श्वेत-प्रदर अच्छा हो जाता है।

(२) हरीतकी खण्ड—त्रिफला, नागरमोथा, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेसर, सोंठ, मिर्च, पीपल, धनिया, अजवायन, सौंफ़, सोआ के बीज और लौंग प्रत्येक का चूर्ण दो-दो तोले; निशोथ और सनाय प्रत्येक दो-दो छटाँक, हरड़ आध सेर और खाँड या चीनी दो सेर लेकर खाँड की चाशनी में उपरोक्त सब औषधियों का अवलेह पकाए। रात में सोते समय ६ माशे अवलेह

दूध या गरम जल के साथ खाने से कोष्ठबद्धता, शूल, अनाह, अर्श आदि रोग दूर हो जाते हैं।

(३) सोमनाथ रस—लोहभस्म २ तोले, शुद्ध पारा शुद्ध गन्धक, इलायची, तेजपात, हल्दी, दारुहल्दी, जामुन के बीज, ख़स, गोखुरू, वायविडङ्ग, ज़ीरा, पाठ, आँवला अनारदाना, शुद्ध सुहागा, लालचन्दन, शुद्ध गूगल, ल. शाल की छाल, अर्जुन की छाल और रसोत—प्रत्येक एक-एक तोला लेकर पहले पारे और गन्धक को घोट कर सुरमे के समान चूर्ण बनावे। फिर सबको बकरी के दूध में घोट कर ५ से १० रत्ती तक की गोलियाँ बना डाले। सुबह-शाम एक गोली मधु के साथ सेवन करने से प्रदर, योनि-शूल तथा पुरातन बहुमूत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं।

(४) कैथे के फल को आग में भून ले। उसकी ३ माशे गूदी खाकर ऊपर से आध पाव गाय का दूध पिए। सुबह-शाम सेवन करने से दो सप्ताह में प्रदर नष्ट हो जायगा।

(५) सेमल के फूलों को घी में भून कर थोड़ी सी मिश्री या सेंधानमक के साथ सेवन करने से श्वेतप्रदर में बहुत लाभ होता है। अतः बहुत से वैद्य इसका शाक रोगी को खिलाया करते हैं।

(६) अशोक-चूर्ण—अशोक-वृक्ष की छाल का चूर्ण और मिश्री बराबर-बराबर मिला कर तीन-तीन माशे

दोनों समय गो-दुग्ध से साथ सेवन करने से श्वेतप्रदर शीघ्र नष्ट हो जाता है।

(७) स्रोतोञ्जन चूर्ण—चार माशे शुद्ध सफ़ेद सुरमा लेकर बारीक चूर्ण बना ले। ४ रत्ती चूर्ण २ माशे मधु के साथ दोनों समय चाटने से १५-२० दिनों में कष्टसाध्य पुराना श्वेतप्रदर भी अच्छा हो जाता है।

(८) केशरादि वटी—केशर ६ माशे, असगन्ध, आँवला, वंसलोचन, गुलाव के फूल और शुद्ध शिलाजीत प्रत्येक एक-एक तोला, काली मिर्च, गोखुरू, विधारा, छोटी इलायची, सेमल की मूसली, सफ़ेद मूसली, सतावर और भिण्डी की जड़ प्रत्येक दो-दो तोले और मिश्री १० तोले, सबका बारीक चूर्ण बना कर तालमखाने के लुआब और मधु में घोटने के बाद छोटे बेर के समान गोलियाँ बना ले। सुबह-शाम एक-एक गोली गो-दुग्ध के साथ सेवन करने से श्वेत-प्रदर नष्ट होकर रोगिणी का शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलवान् बन जाता है।

(९) आँवला, सूखा कसेरू, गिलोय का सत और भिण्डी की जड़ प्रत्येक दो-दो तोले और मिश्री आठ तोले, सबको कूट-पीस कर बारीक चूर्ण बना ले। ४-५ माशे चूर्ण दिन में दो बार गाय के दूध या शहद के साथ सेवन करने से पुराना प्रदर नष्ट हो जाता है।

(१०) मुक्ता शुक्ति, भस्म, राल और सङ्गजराहत

प्रत्येक दो-दो तोले लेकर बारीक चूर्ण बना ले। एक माशे की मात्रा एक छटाँक मुनक्के के जल के साथ दोनों समय सेवन करने से १५ दिन में श्वेत-प्रदर निर्मूल हो जाता है।

(११) उड़द, मुलेठी, विदारीकन्द और चीनी का समभाग चूर्ण ६ माशे की मात्रा में प्रातःकाल दूध के साथ सेवन करने से सोमरोग नष्ट हो जाता है।

(१२) पका केला, विदारीकन्द और सतावर सम भाग में मिला कर दूध के साथ सेवन करने से सोम-रोग नष्ट हो जाता है।

(१३) वसन्त कुसुमाकर रस—वैक्रान्त मणि का भस्म १ तोला, स्वर्ण का भस्म २ तोले, अभ्रक-भस्म २ तोले, मोती-भस्म, २ तोले मूँगा-भस्म २ तोले, वङ्ग-भस्म ३ तोले और रससिन्दूरी ४ तोले, सबको एक साथ जम्बीरी नींबू के रस, गाय के दूध, ख़स और अडूसे के क्वाथ या रस और गन्ने के रस में अलग-अलग सात बार भावना देकर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। एक-एक गोली सुबह-शाम शहद के साथ खाने से सोमरोग, प्रदर-मूत्रातिसार, तथा क्षयरोग नष्ट होकर शरीर में बल और ओज की वृद्धि होती है।

(१४) सतावर्यादि चूर्ण—सतावर, आँवला, आम का बौर, पिस्ते का फूल, बड़ा गोखुरू, सफ़ेद मूसली,

माजूफल, सफ़ेद दूब, विदारीकन्द, सालम मिश्री, सूखा सिंघाड़ा, सेलखड़ी और चिकनी सुपारी प्रत्येक पाँच-पाँच तोले लेकर सबका बारीक चूर्ण कर ले। इसमें तीन पाव मिश्री मिला कर ६ माशे की मात्रा प्रतिदिन धारोष्ण गो-दुग्ध के साथ सेवन करने से एक मास में श्वेत-प्रदर नष्ट होकर शरीर बलवान् बन जाता है।

(१५) मृगाङ्करस—सब प्रकार की औषधियों के व्यर्थ हो जाने पर मृगाङ्करस का सेवन किया जाता है। ताज़े मक्खन के साथ १ रत्ती मृगाङ्करस सुबह-शाम सेवन करने से तीन सप्ताह में बहुत पुराना दुस्साध्य प्रदर भी अच्छा हो जाता है।

(१६) बालिका-प्रदरहर योग—रेवत चीनी, फिट-करी और छोटी इलायची प्रत्येक छः-छः माशे, कलमी शोरा ९ माशे और शीतल चीनी १ तोला, सबको मिला कर बारीक चूर्ण बना ले। अवस्थानुसार ४ रत्ती से डेढ़ माशे तक दूध या जल के साथ दिन में तीन बार सेवन करने से ५-६ दिन में बालिकाओं का श्वेतप्रदर अच्छा हो जाता है।

पथ्य में जौ और गेहूँ की रोटी, पुराने साठी या शाली चावलों का भात, मूँग, मसूर और चने की दाल, परवल, बथुवा, लौकी, पपीता, चौलाई, पालक और सेमल के फूलों का शाक और फलों में सेब, अनार, अङ्गूर, मुनक्का,

पका हुआ कटहल, केला, आँवला और कैथे का फल खाना चाहिए। छुहारा, अदरक, चिरौंजी, कच्चा धनिया, गाय या बकरी का दूध, भैंस का ताज़ा घी और शीतल जल आदि पदार्थ भी हितकारक हैं।

दिन में सोना, रात में जागना, अधिक परिश्रम, उपवास, अध्यशन (भोजन के ऊपर भोजन), घाम में घूमना, क्रोध, शोक, मैथुन, अग्निताप, मद्य, मांस, तम्बाकू, सिगरेट, अचार, रायता, सिरका, खट्टा दही, प्याज़, लहसुन, मूली, खटाई, कड़वा तैल, बैंगन, गुड़, तिल, उड़द, अरहर, कुलत्थ आदि गरम और तेज़ चीज़ों से परहेज़ करना चाहिए।

मूत्रातिसार

पहले कहा जा चुका है कि श्वेतप्रदर के पुराने हो जाने पर अत्यन्त बल-क्षय के कारण स्त्रियों को बहुधा मूत्रातिसार का रोग हो जाता है। लिखा है कि "सोतिक्रान्तः क्रमेणैव स्रवेन्मूत्रमभीक्ष्णशः। मूत्रातिसार मप्येवं तमाहुर्बलनाशनम्।" अर्थात् जब सोमरोग की चिकित्सा नहीं की जाती है तब वह धीरे-धीरे इतना बढ़ जाता है कि स्त्री मूत्र-वेग को क्षणमात्र रोकने में भी असमर्थ हो जाती है। बैठे-बैठे पेशाब हो जाता है, पेशाब करने की इच्छा हरदम बनी रहती है और पेशाब अधिक परिमाण

में होता है। कहीं बूँद-बूँद करके पानी टपकता है और कहीं बार-बार पेशाब होता है। इस कारण स्त्री एकदम कमज़ोर हो जाती है। उसकी आँखों के सामने अँधेरा आने लगता है। शारीरिक ताप को स्थिर रखने वाले जलीय पदार्थ के क्षीण होने पर पित्त बढ़ कर तृष्णा पैदा करता है। इससे स्त्री बार-बार पानी पीती है, हाथ-पैरों में जलन होती है और शिर चक्कर खाता है। अवस्था अधिक बिगड़ने पर मृत्यु हो जाती है।

(१) पका हुआ केला १ तोला, आँवले का रस १ तोला, मधु ४ तोले और गाय का दूध एक पाव सबको मिला कर खाने से मूत्रातिसार तथा सोमरोग दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

(२) पका केला, विदारीकन्द और सतावर, तीनों सम-भाग में मिला कर खाने से मूत्रातिसार बन्द हो जाता है।

(३) २ तोले फ़ालसे की छाल को पाव भर पानी में भिगो दे, फिर मसल कर छान ले। उसमें २ तोले मिश्री मिला कर एक महीने तक पीने से मूत्रातिसार और सोम-रोग नष्ट हो जाते हैं।

(४) मधु अथवा अडूसे के क्षार के साथ एक तोला आँवले का रस सेवन करने से बहुमूत्र-रोग नष्ट हो जाता है।

(५) ताड़ की जड़, पका केला और खजूर, सबको एकत्र मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से मूत्रातिसार में लाभ होता है।

(६) उड़द का चूर्ण, मुलेठी, विदारीकन्द, चीनी और शहद, सब को एक साथ मिला कर प्रतिदिन प्रातः-काल सेवन करने से सोमरोग और मूत्रातिसार बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

(७) हरड़, बहेरा, आँवला, बाँस के पत्ते, मोथा और पाढ़, इनका समभाग चूर्ण प्रति दिन शहद तथा घी के साथ सेवन करने से अत्यन्त बढ़ा हुआ दुस्साध्य मूत्रातिसार भी शीघ्र शान्त हो जाता है।

(८) अभ्रकादि लौह—अभ्रक-भस्म, लोह-भस्म, त्रिफला, कुटज की छाल, पारा, गन्धक, त्रिकटु, मीठा विष, सुहागा, सज्जीखार, दालचीनी, इलायची, तेज-पात, बङ्ग-भस्म और काला सफ़ेद ज़ीरा, प्रत्येक एक-एक तोला और चित्रक ६ माशे। पारे और गन्धक की कजली में शेष औषधियों का चूर्ण मिला कर घोट ले। इसकी ३ से ६ रत्ती तक की मात्रा शहद के साथ सेवन करने से मूत्रातिसार और सोमरोग समूल नष्ट हो जाते हैं।

(९) बहुमूत्रान्तक रस—रससिन्दूर, सेमल की जड़, केले की जड़, गूलर के बीज, लोह-भस्म, बङ्ग-भस्म विद्रुम-

भस्म, मुक्ता-भस्म और अफ़ीम, सबका समभाग चूर्ण कर चमेली के फूलों के रस में घोट कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। प्रतिदिन एक गोली शहद के साथ सेवन करने से बहुमूत्र-रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है।

सूज़ाक

कुछ डॉक्टरों का विश्वास है कि गनोकास नामक एक प्रकार के कीटाणुओं के द्वारा सूज़ाक की उत्पत्ति होती है, परन्तु बहुत से दूसरे डॉक्टर इन कीटाणुओं तथा सूज़ाक की कार्य-कारणता में सन्देह भी करते हैं। उनके मतानुसार जब तक शारीरिक यन्त्रों में कोई विशेष विकृति या स्वास्थ्य के नियमों का असह्य उल्लङ्घन न हो, तब तक केवल इन क्षुद्र कीटाणुओं के कारण इस रोग की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। अस्तु, आयुर्वेद में इसका कोई विशेष वर्णन नहीं पाया जाता। कोई-कोई इसे उपद्रवयुक्त मूत्र-रोग या उष्णवात कहते हैं। परन्तु लक्षणों के अनुसार आयुर्वेदीय पद्धति से इसकी चिकित्सा करने पर लाभ होता है। स्त्रियों और पुरुषों के प्रमेह (सूज़ाक) में स्थान और लक्षणों की भिन्नता पाई जाती है। यहाँ केवल स्त्रियों के प्रमेह का ही वर्णन किया जायगा।

स्त्री-जाति के पूयमेह का शोथ भग, योनि, मूत्र-नली

या गर्भाशय में उत्पन्न होता है और डिम्बाशय-पर्यन्त फैल जाता है।

भग-स्थान में शोथ होने पर साधारण शोथ के लक्षण प्रकट होते हैं तथा दोनों भगोष्ठ सूज कर लाल और पीव, युक्त हो जाते हैं। कहीं-कहीं निम्फी (योनि और ओष्ठ का सन्धि-स्थान) इतनी फूल जाती है कि योनि-द्वार एक-दम बन्द हो जाता है और उसके चारों ओर वेदना होने लगती है। शोथ-युक्त स्थान में पीव के सूखने पर जलन होती है। वंक्षण-सम्बन्धी-ग्रन्थि बहुत बढ़ जाती है, उसमें दबाने से पीड़ा होती है तथा कहीं-कहीं से पीव भी निकलने लगती है। कहीं-कहीं पर स्त्री-जननेन्द्रिय सम्बन्धी ग्रन्थिद्वय नामक नली में शोथ के फैलने से भग तथा योनि में फुन्सी निकल आती हैं।

योनि-मार्ग के शोथ में साधारणतः योनि-प्राचीर (दीवार) के पीछे और नीचे के हिस्से में शोथ का आरम्भ होता है। पहले-पहल योनि-प्राचीर के पीछे नीचले हिस्से में भारीपन ज्ञात होता है, कुछ दिनों बाद सफ़ेद और चिकना जल बहने लगता है और शीघ्र ही पीव निकलना भी आरम्भ हो जाता है। इस समय इसमें साधारण शोथ के सम्पूर्ण लक्षण दिखाई पड़ते हैं। धीरे-धीरे रोग के पुराने पड़ने पर चेपदार रस निकलता है, श्लेष्मिक झिल्ली सूज कर मोटी हो जाती है और योनि की सम्पूर्ण

प्यापिलियों (क्षुद्र पीड़िकाओं) का आकार बड़ा हो जाता है।

भग और योनि में शोथ का विस्तार होने पर अधिकांश मूत्रनली भी शोथ-ग्रस्त हो जाती है। इससे मूत्र के समय जलन और पीड़ा तथा मूत्राशय में गुरुत्व और खिंचाव आदि लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु मूत्रनली के शोथ में लक्षणों का विकास नहीं होता।

इस रोग की क्रमशः चार अवस्थाएँ होती हैं, जिनमें से अन्तिम अवस्था को पुरातन-अवस्था भी कहते हैं। इन अवस्थाओं के अनुसार व्यवस्था करनी पड़ती है, अन्यथा चिकित्सा विशेष फलवती नहीं होती। पहले बताया जा चुका है कि यह रोग मूलतः संक्रामक स्वभाव का है। संक्रमण के एक या दो रात्रियों पश्चात् रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। परन्तु कभी-कभी इस नियम में अपवाद भी देखा जाता है और रोग के प्रकट होने में चार से सात दिन तक लग जाते हैं। इस अवधि को रोग की प्रच्छन्न या गुप्तावस्था कहते हैं। इस अवस्था की समाप्ति के बाद रोग प्रकाशित होता है और मूत्रनली में खिंचाव होने लगता है। मीठी-मीठी खुजली के साथ बार-बार मूतने की इच्छा होती है, पर पूर्णरूप से मूत्र बाहर नहीं निकलता। मूत्रनली के दोनों ओष्ठ सूज कर लाल हो जाते हैं। नली को दबाने से दूध के सदृश एक प्रकार का तरल पदार्थ

थोड़ा-थोड़ा करके बाहर निकलता है। जैसे-जैसे समय बीतता है, दाह और पीड़ा के साथ अधिकाधिक धातु गिरने लगती है। मूत्राशय, कमर, पीठ तथा योनि में वेदना और भारीपन मालूम होता है। रोग की यह अवस्था साधारणतः १० से १५ दिनों तक रहती है। परन्तु कभी-कभी इन लक्षणों के परिवर्त्तित होने में दो या तीन सप्ताह भी लग जाते हैं। रोग की तृतीयावस्था में दाह, मूत्र-कृच्छ्रता, जलन और पीड़ा की प्रबलता शान्त होकर मूत्र में थोड़ी सी वेदना के साथ पीले रङ्ग की धातु गिरती है। इस प्रकार कुछ काल व्यतीत होने पर यह रोग धातु में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ इसकी चतुर्थावस्था आरम्भ होती है। इसके बाद रोग को समूल नष्ट करना एक कठिन काम बन जाता है। कभी दूध के सदृश सफ़ेद रङ्ग की धातु गिरने लगती है और कभी बन्द हो जाती है। दाह से विशेष कष्ट नहीं होता। चिकित्सा आरम्भ करने के पहले यह भली-भाँति देख लेना चाहिए कि रोग किस अवस्था में है। इन अवस्थाओं के अनुकूल ही चिकित्सा तथा पथ्य का विधान करना चाहिए। सहसा कोई औषधि दे देने से लाभ के बदले हानि की अधिक आशङ्का रहती है।

बहुत से मनुष्य सूज़ाक की दाहादि पीड़ाओं के किसी प्रकार कम हो जाने को ही आरोग्य मान लेते हैं। परन्तु ऐसा समझना भूल है। प्रच्छन्नावस्था में ही रोग की

उचित चिकित्सा न होने के कारण कुछ दिनों बाद रूई के तन्तु सदृश रेशेदार या दूध और कफ के समान तरल धातु-गिरने लगती है। इससे रोगिणी अत्यन्त दुर्बल होकर शिरोरोग, धातु-दौर्बल्य, शुक्रातरल्य आदि अनेक कठिन रोगों से पीड़ित होती है। परन्तु इससे घबरा कर पीव को एकदम बन्द करने के लिए सहसा कोई तेज औषधि नहीं दे देनी चाहिए। उग्र औषधियों के द्वारा पीव को एकदम बन्द करने से रोग की यन्त्रणा बहुत बढ़ जाया करती है। मूत्र-नली में सङ्कोच, दाह, खुजली, मूत्रकृच्छ्ता और किञ्चित् पीव का गिरना आदि लक्षणों के प्रकट होने पर निम्न-लिखित औषधियों का प्रयोग करना चाहिए :—

(१) चन्दनादि क्वाथ—चन्दन, लाल चन्दन, ख़स, मुलेठी, धनिया, गोखुरू और आँवला, प्रत्येक औषधि तीन-तीन माशा लेकर पाव भर जल में पका ले। एक छटाँक शेष रहने पर मिश्री के साथ पीने से मूत्र में जलन, मूत्र-कृच्छ्ता, और मूत्र-नली के मल बहुत शीघ्र दूर हो जाते हैं।

(२) चन्दनादि लौह—चन्दन, लाल चन्दन, सेमल की मूसली, दालचीनी, कङ्कोल, इलायची, हल्दी, दारु-हल्दी, उसबा, ख़स, मुलेठी, आँवला, सनाय, वंसलोचन, देवदारु और पाषाणभेद, सबका समभाग चूर्ण बना कर

उसमें चूर्ण का चतुर्थांश लोह-भस्म और थोड़ा-सा तूतिये का भस्म मिला कर एक शीशी में रख ले। प्रति-दिन प्रातः, दोपहर और सन्ध्या के समय दो माशे की मात्रा त्रिफला के जल के साथ सेवन करने से नूतन सूज़ाक और तज्जनित सब प्रकार के उपद्रव शीघ्र शान्त हो जाते हैं।

(३) कङ्घी की जड़, खरेंटी की जड़, मुलेठी, कुश की जड़, गोखुरू और ख़स प्रत्येक छै-छै माशे लेकर जौकुट करके क्वाथ बना कर पीने से नवीन प्रमेह (सूज़ाक) में विशेष लाभ होता है।

(४) बन्सलोचन, छोटी इलायची, सत-गिलोय, मस्तगी, शीतल चीनी, पाषाणभेद और गेरू, सबका समभाग चूर्ण गाय के कच्चे दूध या शीतल जल के साथ सेवन करने से मूत्रदाह, टीस आदि भयानक पीड़ाएँ तत्काल शान्त हो जाती हैं।

(५) उष्णवातारि चूर्ण—शीतल चीनी १० तोले, सेलखड़ी ढाई तोले, कलमी शोरा डेढ़ तोले, फिटकिरी ६ माशे, गेरू मिट्टी ४ माशे और कपूर ३ माशे, सबको बारीक कूट-छान कर तीन-तीन माशे की मात्रा बना ले। दिन में छः बार एक-एक पुड़िया आध-आध घण्टे के अन्तर से दूध अथवा ठण्ढे जल के साथ सेवन करने से आठ दिनों में पेशाब की जलन, पीव का निकलना आदि

अवश्य बन्द हो जाते हैं। यदि आठ दिन में बन्द न हो तो साथ ही योनि में पिचकारी भी लगानी चाहिए।

(७) गेरू, मेंहदी के कोमल पत्ते, सफ़ेद सुरमा और रसोत, प्रत्येक दो-दो तोले लेकर जौकुट करके डेढ़ सेर पानी में पकावे। तीन पाव शेष रहने पर छान कर बोतल में रख ले। यह रस पिचकारी देने के काम में आता है। यदि उक्त रस बनाने में कोई विशेष कठिनाई हो तो एक छटाँक पानी में तीन रत्ती परमैंगनेट पोटास घोल कर पिचकारी दे सकते हैं। यह औषधि कृमिनाशक है। स्त्री को पेशाब कराने के बाद चौकी पर उकरू बैठा कर योनि-मार्ग से पिचकारी लगावे। दो-तीन मिनट तक जल को भीतर ही रोके रहे और आध घण्टे तक पेशाब न करे। इस प्रकार तीन दिन सुबह और शाम को पिचकारी देने से अवश्य लाभ होता है।

(८) इन्द्रिय-विरेचन—शीतल चीनी, श्वेत चीनी, दालचीनी और छोटी इलायची प्रत्येक एक माशा, कलमी शोरा २ माशे और मिश्री ४ माशे, सबका कपड़-छान चूर्ण बना कर छः माशे की मात्रा दूध के साथ दिन में तीन बार सेवन करने से और पथ्य में दूध-भात खाने से इन्द्रिय द्वारा अधिक पेशाब आता है। इससे सूज़ाक में लाभ होता है। इस प्रकार चार-पाँच दिन करने के बाद कोई औषधि खाई जाय, विशेष लाभ होता है।

(९) चन्दनादि तैल—चन्दन, दालचीनी, कवाब-चीनी और विरोजा प्रत्येक का तीन-तीन माशा तेल एक साथ मिला कर रख ले। पाँच बूँद बतासे में डाल कर प्रतिदिन सुबह-शाम खाने से सूज़ाक में बहुत शीघ्र आरोग्य लाभ होता है।

(१०) प्रमेहचिन्तामणि रस—रस-सिन्दूर, अभरक, वङ्ग, स्वर्ण, लोह, मुक्ता, विद्रुम, स्वर्ण और माणिक, प्रत्येक का भस्म समान भाग में लेकर घीग्वार के रस में घोट ले और दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना कर छाया में सुखा ले। चावल का या जौ का जल मिश्रित गोदुग्ध, गिलोय का हिम अथवा शीतल जल के साथ सुबह-शाम एक गोली सेवन करने से सब प्रकार के सूज़ाक, उसकी दाहादि भयङ्कर पीड़ाएँ, मूत्रकृच्छ्रता, गदली खड़िया-मिट्टी के समान पेशाब आना आदि समस्त उपद्रव शीघ्र शान्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह रस पित्त-प्रमेह, विषैला प्रमेह, मूत्राघात आदि रोगों को नष्ट कर शरीर में बल और पुष्टि लाता है। इस रोग में तूतिया भी विशेष उपकार करता है, क्योंकि वह जीवाणु-नाशक है। तूतिए के प्रयोग से गनोकाई नामक गनोरिया के सूक्ष्म कीट शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। परन्तु तूतिया एक उग्र विष है, इसको बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अधिक मात्रा में प्रयोग करने से लाभ के बदले हानि हो जाती है।

(११) बङ्ग-भस्म आधी रत्ती, लोह-भस्म आधी रत्ती और तूतिए की भस्म २ दो चावल भर, सबको मक्खन-मिश्री के साथ मिला कर खाने से रोग का शीघ्र शमन होता है।

(१२) एक तोला रसोत को पाव भर गुलाव-जल में घोल कर उसमें १ रत्ती तूतिए का चूर्ण डाल दे। यह जल इन्द्रियों को धोने अथवा पिचकारी लगाने के काम में आता है।

(१३) रोग की प्रारम्भिक अवस्था में गोखुराद्य गूगल, गोखुराद्यावलेह, कुशावलेह, तृणपञ्चमूल आदि औषधियाँ अत्यन्त लाभदायक हैं।

(१४) इस रोग की सभी दशाओं में, दालचीनी, कबाबचीनी और बिरोजे का तेल दो-दो बूँद और सन्दल (चन्दन का तेल) ४ बूँद, एक तोला जल में मिला कर प्रति दिन दो बार पीने से अत्यन्त लाभ होता है। इससे भीतरी व्रण भर जाते हैं और मूत्र में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती।

आधुनिक डॉक्टर लोग इस रोग की किस प्रकार चिकित्सा करते हैं, यह बतलाना भी यहाँ पर अनुचित नहीं होगा। भग में शोथ होने पर वाई कार्बोनेट ऑफ़ सोडियम (Bi Carbonate of Sodium) के जल द्वारा सम्पूर्ण भग-प्रदेश को अच्छी तरह धोकर साफ़ करते हैं।

फिर एक कोमल कपड़े या रूई से धोए हुए स्थान को पोंछ कर सुखा देते हैं। बाद को श्वेतसार का बारीक चूर्ण, बोरिक एसिड, जिङ्क ओक्साइड अफ़ीम और लाइको पोडियम के चूर्ण को एक कपड़े में लगा कर उसे भग के भीतर रख देते हैं। रोगिणी के लिए विशेष चलने-फिरने या काम करने की मनाही रहती है। यदि शोथ बहुत अधिक हो तो रोगिणी को किसी उष्ण-स्थान में ले जाकर कोष्ठ की शुद्धि करते हैं और मूँग की दाल, भात, गेहूँ की रोटी आदि का लघु पथ्य देते हैं। भग-योनि सम्बन्धी ग्रन्थि में शोथ होने पर उस स्थान में जोंक लगा या फ़स्त खोल कर रक्त निकाल देने से शोथ की शान्ति हो जाती है। यदि इस प्रकार रक्तमोक्षण से भी शोथ शान्त न हो तो शीघ्र ही उसमें पीव पड़ जायगी, अतः इस अवस्था में उष्ण लेप, सेकादि का प्रयोग करना चाहिए। यदि वहाँ पर कोई फोड़े के आकार में शोथ हो जावे तो उसमें शस्त्र-चिकित्सा करनी चाहिए। योनि-मार्ग में शोथ होने पर भी भग-शोथ के सदृश ही चिकित्सा करनी चाहिए। किन्तु इस अवस्था में साबुन के जल की पिचकारी द्वारा अथवा अत्यन्त क्षार-संयुक्त जल द्वारा योनि को धोना चाहिए। इसके बाद गरम जल से दुबारा धोकर रोग तथा शोथ-नाशक औषधि-युक्त जल की पिचकारी देनी चाहिए। इस प्रकार की पिचकारी के लिए एसिटेड ऑफ़ लेड, एलम्

सल्फ़ेट ऑफ़ जिङ्क, सल्फ़ कार्बोलेट ऑफ़ जिङ्क, करोसिक सब्लिमेण्ट के जल आदि औषधियाँ काम में लानी चाहिए। और योनि को धोने के बाद टॉनिक एसिड आदि सङ्कोचकारी औषधियों से भीगे हुए कपड़े या रूई को योनि में रखना चाहिए। वेदना अधिक होने पर बत्ती के आकार में अफ़ीम का प्रयोग करना चाहिए। इसके सिवाय अन्यान्य उपद्रवों के होने पर योनि-रोग में लिखित उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

चौथा परिच्छेद

जननेन्द्रियों के रोग
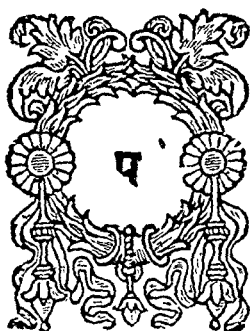
हले लिखा जा चुका है कि स्थानिक और दैहिक दो प्रकार के रोग होते हैं। शरीर के किसी विशेष भाग में उत्पन्न होने वाले—अर्श, व्रण, भगन्दर, विद्रधि इत्यादि—रोगों को स्थानिक और साधारणतया सारे शरीर में व्याप्त रहने वाले—ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, क्षय, रक्त-पित्त आदि—रोगों को दैहिक रोग कहते हैं। प्रथम प्रकार की व्याधियों में लेप, मरहम, पुलटिस, सेंक, पिचकारी, पट्टी, बन्धन आदि के द्वारा रोगग्रस्त अङ्ग-विशेष की रक्षा मुख्य रूप से तथा सारे शरीर की शुद्धि साधारणतया की जाती है और द्वितीय श्रेणी के रोगों में वमन, विरेचन, वस्ति (पिचकारी) आदि के प्रयोग से समस्त शरीर की

शुद्धि-क्रिया करने के पश्चात् चूर्ण, अवलेह, क्वाथ आदि के द्वारा रोग को शमन करने की चेष्टा की जाती है। स्त्री-जननेन्द्रियों के रोगों में भी इसी चिकित्सा-पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है।

रोग का निदान करते समय उनकी पीड़ा का प्रकार, समय, स्थान और उत्पत्ति का निरूपण करना आवश्यक है। इसके लिए कभी-कभी स्थानिक परीक्षा करनी पड़ती है। यहाँ पर चिकित्सकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि साधारण रोगों में और बिना अनिवार्य आवश्यकता के उँगली आदि डाल कर स्त्रियों के गुप्त अङ्गों की परीक्षा द्वारा उन्हें व्यर्थ लज्जित करने से कोई लाभ नहीं। परन्तु कभी-कभी स्त्रियों की मूर्खता और लज्जा के कारण छोटे-छोटे रोग भी भयङ्कर रूप धारण कर लेते हैं। ऐसी दशा में निस्सङ्कोच स्थानिक परीक्षा के द्वारा रोग का रूप और स्वभाव निर्धारित करना चाहिए। वेदनाएँ कई प्रकार की होती हैं—कोई दारुण, कोई मृदु, कोई रुक-रुक कर, कोई सारे शरीर या अङ्ग-विशेष में खिंचाव पैदा करने वाला, कोई बेध के सदृश और कोई दपदपाहट या जलन पैदा करने वाली। एक विशेष प्रकार की पीड़ा में योनि-मार्ग से कोई चीज़ निकलती हुई मालूम पड़ती है। इसी प्रकार मूत्राशय और अर्श-रोग सम्बन्धी अनेक प्रकार की पीड़ाओं का अनुभव होता है। पीड़ा का स्थान-निरूपण करते समय

देखना चाहिए कि यह एक स्थान पर केन्द्रित है या चारों ओर कुछ दूर तक फैली हुई। डिम्बाशय-सम्बन्धी पीड़ा में केवल थोड़े से भाग में वेदना का अनुभव होता है। जरायु या योनि के क्रैमप्स (Cramps) रोग में प्युबिस (Pubis) के ठीक पीछे चबाने या पीसने के समान दर्द होता है, जो रात में बढ़ जाया करता है। यह भी देख लेना उचित है कि पीड़ा का मासिक धर्म के साथ कुछ सम्बन्ध है या नहीं। ऋतुकाल में किस स्थान पर दर्द होता है और कितने समय तक रहता है। अगली ऋतु में दर्द फिर वहीं उत्पन्न होता है या अन्यत्र। कभी-कभी दर्द एक बार पैदा होकर बराबर चला जाता है और बीच-बीच में ऋतुकाल आने पर बढ़ जाता है।

इन पीड़ाओं के कारण प्रायः अनेक रोगों की सृष्टि हो जाया करती है, जिनमें क्षुधा की मन्दता, हल्लास, वमन, कोष्ठ-बद्धता और आर्तव का गाढ़ा होना प्रधान हैं। मासिकधर्म के समय शिर और पीठ में पीड़ा होती है, गर्भावस्था में अरुचि और आलस्य पैदा होता है तथा हिस्टीरिया की दशा में विभ्रम, मूर्च्छा, संन्यास (सक्ता) आदि विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जरायु-सम्बन्धी पीड़ा में अत्यन्त दुर्बलता, मूर्च्छा, आलस्य और क्लान्ति का बोध होता है तथा स्तनों के नीचे शरीर के अनेक स्थानों में स्नायु-व्यथा होने लगती है।

भग-शोथ या प्रदाह

यह विशेष और साधारण दो प्रकार का होता है। जो किसी विशेष संक्रामक रोग—सूज़ाक आदि—के कारण उत्पन्न हुआ हो उसे विशेष और सामान्य कारणों से पैदा होने वाले को साधारण शोथ कहते हैं। यहाँ पर साधारण शोथ का ही वर्णन किया जायगा, विशेष का वर्णन सूज़ाक के प्रकरण में होगा। गुदा के व्रण का पीब लगने, श्वेत-प्रदर के दुर्गन्धित जल से स्पर्श होने या तरुणी स्त्रियों में अधिक काम-वासना के उद्दीपन से यह रोग पैदा होता है। इसके अतिरिक्त स्थानिक अशुद्धि—भग आदि का न धोना—विबन्ध (क़ब्ज़) और पाचन-शक्ति की निर्बलता भी इसका कारण हो सकती है। यह कण्ठ-माला-ग्रस्त बच्चों के भी होता हुआ देखा गया है। भग में जिस स्थान पर शोथ होता है, वहाँ कृष्ण-वर्ण, पीड़ा, भारीपन आदि लक्षण पाए जाते हैं। विशेष-विशेष अवस्थाओं में इसकी पीड़ा नीचे जाँघ और ऊपर कमर तक फैल जाती है, मूत्रेन्द्रिय में जलन होती है और घाव होकर दुर्गन्धित पीब बाहर निकलने लगता है। स्त्रियों के वृहत् तथा क्षुद्र भगोष्ठों में पीब सड़ जाने के कारण पीड़ा होने लगती है और थोड़ा-बहुत ज्वर भी हो जाता है।

यदि व्रणों के कारण रोग की उत्पत्ति हुई हो तो स्त्री के बलाबल की परीक्षा कर व्रण-ग्रन्थियाँ काट देना

चाहिए और रोगिणी को लोहस्तम्भादि बलकारक औषधियों का सेवन कराना चाहिए। ऐसी विकट अवस्थाओं में किसी सुयोग्य वैद्य की सम्मति लेना उचित है। स्थानिक स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। गरम जल, नीम का जल या बोरिक एसिड के पानी से भग को धोना चाहिए। यदि रोग की उत्पत्ति श्वेत-प्रदर या सूज़ाक के कारण हुई हो तो परमैगनेट पोटास के जल से धोने से विशेष लाभ होता है। विषैले कीटाणुओं को मारने के लिए रस-कपूर का जल बहुत उपयोगी है। अधिक पीड़ा या स्राव बन्द करने के लिए सङ्कोचकर द्रव्यों—वड़, पीपल, गूलर, पाकर, पारस पीपल आदि—के जल से धोना चाहिए। शोथ के अधिक होने पर रसोत और भाँग को मकोय के पानी में पीस कर लेप करना चाहिए। पीव इकट्ठा हो जाने पर किसी योग्य सर्जन के द्वारा चीरा दिला कर घाव में बोरिक एसिड या मसूर की बुकनी छिड़कनी चाहिए। कोष्ठ की सफ़ाई के लिए तीन तोला एरण्ड का तेल दूध के साथ मिला कर या सनाय, हरड़, गुलाब का फूल, मुनक्का, उन्नाब, गावज़वाँ, मुलेठी और बनफ़शा को समभाग में २ तोले लेकर आध सेर पानी में पकाने के बाद जब एक छटाँक शेष रहे तब गुनगुना पिला देवे। ज्वर की हालत में इस क्वाथ में कासनी मिलाना चाहिए। यदि किसी लड़की को इस रोग के

कारण मूत्र-त्याग करते समय तीव्र वेदना होती हो, तो उसे गरम पानी के टब में बैठा कर मूत्र-त्याग कराना चाहिए। इससे पीड़ा कम होगी और शोथ भी अच्छा हो सकता है। पथ्य में विशेषतः दुर्बल स्त्रियों को पौष्टिक, हलके और दस्तावर आहार—दूध, सागूदाना, बार्ली देना चाहिए। उष्ण खाद्य से बचना चाहिए।

भगोष्ठ का कोथ

इस रोग में भग के ओष्ठ शोथ के कारण सड़ने लगते हैं। यह विशेषतः उन लड़कियों को होता है, जिनकी अवस्था ५ से १२ वर्ष की है, जिन्हें माता का दूध यथेष्ट मात्रा में पीने को नहीं मिला है, जो शरीर से दुर्बल या रुग्ण हैं अथवा जिनके शरीर में विषम ज्वर (Malaria) का विष प्रवेश कर गया है। शीतला निकलने या भग में चोट लगने से भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। पहले तो भगावरक (भग को ढकने वाली) झिल्ली में शोथ होने के कारण वह दिन-प्रतिदिन सड़ने लगती है। फिर भग का सम्पूर्ण भाग गल कर गिर जाता है। पेड़ू का कुल गड्ढा ख़राब हो जाता है और अन्त में रोग नीचे जङ्घों की ओर बढ़ने लगता है। दुर्बलता, ज्वर और अल्प वेदना होती है।

इसमें शारीरिक चिकित्सा की अपेक्षा स्थानिक चिकित्सा

विशेष लाभदायक है। पोश्त की डण्डी को जल में पीस कर रुग्ण स्थान पर सेंक करे और अचेतन भाग को किसी क्षार या कार्बोलिक अथवा नाइट्रिक एसिड से जला दे। उसे नीम और नागरमोथे के जल से या १० ग्रेन परमैं-गनेट पोटास को १ पाइण्ट जल में घोल कर धोवे, फिर सुखाने वाली चीज़ों—रेल का कोयला, घड़े का कोयला, मेहदी या मसूर—की बुकनी छिड़क कर बाँध दे। यह क्रिया दिन में चार-पाँच बार करनी चाहिए। व्रण के चैतन्य और साफ़ होने पर उसमें नीम का कल्क या आयडोफ़ॉर्म और बोरिक एसिड का मिश्रण डाल कर बाँध देना चाहिए। पेट की सफ़ाई, बलकारक औषधियों और पुष्टिकर भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूध, रोटी, चावल और मांस-रस खाना उपयोगी है।

भगार्श

भग में अर्बुद, ग्रन्थि, कन्द आदि के सिवाय एक और भी रोग होता है, जिसे भगार्श या भग का मस्सा कहते हैं। इसमें भगत्वचा के भीतरी दाने बढ़ कर एक प्रकार का उभार पैदा करते हैं, जो आगे चल कर मस्से का आकार धारण करते हैं और भगार्श कहलाने लगते हैं। यह प्रायः भग को साफ़ न करने और उपदंश या सूज़ाक का पीब लगने के कारण पैदा होता है। उभार पहले तो चपटा और दानेदार होता है, परन्तु पीछे लाल

हो जाता है और इससे पीब बहने लगती है। कभी-कभी दाने मटमैले और पीप-रहित भी देखे जाते हैं जिनमें पीड़ा के साथ कण्डू और रक्तस्राव होता है।

बढ़े हुए मस्सों को क़ैंची आदि किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काट देना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो उनमें रस-कपूर या तूतिया अथवा सेविन पाउडर (Seven Powder) छिड़क दे। पेट को साफ़ रक्खे तथा भोजन को लघु और पौष्टिक।

भगोष्ठ तथा भगाङ्कुर-सम्बन्धी अर्बुद

यह रोग प्रायः कुलटा स्त्रियों और वेश्याओं को होता है। इसकी उत्पत्ति उपदंश या सूज़ाक के कारण होती है। इसमें भगोष्ठ तथा भगाङ्कुर दोनों स्थान मोटे पड़ जाते हैं और इसी कारण इसे 'हस्तिभग' भी कहते हैं। कभी-कभी यह रोग इतना बढ़ जाता है कि भग देखने से नारियल के समान बड़ा मालूम होता है। इसके लक्षण प्रायः आयुर्वेदोक्त योनि-कन्द से मिलते-जुलते हैं।

किसी योग्य सर्जन के द्वारा गाँठ को कटवा कर निकाल देना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति के शस्त्र-क्रिया करने से अधिक रक्तपात का भय रहता है। चिकित्सा और पथ्य व्रण के अनुसार।

भगनाड़ी का अर्बुद

योनि के अग्रभाग में या भग के भीतर श्लेष्मिक रस

उत्पन्न करने वाली ग्रन्थि-नाड़ियों का मुख बन्द हो जाने के कारण भग-नाली के अग्रभाग पर एक प्रकार की अखरोट या नींबू के समान गाँठ बँध जाती है। इससे स्त्री को सहवास या चलने-फिरने के समय कष्ट होता है। इसमें शोथ होने के कारण कभी-कभी व्रण और कभी अन्त्र-वृद्धि का भ्रम होता है। परन्तु अर्बुद तथा उपरोक्त दोनों रोगों में बहुत भेद है। व्रण-शोथ में फोड़ा, वेदना, चमक, लालिमा, ज्वर, दाह, प्यास आदि लक्षण पाए जाते हैं, परन्तु अर्बुद में न तो ये लक्षण पाए जाते हैं और न स्थानिक त्वचा ही शोथयुक्त होती है। यदि अन्त्र-वृद्धि का भ्रम हो तो उभरी हुई जगह पर उँगली रख कर रोगी को खाँसने दो, आँत उतरी होगी तो खाँसने पर दबाव के कारण नीचे चली जायगी और खाँसी बन्द होते ही ऊपर सरक कर पुनः अपने स्थान पर आ जायगी। दूसरा उपाय यह है कि उँगलियों से आँत को धीरे-धीरे दबाए, यदि आँत गुड़-गुड़ाहट के साथ भीतर चली जाय और वह स्थान कोमल तथा लचकदार हो जाय और पाचकेन्द्रियों में किसी प्रकार का विकार न हो तो अन्त्रवृद्धि समझनी चाहिए। इस प्रकार भी भ्रम का निवारण न हो सके तो एक नोकदार मोटी सुई लेकर गाँठ में छेद कर दो। फोड़ा होगा तो सुई की नोक में पीव लगा हुआ मिलेगा और गाँठ होगी तो सुई के मुख पर साफ़ और चिकना पानी लगा रहेगा।

गाँठ को छेद कर उसका जल निकाल देने के बाद भीतर की थैली काट देनी चाहिए, नहीं तो उसमें फिर जल भर जाने की आशङ्का रहती है।

भग-ग्रन्थि

यह भग के भीतर एक प्रकार की कोमल और लचक-दार गाँठ है, जो भगोष्ठों में रक्त-सञ्चय होने या प्रसव-काल में दबाव के कारण शिराओं के फटने से पैदा होती है। इसमें शोथ के साथ-साथ मन्द पीड़ा होती है। कभी-कभी अधिक रक्त सञ्चित हो जाने के कारण उस स्थान की त्वचा सड़ने लगती है और रक्तस्राव भी जारी हो जाता है। इससे रोगी को दुर्बलता, अग्निमान्द्य और अरुचि होती है।

व्रण के साथ रक्त बह रहा हो तो टिङ्कचर स्टील या शीतल जल में कपड़ा भिगो कर उसे घाव के ऊपर बाँध देना चाहिए। गाँठ से रक्त निकलता हो तो एक सुई से गाँठ फोड़ कर उसे बाहर निकाल देना चाहिए। इस क्रिया में किसी चिकित्सक की अनुमति लेनी उचित है, क्योंकि रक्त के अधिक मात्रा में या अनियमित रूप से निकलने से हानि होती है। मांस-ग्रन्थि, अर्बुद या शोथ के समान भग के भीतर एक प्रकार की मेदोग्रन्थि भी होती है। यह ग्रन्थि मेद-निर्मित होने के कारण छूने में कोमल तथा चिकनी होती है। हड्डियों में विकार होने से भग के भीतर

एक प्रकार की हड्डी निकल आती है, जिसे अस्थि-ग्रन्थि रोग कहते हैं। इस तरह की सब हड्डियों और ग्रन्थियों को काट कर निकाल देना चाहिए।

अर्श-रोग के मस्से गुदा के अतिरिक्त कान, मुख, नासिका, नेत्र, लिङ्ग, भग तथा योनि में पाए जाते हैं। स्थान-भेद के अनुसार उनके नामों में भिन्नता होती है।

वातादि के कुपित होने से रक्त और मांस में दोष उत्पन्न होता है। यह दूषित मांस धीरे-धीरे उभरने लगता है। और अन्त में गाढ़मूल पाकरहित तथा मन्द-मन्द पीड़ा देने वाली एक गाँठ बँध जाती है, जिसे अर्बुद या अर्श कहते हैं। वातादि दोषों के अनुसार इन गाँठों की चिकित्सा की जाती है।

भग-कण्डूपन

भगोष्ठों तथा योनिरन्ध्र में बेचैनी पैदा करने वाली एक प्रकार की खुजली होती है, जिसे भग-कण्डूपन या भग की खुजली कहते हैं। यह रोग प्रायः उन स्त्रियों के होता है जिनका स्वभाव तेज हो, जिनकी भगेन्द्रिय में मलिनता के कारण जूँ पड़ गई हों अथवा जिनके रक्त-सञ्चार में किसी प्रकार की त्रुटि हो। रजःकुसुम या श्वेत-प्रदर का क्लेद लगने, मधुमेह में मूत्र के साथ अधिक शर्करा (Sugar) निकलने, मासिक स्राव की विकृति, प्रसव-काल के समीप भगोष्ठों में रक्तसञ्चित होने से, युवावस्था के आरम्भ या

भग-शोथ होने के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। खुजली सब समय वर्त्तमान नहीं रहती, परन्तु चलने-फिरने से, गरम बिछौने पर सोने से अथवा मासिक स्राव के दो-तीन दिन पहले आरम्भ होती है और धीरे-धीरे यहाँ तक बढ़ती है कि खुजाते-खुजाते उस स्थान पर घाव हो जाता है, तथा बेचैनी मालूम होने लगती है। खुजाने के कारण कभी-कभी स्नायविक वेदना उत्पन्न होती है, और कुछ स्त्रियों को हस्त-मैथुन की आदत पड़ जाती है। यह खाज दिन की अपेक्षा रात में अधिक होती है।

इस रोग की शान्ति के लिए शरीर और पेट की सफ़ाई रखनी चाहिए। गुलाब का फूल, सनाय, हरड़, मिश्री और मुनक्के का हलका विरेचन (जुलाब) देने से पेट साफ़ हो जाता है।

(१) छूत-नाशक औषधियों—रस-कपूर आदि—के जल से भग को नित्य धोना चाहिए अथवा उसमें पारे या गन्धक का मरहम लगाना चाहिए।

(२) नीम या कारबोलिक साबुन से धोकर प्रति-दिन तीन-चार बार गरम जल से धोना चाहिए या गरम जल के टब में नाभि-पर्यन्त बैठ कर स्नान करना चाहिए।

(३) धो चुकने के बाद तेल में कपूर या चोकर मिला कर अथवा चोकर में कपूर या सोडा मिलाकर मलना चाहिए। इससे शीघ्र लाभ होता है।

योनि-शोथ

योनि-शोथ के अनेक कारणों में उपदंश, सूज़ाक, श्वेत-प्रदर आदि रोगों का विषैला पीव लग जाना भी एक है; परन्तु इस प्रकार के शोथ का वर्णन उपरोक्त रोगों के प्रकरण में किया जायगा। यहाँ केवल साधारण योनि-शोथ का वर्णन होगा। योनि में किसी प्रकार आघात लगने, विपरीत पिचकारी या विस्फोटक ज़्वर आदि के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। इसके पुरातन और नवीन नामक दो भेद हैं। नवीन शोथ में योनि की श्लेष्मिक झिल्ली सूज जाती है। पहले-पहल इसमें से किसी प्रकार का जल नहीं निकलता, परन्तु कुछ दिनों के बाद पतला पीव निकलने लगता है। योनि के भीतर स्थान-स्थान पर घाव हो जाते हैं, समीपवर्ती थैलीदार झिल्लियों में पीव भरने से व्रण पैदा हो जाते हैं तथा कभी-कभी अगली और पिछली दीवारें भी गल कर गिर जाती हैं। अगली दीवार में छेद होने से योनि और भग खुल कर एक हो जाते हैं और पिछली दीवार का छेद योनि को गुदा से मिलाता है।

आजकल प्रायः पुराना शोथ ही देखा जाता है। यह युवावस्था में होता है और प्रसव के समय बड़ी हानि पहुँचाता है। योनि-आवरक श्लेष्मिक झिल्ली सूज़ कर पीव से भर जाती है। इस पीव का धीरे-धीरे बाहर निकलते रहना श्वेत-प्रदर कहलाता है। कभी-कभी नवीन शोथ भी

अधिक काल व्यतीत हो जाने के कारण पुरातन का रूप धारण कर लेता है। यह अधिकतर उन स्त्रियों को होता है जिनका शरीर निर्बल है, जो अधिक मैथुन करती है या जिन्हें अधिक परिमाण में मासिक स्राव होता है। प्रथम प्रसव में बच्चे के देर से बाहर आने के कारण योनि में बच्चे के सिर की रगड़ लगती है। इससे यह शोथ उत्पन्न होता है। ऋतुकाल में शीत लगने, पथरी-रोग होने और सफ़ाई न रखने से भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। योनि, कमर और कूल्हों में पीड़ा, भग में सुरसुराहट और खुजली, शरीर में ज्वर, योनि में भारीपन, गाढ़े और छीछड़ेदार पीब का स्राव, बार-बार मल-मूत्र त्यागने की इच्छा, मूत्र-त्याग के समय जलन और वस्ति-स्थान में पीड़ा इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। भीतर व्रण के पैदा हो जाने पर उसकी पीड़ा का चीस भी मालूम पड़ता है। फोड़े के स्वतः फूट जाने पर भग से पीब की धार बह निकलती है और पीड़ा कम हो जाती है। इस पीब का उद्‌गम-स्थान निश्चित करते समय यदि पीब गाढ़ा, छीछड़ेदार और अम्ल हो तो समझना चाहिए कि योनि से निकल रहा है, पीब लसदार और चिपचिपा हो तथा स्त्री ज्वर, दाह, तृष्णा, भ्रम आदि व्याधियों से पीड़ित हो तो समझना चाहिए कि गर्भाशय की ग्रीवा से और अण्डे के रङ्ग वाला हो तो गर्भाशय से। नूतन शोथ के पुराने पड़ जाने पर पीब का रङ्ग बदल

कर श्वेत हो जाता है और अधिक परिमाण में बाहर निकलने लगता है। स्त्री अरुचि, निवन्ध, कमर-पीड़ा तथा अग्निमान्द्य के कारण क्षीण और दुर्वल हो जाती है।

नई सूजन में रोगी के लिए चलना-फिरना हानिकारक है। दिन में तीन-चार वार योनि में गरम जल की पिचकारी देनी चाहिए और नाभि-पर्यन्त गरम जल के टब में वैठ कर स्नान करना चाहिए।

(१) अङ्कोल की छाल, कनेर की छाल, चमेली के पत्ते, हुलहुल और अमलतास की छाल समान भाग में लेकर गोमूत्र में पीस ले। थोड़ा सा सेन्धव नमक मिला कर गरम करके योनि में रक्खे। इससे पीड़ा शान्त होती है।

(२) वेलेडोना और मार्फ़िया (अफीम का सत), दोनों की वत्ती वना कर भग में रखने से पीड़ा शीघ्र शान्त होती है।

(३) फिटकिरी की पिचकारी देकर वोरिक एसिड का चूर्ण छिड़कने से पीव वन्द होता है।

यदि पीव इकट्ठा हो रहा हो तो किसी अनुभवी चिकित्सक से चीरा दिला कर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

पुरातन शोथ की चिकित्सा में निम्नलिखित औषधियों का व्यवहार होता है :—

(१) वड़, पीपल, पाकर, गूलर और माजूफल का

क्वाथ बना कर योनि में उसकी पिचकारी दे और उसी के टब में बैठ कर स्नान करे।

(२) कार्बोलिक एसिड या रसकपूर के जल से योनि को अच्छी तरह धोने के बाद कास्टिक लोशन या एक आउन्स जल में एक ड्राम नाइट्रिक ऑफ़ सिलवर का लोशन बना कर पिचकारी दे। फिर १० ग्रेन कार्बोलिक एसिड और एक आउन्स ग्लिसरीन एक साथ मिला कर उसमें कपड़ा या रूई भिगावे और योनि में रक्खे।

नवीन शोथ में कोष्ठ-शुद्धि के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। पेट की सफ़ाई के लिए निम्न-लिखित औषधियाँ काम में लाई जा सकती हैं—

(१) तीन तोला एरण्ड का तेल (Castor Oil) एक पाव दूध में मिलाकर।

(२) तीन तोला गुलकन्द दूध के साथ।

(३) हरड़, सनाय, गुलाब का फूल, मिश्री और मुनक्के की छः माशे की गोली गरम जल या दूध के साथ।

(४) यदि रोगिणी को ज्वर आता हो तो चिरायता, कुटकी, नीम की छाल, गिलोय, नागरमोथा और सोंठ का क्वाथ प्रतिदिन प्रातःकाल।

खाने के लिए पुराने चावल का भात, मांस-रस, साबू-दाना, जौ की पेया, दूध और फल देने चाहिए।

पुरानी सूजन में स्वास्थ्य के साधारण नियमों का

उचित पालन करने के अतिरिक्त भारी, गरम और क़ाबिज़ चीज़ों से परहेज़ रखना तथा अधिक मैथुन से बचना चाहिए। दुर्बलता दूर करने के लिए बल-वर्द्धक आहार और औषधियों का सेवन करना चाहिए:—

(१) प्रातःकाल मधु के साथ अभ्रक और लौह-भस्म की एक रत्ती की मात्रा खाने और भोजन के एक घण्टे बाद द्राक्षासव पीने से शरीर की दुर्बलता शीघ्र दूर होती है।

(२) ज्वर आता हो तो चिरायता, कुटकी, नीम की छाल, गिलोय, नागरमोथा और सोंठ का क्वाथ पिलाना तथा अन्य विकृतियों के प्रतिकार का यथोचित प्रयत्न करना चाहिए।

(३) शरीर और शिर में तेल की मालिश करने और मलाई तथा मिश्री के साथ प्रवाल-भस्म का सेवन करने से अच्छी तरह नींद आती है।

सङ्कीर्ण योनि

यह रोग योनिच्छद-कला का छिद्र बहुत छोटा होने, उसमें निरन्तर शोथ होने, गर्भाशय का स्थान भ्रष्ट होने, स्त्री की प्रकृति स्नायविक (वायुगोला) होने, ऋतु का विकार, भीतरी रोग या आँतों की विकृति के कारण उत्पन्न होता है। योनि-द्वार के चारों ओर पेशी-सूत्रों और आवरण में वेदना होती है। इसके दो भेद हैं, एक में स्तम्भ और उद्वेष्टन-सम्बन्धी सङ्कीर्णता होती है और दूसरे

में भीतरी व्रण, अर्बुद या गाँठ-सम्बन्धी। प्रथम प्रकार की सङ्कीर्णता में प्रत्यक्ष रूप से कोई कारण ज्ञात नहीं होता, केवल भग और गुदा में एक प्रकार की ऐंठन होती है, जिससे योनि का मुख सङ्कीर्ण हो जाता है और उसमें मैथुन करने की योग्यता नहीं रह जाती। ऐसी स्त्री का पति सहवास के समय कष्ट पाता है और स्त्री प्रायः वन्ध्या हो जाती है। रुग्ण स्त्रियाँ पुरुष-समागम से भय-भीत होती हैं, उनका मन चिन्तित रहता है और कभी-कभी हिस्टीरिया के लक्षण भी दीखने लगते हैं। इस रोग में स्थानिक लक्षणों का सर्वथा अभाव होते हुए भी योनि में उँगली डाल कर देखने से योनि-सङ्कोच का स्पष्ट ज्ञान होता है। दूसरे प्रकार की सङ्कीर्णता के दो भेद हैं—विशेष और साधारण। विशेष सङ्कीर्णता असाध्य होने के कारण उसके सम्बन्ध में कुछ लिखना व्यर्थ है। साधारण सङ्कीर्णता की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि योनि के भीतर शोथ, व्रण या कोथ के अच्छे होने पर उसमें दाग़ (चिन्ह) पड़ जाते हैं और इन्हीं दाग़ों से यह रोग पैदा होता है। यह सङ्कीर्णता कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि मैथुन की तो बात ही क्या, मासिक स्राव तक बन्द हो जाता है और प्रसव के समय बालक का सिर निकलना असम्भव हो जाता है। विशेष सङ्कीर्णता में योनि-आवरक कला खुरदरी हो जाती है। अधिक मात्रा में दुर्गन्धित रक्त और

पीब निकलता है तथा भीतर छेद हो जाने के कारण गुदा और भग एक में मिल जाते हैं। इन सब रोगों में किसी चतुर सर्जन के द्वारा अस्त्र क्रिया कराना ही एकमात्र उपाय है।

योनि-अवरोध

जननेन्द्रिय-मार्ग में किसी रुकावट के कारण स्राव और कफ का इकट्ठा हो जाना योनि-अवरोध कहलाता है। यह तीन स्थानों पर होता है, कुमारीच्छद कला में, योनि में और गर्भाशय की ग्रीवा में। जरायु-ग्रीवा-सम्बन्धी योनि-अवरोध का वर्णन जरायु-रोगों के प्रकरण में होगा। कुमारीच्छद-सम्बन्धी अवरोध में गर्भिणी स्त्रियों की उक्त कला पहले की अपेक्षा अधिक मोटी और दृढ़ हो जाती है, आर्त्तव के सञ्चित होने से योनि सामने की ओर ढल जाती है और वस्ति-गह्वर का सारा स्थान रक्त से भर जाता है। यदि किसी उपाय से यह संगृहीत रक्त बाहर न किया गया तो योनि-प्राचीर का क्रमशः प्रसार होने लगता है और अन्त में योनि फट जाती है। यह रक्त पीले-लाल रङ्ग का और राब या शीरे के समान गाढ़ा होता है।

काल-भेद से इसके दो भेद होते हैं—कारण-जनित और आजन्म। कारण-जनित अवरोध में चोट, आरक्त-ज्वर, शीतला आदि के घावों के सूखने पर योनि सङ्कुचित हो जाती है। आजन्म-योनि-अवरोध में युवावस्था के

पहले कुछ भी कष्ट नहीं होता। परन्तु मासिकधर्म आरम्भ होने पर ऋतु-स्राव और पति-समागम के समय वेदना होती है। मासिक-स्राव-सम्बन्धी सब लक्षणों के प्रकट होते हुए भी आर्तव बाहर नहीं निकलता और योनि फूल जाती है। ऋतुकाल में वस्ति-स्थान पर वेदना होती है, योनि को दबाने या मल-मूत्र त्यागने के समय पीड़ा होती है और तलपेट तना हुआ मालूम होता है। ठीक समय पर इसकी चिकित्सा न करने से जरायु फट कर स्त्री की मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी अवरोधक झिल्ली के स्वतः फटने से भी अवरोध नष्ट होता है, पर इसका अन्तिम परिणाम अच्छा नहीं होता।

कुमारीच्छद को काट कर या अन्य किसी उपाय से ऋतुस्राव के लिए मार्ग बना देना चाहिए। इसकी चिकित्सा बन्ध्या के समान की जाती है।

योनि-व्यापति रोग

वैद्यक ग्रन्थों में मिथ्या आहार-विहार, ऋतु-दोष तथा योनि-सम्बन्धी अन्य रोगों के कारण उत्पन्न होने वाले बीस प्रकार के योनि-दोषों का वर्णन पाया जाता है; इन्हें योनि-व्यापति रोग कहते हैं। वात, पित्त और कफ के दोष तथा सन्निपात इनके प्रधान कारण हैं।

(१) वात-योनि में रुक्ष, शीत और लघु पदार्थों के सेवन, अधिक मैथुन, परिश्रम, रात्रि-जागरण, शोक, भय,

चिन्ता आदि के कारण वात-प्रकृति वाली स्त्री का वायु कुपित होकर योनि में जकड़ाहट, सुई चुभने के समान वेदना, चींटी सी लगना और कठोरता पैदा करता है। पीड़ा और शब्द के साथ रुक्ष, पतला और झागदार आर्तव निकलता है।

(२) पित्त-योनि में कटु (चरपरा) अम्ल, लवण, क्षार, तेज और गरम चीज़ों के खाने तथा धूप या आग के पास बैठ कर काम करने से पित्त कुपित होकर योनि में पित्त-लक्षण वाले रोगों को उत्पन्न करता है। पीड़ा के साथ ज्वर, दाह, तृष्णा और उष्णता का अनुभव होता है। नीला, पीला, काला, अत्यन्त गरम और दुर्गन्ध-युक्त आर्तव निकलता है।

(३) कफ-योनि में स्निग्ध, शीत, गुरु (देर में पचने वाले) और मधुर पदार्थों के सेवन, वायु पैदा करने वाले व्यायाम, मैथुन, भय, शोक, चिन्ता आदि के अभाव तथा दिन में भोजन करने के बाद तुरन्त सो जाने से कफ कुपित होकर शरीर में अरुचि, आलस्य प्रसेक, हृल्लास (वमन की प्रवृत्ति) तथा भारीपन पैदा करता है। योनि शीतल, चिकनी और पीली हो जाती है। मन्द पीड़ा और खुजली के साथ लसदार और गाढ़ा आर्तव निकलता है।

(४) सन्निपात-योनि में पथ्यापथ्य के नियमों का उल्लङ्घन होने के कारण वातादि तीनों दोष एक साथ कुपित

होकर योनि में नाना प्रकार के रोगों की सृष्टि कर देते हैं। इन रोगों में प्रत्येक दोष के लक्षण पाए जाते हैं, योनि में भयङ्कर वेदना होती है और सफ़ेद लसदार रक्त निकलता है।

इन रोगों के कारण योनि में शुक्रार्तव ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है, गर्भ स्थित नहीं होता, और गर्भाभाव के कारण गुल्म, अर्श, प्रदर आदि नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। नीचे इन रोगों के भिन्न-भिन्न भेदों का वर्णन किया जायगा :—

(१) अप्रजा-योनि—आहार-दोष से क्रमशः पित्त की वृद्धि होकर रक्त दूषित हो जाता है और आर्तव अधिक निकलने लगता है। इसमें गर्भ-स्थिति होते हुए भी सन्तान उत्पन्न होना असम्भव है। इसका दूसरा नाम रक्त-योनि या लोहितक्षरा है।

(२) अनार्तवा-योनि—पित्त कुपित होकर योनि और गर्भाशय के रक्त को दूषित करता है और सुखा देता है। इससे आर्तव का बहना बन्द हो जाता है और स्त्री क्षीण और दुर्बल हो जाती है।

(३) अचरणा-योनि—योनि-मार्ग को साफ़ न रखने के कारण उसमें मल के सड़ने से एक प्रकार के सूक्ष्म कीड़े पैदा होकर खुजली उत्पन्न करते हैं। इस कारण स्त्री को पुरुष-समागम की अधिक इच्छा होती है और कभी-कभी

हस्त-मैथुन का अभ्यास भी पड़ जाता है। इसको वाग्भट्ट में विहनुता-योनि माना है।

(४) अतिचरणा-योनि—इस रोग में अधिक मैथुन करने के कारण वायु का प्रकोप होता है, जिससे योनि में पीड़ा उत्पन्न होती है और इसका स्पर्श-ज्ञान नष्ट हो जाता है।

(५) प्राक्चरणा-योनि—बाल्यावस्था में किसी दृढ़-लिङ्ग युवा पुरुष के साथ मैथुन करने से वायु कुपित होकर पीठ, जाँघ, पिण्डली और वक्षस्थल में पीड़ा तथा योनि में विकार उत्पन्न करता है।

(६) उपप्लुता-योनि—गर्भिणी स्त्रियाँ जब कफ-वर्द्धक पदार्थों का अधिक सेवन करती हैं या वमन, श्वासादि शारीरिक वेगों को रोकती हैं तो वायु कुपित होकर योनि में कफ सञ्चित करता है। इससे योनि में पीड़ा के साथ विकार उत्पन्न होता है और पीला अथवा श्वेत रङ्ग का लसदार कफ बाहर निकलता है। शरीर में कफ और वात-दोष से उत्पन्न होने वाली अन्य बीमारियों का भी आक्रमण होता है।

(७) परिप्लुता-योनि—जब पित्त-प्रकृति वाली स्त्रियाँ मैथुन करते समय छींक या डकार के वेग को रोकती हैं, तो उनकी योनि में वात और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ प्रकट होती हैं। शोथ, पीड़ा और बेचैनी के साथ नीले-पीले रङ्ग का रक्त बाहर निकलता है।

ज्वर का आक्रमण होता है तथा नितम्ब, पीठ और कूल्हों में वेदना होती है।

(८) उदावर्ता-योनि—वायु, मूत्र या पुरीष आदि वेगों को रोकने से वायु कुपित होकर योनि को ऊपर की ओर घुमा देता है। इससे आर्तव के प्रवाह-मार्ग में बाधा उपस्थित होती है और योनि में वेदना उत्पन्न हो जाती है।

(९) कर्णिनी-योनि—प्रसवकाल में पीड़ा के न होते हुए भी जब स्त्री ज़ोर लगाती है तो गर्भ के दबाव से वायु नीचे उतरता है। कफ और रक्त के साथ उसका संयोग होकर योनि के भीतर फूल की कली के समान एक ग्रन्थि पैदा हो जाती है। इससे मासिक स्राव के समय कष्ट होता है।

(१०) पुत्रघ्नी-योनि—इसमें वायु-दोष के कारण गर्भ स्थित होकर नष्ट हो जाया करता है। इसको जातघ्नी-योनि भी कहते हैं।

(११) अन्तर्मुखी-योनि—भरपेट भोजन करने के बाद मैथुन करने या मैथुन-काल में टेढ़े सोने से योनि-स्रोतों में वायु दब कर योनि-मुख को भीतर की ओर टेढ़ा कर देता है। इससे योनि में वेदना होती है।

(१२) सूचीमुखा-योनि—गर्भिणी की अवस्था में माताएँ जब नियमानुसार आचरण नहीं करती हैं तो वायु कुपित होकर गर्भस्थ कन्या के योनि-मुख को सङ्कुचित कर

देता है। इससे जन्म होने के बाद भी कन्या का योनि-छिद्र अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है।

(१३) वामिनी-योनि—मैथुन-काल में वातादि वेगों को रोकने से वायु कुपित होता है। इस कुपित वायु के कारण मल-मूत्र रुक जाते हैं, योनि में शुष्कता आती है और पेडू के भीतर वेदना होती है। इसके अतिरिक्त गर्भाशय में प्रविष्ट हुआ शुक्र छठें या सातवें दिन बाहर निकल आता है जिससे गर्भ नष्ट हो जाता है।

(१४) षण्ढी-योनि—कभी-कभी माता-पिता के रज-वीर्य-दोष से कन्याओं की अवस्था अधिक हो जाने पर भी उनकी जननेन्द्रियाँ विकसित नहीं होतीं। न तो उनमें स्तनों का उभार होता है और न पुरुष-समागम की इच्छा। इस रोग को षण्ढी-योनि कहते हैं।

(१५) महा-योनि—रमण-स्थान के सुखप्रद न होने या उपयुक्त शय्या आदि के अभाव में मैथुन करते समय कष्ट होता है। इससे वायु कुपित होकर योनि और गर्भाशय के मुख को चौड़ा कर देता है। कहीं-कहीं मांस भी उभर कर ऊँचा हो जाता है। इसमें वेदना के अतिरिक्त रुक्ष और झागदार रक्त बाहर निकलता है।

(१६) शुष्क-योनि—ऋतुकाल में वातादि वेगों (दस्त, पेशाब आदि की हाजत) के रोकने से वायु विगड़ कर दस्त-पेशाबों को रोक देता है और योनि के भीतर अत्यन्त

शोष होने से उसमें अत्यन्त वेदना प्रकट कर देता है। इसको शुष्क-योनि कहते हैं। इस प्रकार वात, पित, कफ और सन्निपात के चार, सोलह अन्य, सब मिला कर २० योनि-रोग होते हैं।

इन रोगों में से प्रथम दो, अर्थात् रक्त और अनार्तवा-योनि पित्त के विकार से, परिस्रुता और वामिनी वात और पित्त के दोष से तथा उपप्लुता और कर्णिनी वात और कफ के कारण पैदा होती हैं। शेष रोगों में वात-दोष की प्रधानता होती है। अतः इनकी चिकित्सा करते समय इनको उत्पन्न करने वाले दोषों पर ध्यान देना चाहिए और उन्हीं के अनुसार चिकित्सा की प्रणाली स्थिर करनी चाहिए। उक्त दोषों की शान्ति को लक्ष्य में रखते हुए शमन और शोधन करने वाले उपचारों का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। जिन योनि-रोगों का वर्णन यहाँ नहीं हुआ है, उनकी चिकित्सा करने के पहले उनके लक्षणों को देखना चाहिए और फिर उन्हीं लक्षणों के अनुकूल व्यवस्था करने से लाभ की आशा की जा सकती है। नीचे इन रोगों की विशिष्ट चिकित्सा का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

स्थान-भ्रष्ट योनि को पहले गरम हाथ या कपड़े से सेंक कर कोमल बना लेना चाहिए। फिर हाथ में तेल या घी लगा कर उसे पकड़ना चाहिए और उसके उचित

स्थान पर रख देना चाहिए। यदि योनि-द्वार बन्द हो गया हो तो किसी उपयुक्त शस्त्र या उँगली से धीरे-धीरे खींच कर उसे बढ़ा देना चाहिए। बाहर निकली हुई योनि को रूई या कपड़े के सहारे पकड़ कर भीतर कर देना चाहिए। योनि का मुख बहुत फैल गया हो तो उसे चारों ओर से सिकोड़ कर एकत्र करना चाहिए। फिर योनि-सङ्कोचक औषधियों के जल से धोना और उन्हीं में फ़ाया भिगो कर मुख पर रखना चाहिए। इससे मुख सङ्कुचित होकर छोटा पड़ जायगा।

वात-दोष से उत्पन्न होने वाले योनि-रोगों में वात को शान्त करने के लिए स्नेह (घृत आदि पिलाना), स्वेद (बफारा देना), वस्ति (गुदा में पिचकारी लगाना), अभ्यङ्ग (मालिश), लेप, सेंक आदि का प्रयोग करना चाहिए। ध्यान रहे कि इन क्रियाओं में वातनाशक औषधियों का व्यवहार विशेष रूप से किया जाय।

वातला-योनि-रोग में वातनाशक उपचारों के अतिरिक्त निम्नलिखित उपायों को काम में लाना चाहिए :—

(१) जलीय जीवों (जलकाक, केकड़ा आदि) का मांस, ७ तिल, दूध, आँक, सम्हालू, एरण्ड, रास्ना, गोखुरू आदि औषधियों को एकत्र पका कर योनि और समस्त शरीर में स्वेद (बफारा) देना चाहिए। स्वेद दे चुकने के बाद शरीर में नमक और तेल की मालिश कर गरम

जल से स्नान कराना चाहिए। भूख लगने पर मांस-रस के साथ वातनाशक, उष्ण और स्निग्ध भोजन देना चाहिए और निम्नलिखित घृत का प्रयोग करना चाहिए :—

(२) ३२ सेर खरेंटी के क्वाथ में शालपर्णी, अन्धाहुली, जीवली, काकोली, जीवक, ऋषभक, पृष्ठिपर्णी, पीपल छाल, मूँगपर्णी, पिलुवा, माषपर्णी, क्षीर काकोली, कौआठोड़ी और शक्कर, इन औषधियों को समान भाग में कुल सेर भर लेकर जल के साथ पीस, लुगदी बना कर डाल दे और उसमें दो सेर घृत तथा दो सेर तिल का तैल मिला कर मन्द-मन्द अग्नि से पकावे। जब स्नेह मात्र (घी-तेल) अवशेष रहे, उतार छान कर रख ले। इसमें से ६ माशे से १ तोला तक सुबह दूध के साथ सेवन करने से वात-पित सम्बन्धी योनि-रोग दूर हो जाते हैं और कुछ दिनों लगातार सेवन करने से गर्भस्थिति की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है।

(३) दुधवच, काला ज़ीरा, सफ़ेद ज़ीरा, पीपल, अड्सें की छाल, सेंधा नमक, अजमोद, जवाखार, चित्रक छाल और चीनी, सबको सम भाग में लेकर कुल १ तोला मात्रा में, एक तोले घी में भून कर उसकी फक्की लगा कर २ तोला खिंचा हुआ द्राक्षासव या ब्राण्डी शराव बराबर जल मिला कर पीने से योनि-रोग के सिवाय और भी हृद्रोग, पसली का दर्द, गुल्म, अर्शादि रोग दूर होते हैं।

(४) पित्त-योनि-रोग में पित्त-नाशक औषधियों द्वारा सेंक, अभ्यङ्ग (मालिश), पिचु (योनि में औषधियों के रसादि से भीगे हुए फाहे रखना) आदि शीत क्रियाएँ करनी चाहिए और पित्त को शान्त करने वाले शतावरी घृत, वासा घृत आदि व्यवहार करना चाहिए।

(५) शतावरी घृत—काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवन्ती, मूँगपर्णी, शतावर, मुनक्का, फालसा, चिरौंजी, मुलेठी और जल-मुलेठी, सबको एक-एक पाव लेकर लुगदी बना ले। इसमें एक सेर घी, चार सेर शतावर का रस, चार सेर दूध और चार सेर पानी मिला कर अच्छी तरह पका ले। जब घी-मात्र शेष रह जाय तो उतार कर छान ले और उसमें आध पाव मधु, एक पाव पीपल तथा ढाई पाव मिश्री मिला कर रख ले। २ तोले नित्य-प्रति सेवन करे। इससे योनि, रक्त और शुक्र के अनेक दोष नष्ट होते हैं।

कफ-योनि रोग की चिकित्सा करने के पहले उसमें कटु-रस (चरपरा) द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिला कर वस्ति देनी चाहिए। वाद को निम्न-लिखित उपाय काम में लाना चाहिए:—

(१) उड़द के चूर्ण को आक के दूध में थोड़ा सा नमक मिला कर भावना देने के वाद सुअर के पित्त में दो-

तीन बार भावना दे। फिर उसकी तर्जनी उँगली के बराबर मोटी संशोधनी बत्ती बना कर योनि में लगावे।

(२) पीपल, मिर्च, उड़द, सौंफ़, कूट और सेंधा नमक की बत्ती बना कर पूर्ववत् योनि में लगावे।

(३) छः बार गूलर के दूध की भावना दिए हुए तिलों का एक सेर दूध लेकर चार सेर गूलर के काथ में पकावे। उसका फ़ाया योनि में रखने से महायोनि आदि रोग नष्ट होते हैं। इसमें जो कुछ भी उपचार किया जाय वह सब रूक्ष और उष्ण गुण वाली औषधियों का होना चाहिए। वातिक-योनि और गुल्म-हृदय रोगों में घुड़बच, काला ज़ीरा, सफ़ेद ज़ीरा, पीपल, अडूसे की जड़, सेंधा नमक, अजमोद, जवाखार, चित्रक और चीनी को समभाग में लेकर चूर्ण बना लेवे। २ माशे चूर्ण २ माशे घी में भून कर २ तोले ब्राण्डी (शराब) के साथ सेवन करे।

योनि में अर्श (मस्से) उत्पन्न होगए हों तो तिल के तेल में चतुर्थांश चूहे का मांस (अस्थि-रहित और पिसा हुआ) मिलाकर धूप में रख दे। दो-तीन दिनों के बाद तेल निचोड़ कर योनि में उसकी मालिश करे। इससे मस्से नष्ट हो जायँगे।

अचरणा-योनि-रोग में गोपित्त (गोरोचन) अथवा मछली के पित्त में मुलायम मलमल का टुकड़ा भिगो कर सात बार भावना देने के बाद योनि में रखना चाहिए।

इससे योनि शुद्ध होकर जलस्राव, खुजली आदि बन्द हो जायँगी।

वामिनी, उपप्लुता और परिप्लुता योनियों में निम्न-लिखित दो प्रकार से चिकित्सा की जा सकती है :—

(१) स्वेद देने के उपरान्त योनि में वात-नाशक औषधियों से बने हुए घृत-तैलादि में भीगे हुए फाहे, कल्क (लुगदी) आदि रखने चाहिए। इससे योनि कोमल और स्निग्ध होती है।

(२) साल वृक्ष, कौड़िया सेमल, जामुन, धव, वड़, पीपल, गूलर, पाकर और पारिस की छाल के चार सेर क्वाथ में एक सेर तिल का तेल पका कर उसका फ़ाया योनि में रखना चाहिए।

कर्णिनी योनि में कूट, पीपल, आक का पत्ता और सेंधा नमक समान भाग में लेकर बकरे के मूत्र में पीसे। फिर तर्जनी उँगली के समान मोटी बत्ती बना कर योनि में रक्खे। कफ-नाशक औषधियों का भी प्रयोग करना चाहिए।

उदावर्ता, वातला, महा और शिथिल योनियों में निशोथ का तेल पका कर उसका फ़ाया दो-तीन दिनों तक रखने के बाद स्वेद देना चाहिए।

योनि-कन्द के लिए चूहे का मांस काट कर बारीक बना ले। मांस का चतुर्गुण तिल का तेल और तेल का चतुर्गुण पानी डाल कर उसे पकावे और तेलमात्र शेष

रहने पर उतार ले। इस तेल का फ़ाया योनि पर रक्खे। विवृता (बाहर निकली हुई) योनि में भी इसी औषधि का प्रयोग होता है।

विदीर्ण-योनि में सोआ, सौंफ़ या अरहर का पत्ता तिल के तेल में पीस कर गरम करने के बाद लेप करे। इससे शीघ्र लाभ होता है।

बाहर निकली हुई योनि में चूहे की चर्बी का मालिश करना चाहिए। इससे योनि भीतर की ओर चली जाती है। भीतर घुसी हुई योनि में करेले या कटैली की जड़ पीस और गरम कर लेप करने से लाभ होता है।

महायोनि की चिकित्सा के लिए रीछ या सुअर की चर्बी और घी को काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मुलेठी, जीवन्ती और मूँगपर्णी के कल्क में चौगुना जल मिलाकर पका ले। फिर घी को योनि में भर कर ऊपर से किसी कोमल वस्त्र द्वारा बाँध दे। इससे योनि सङ्कुचित हो जाती है।

योनि से दुर्गन्ध निकलती हो तो बड़, जामुन, कैथ, बिजोरा नींबू, आम तथा बेल की कोमल पत्तियाँ, मुलेठी, चमेली का फूल एक साथ पीस कर लुगदी बना ले। फिर एक सेर घी में चार सेर जल मिला कर उक्त औषधियों की लुगदी के साथ पका ले। इस घी को योनि पर लगाने से दुर्गन्ध मिट जाती है।

शिथिल-योनि को दृढ़ करने के लिए लोध और कड़वी तुम्बी को एक साथ पीस कर लेप करना चाहिए अथवा वेंत की जड़ का क्वाथ बना कर योनि को धोना चाहिए। चूहे और चिमगादड़ की चर्बी की मालिश से भी उक्त रोग में लाभ होता है।

उदावर्ता योनि में मासिक-धर्म होने के पाँच-छः दिन पहले से मासिक स्राव के प्रारम्भ होने तक पुराने गुड़ के साथ काले तिलों के क्वाथ का सेवन करे। इस प्रकार प्रति मास आठ-नौ दिन सेवन करने से चार-पाँच महीने में मासिक-धर्म खुल कर ठीक समय पर होने लग जायगा। इस औषधि के स्थान पर मुचकुन्द का फूल और पुराना गुड़ एक-एक तोला कूट कर मधु के साथ सुवह और शाम खाया जा सकता है। इसको भी उपरोक्त औषधि के अनुसार प्रति मास आठ-नौ दिन खाने से तीन-चार महीने में मासिक-धर्म के समय होने वाली पेड़ू और कमर की पीड़ा नष्ट होकर रजोधर्म निश्चित समय पर होने लग जाता है।

वन्ध्या-योनि-रोग में प्रायः कुपथ्य के कारण अथवा स्वभाव से ही मासिक स्राव वन्द हो जाता है और यदि होता भी है तो बहुत ही अल्प मात्रा में। साथ-साथ कमर और पेड़ू आदि स्थानों में पीड़ा होती है। इस रोग में रजःप्रवर्तक योगों के देने पर भी कभी-कभी रजोदर्शन नहीं

होता। इसका मुख्य कारण है रक्त का अभाव। ऐसी अवस्था में पूर्व-लिखित रक्तवर्द्धक योगों का सेवन करना चाहिए। अथवा रोगिणी के बलाबल के अनुसार पहले वमन, विरेचन, वस्ति आदि द्वारा उसकी शुद्धि कर लेनी चाहिए, फिर बड़ की जटा और नागकेशर पाँच-पाँच तोले और गुलशकरी तथा बरियारे की जड़ की छाल आध-आध पाव लेकर चारों का कपड़छन चूर्ण तैयार कर ले। सुबह-शाम चार माशे चूर्ण को पाव भर गाय के गरम दूध और छः माशे मधु के साथ खाय। इस प्रकार ४० दिन निरन्तर सेवन करने से रक्त की वृद्धि होकर बहुत सम्भव है स्वयं ही रजोदर्शन हो जाय। यदि न हो तो निम्न-लिखित रजोवर्द्धक योगों का सेवन करना चाहिए। इससे मासिक-धर्म नियमित रूप से होने लग जायगा।

(१) कड़वी तुम्बी के बीज, दन्ती की जड़, पीपल, पुराना गुड़, मैनफल, सुराबीज, मुलेठी और थूहर का दूध समान मात्रा में लेकर पीस ले। फिर इसकी बत्ती बना कर योनि में रक्खे।

(२) काँजी में पीसे हुए गुड़हल के फूलों को अथवा घीग्वार के रस में पीसे हुए मालकाग्नि के पत्तों को घी में भून कर उचित मात्रा में सेवन करे।

(३) अपामार्ग की जड़, गेहूँ का आटा, कत्था और अफ़ीम, प्रत्येक तीन-तीन माशा लेकर घोट ले और चार-

चार रत्ती की बत्तियाँ बना ले। बत्तियों पर घी लगा कर योनि में रक्खे। इस औषधि को आयुर्वेद में शिखर्यादि वर्त्तिका नाम से लिखा है।

(४) भङ्ग का सत, मुसब्बर, लाल कमल की जड़ और अपामार्ग का बीज समान भाग में लेकर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। दो गोली सुबह को गरम जल के साथ सेवन करना चाहिए। इसको भङ्गादि वटी कहते हैं।

(५) मुसब्बर, कसीस, अफ़ीम, वङ्गभस्म, शीतल-चीनी बराबर-बराबर लेकर पीस ले और दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना डाले। इन्हें कुमारिका वटी कहते हैं। इनको प्रतिदिन जल के साथ सेवन करने से योनि-शूल, रजःकष्ट, गर्भाशय-शूल आदि सम्पूर्ण योनि-रोग नष्ट हो जाते हैं।

(६) गूगल, गन्धक, नखद्रव्य, नकछीकनी और शीतल चीनी दो-दो तोला लेकर कूट ले और इसमें बकरे का पित्ता मिला कर सुखा ले। कण्डे की अग्नि पर थोड़ा सा चूर्ण डाल कर योनि में धुआँ देने से चिरकाल से रुका हुआ आर्तव शीघ्र बहने लगता है। मृतगर्भ को निकालने में भी इसका प्रयोग हो सकता है। यह धुआँ देने से मृत-गर्भ शीघ्र बाहर निकल आता है।

(७) पहले चाँदी, लोहा, बङ्ग, अभ्रक और ताँबे का भस्म, शुद्ध पारा, गन्धक और सुहागा प्रत्येक चार-चार

तोले लेकर उन्हें एक साथ मिलावे और चूर्ण तैयार कर ले। फिर इस चूर्ण को त्रिफला, कूट, देवदारु, दन्तीमूल, अडूसे की छाल, खरैंटी-मूल, करञ्ज, जीवन्ती, तालीस और मकोय के रस अथवा क्वाथ में तीन बार भावना दे। इसके बाद बन्सलोचन, रास्ना, मुलेठी, सेंधा नमक, लौंग, दन्तीमूल और गोखुरू का छः छः माशे चूर्ण तैयार करे और उक्त चूर्ण के साथ मिला दे। सबको अरणी, भाँग या तुलसी के पत्तों के रस में घोट कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। इस औषधि को नष्ट-पुषान्तक रस कहते हैं। इसके सेवन से योनि-शूल, योनि-दाह, योनि-क्लेद, रजोलोप आदि व्याधियाँ दूर होती हैं। औषधि करते समय निम्न-लिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए :—

(१) सन्निपात-योनि में वात, पित्त और कफ योनि-दोषों की मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिए।

(२) अप्रजा-योनि या रक्त-योनि में वातादि दोषों का सम्बन्ध देख कर उसके अनुसार रक्त रोकने की चिकित्सा करनी चाहिए। वात के लक्षण मिलने पर वात के रक्तप्रदर की, पित्त के लक्षणों में पित्त के रक्तप्रदर की और कफ के लक्षण मिलने पर कफ के प्रदर की चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा शास्त्रोक्त 'पुष्पानुग चूर्ण' का प्रयोग करना चाहिए। यह सब प्रदरों को शान्त करता है।

(३) अनार्तवा और पुत्रघ्नी योनि में गम्भारी व कुड़े

की छाल के क्वाथ से पकाया हुआ घी उत्तरवस्ति (योनि में पिचकारी) द्वारा प्रयोग में लाना चाहिए। अथवा मृग, बकरी, भेड़, सुअर इनका रक्त, सेव आदि फलों का रस, शहद और घी के साथ मिला कर पिलाना चाहिए। अथवा अष्टवर्ग की औषधियों से दूध पका कर पिलाना चाहिए। अवशिष्ट योनि-रोगों की चिकित्सा उनके दोषों और लक्षणों के अनुसार करनी चाहिए।

उपरोक्त औषधियों के प्रयोग से मासिक धर्म की शुद्धि करने के पश्चात् गर्भस्थिति और सन्तानोत्पत्ति के लिए शास्त्रों में वर्णित "कुमार-कल्पद्रुम" तथा "फल-घृतों" का व्यवहार करना चाहिए।

जरायुग्रीवावरोध

इस रोग में जरायुग्रीवा की प्रणाली में अवरोध होने के कारण आर्तव रुक जाता है, जिससे पीड़ा और गर्मी उत्पन्न होती है। प्रसव के समय जरायु में रगड़ लगने से घाव उत्पन्न होते हैं। इन घावों के भरने पर या बहुत तेज और गरम औषधियों के लगाने से अथवा व्रणग्रन्थियों की उत्पत्ति के कारण जरायुग्रीवा की प्रणाली का द्वार बन्द हो जाता है। इसे दूर करने के लिए पहले सलाई देकर एक छोटा सा छेद बना लेते हैं, फिर किसी अस्त्र के द्वारा उसे धीरे-धीरे फैला कर बड़ा कर देने से अवरोध नष्ट हो जाता है और ऋतुस्राव होने लगता है।

जरायुग्रीवा का सङ्कोच

इसमें जरायु का बाहरी मुख सिकुड़ कर बहुत ही तङ्ग हो ज़ाता है, यहाँ तक कि मुश्किल से उसके अन्दर एक छोटी सी आलपीन घुस सकती है। सङ्कुचित भाग के ऊपर प्रणाली फूली हुई रहती है। मासिक-धर्म कष्टपूर्वक और स्राव अधिक होता है, मैथुन करने में पीड़ा होती है तथा वन्ध्या के लक्षण पाए जाते हैं। यह रोग आजन्म और कारणिक दो प्रकार का होता है। कारणिक सङ्कोच प्रसव के पश्चात् होने वाले घावों के सूखने या सङ्कोच को एक बार काट कर उसमें तेज, गरम और जलन पैदा करने वाली औषधियों के लगाने से उत्पन्न होता है। श्लेष्मिक झिल्ली का शोथ या उसका छेद बन्द हो जाना भी इसका एक कारण है। इसकी चिकित्सा में शस्त्र-प्रयोग के द्वारा सङ्कुचित भाग को फैलाकर अथवा काट कर ग्रीवा की सङ्कीर्णता दूर करते हैं।

गर्भाशय का शोथ

प्रसव-काल में गर्भाशय की दीवारों और पट्ठों पर दबाव पड़ने से या शारीरिक अस्वस्थता के कारण गर्भाशय में शोथ उत्पन्न होता है। यह कभी गर्भाशय के भीतर, कभी ग्रीवा पर और कभी-कभी दोनों स्थानों पर पाया जाता है। गर्भाशय में सूजन होने पर स्त्री को अकस्मात् कँपकँपी के

साथ ज्वर आता है। फिर क्रमशः अन्य लक्षण प्रगट होते हैं। जाँघों को दबाने में पीड़ा होती है, पेड़ू में भारीपन, जलन और पीड़ा रहती है तथा वस्ति-स्थान में वेदना का अनुभव होता है। कभी-कभी जाँघों और पेड़ू में फड़कन भी होने लगती है। लेटे रहने से पीड़ा कम होती है। गर्भाशय से लसदार और रक्तमिश्रित जल निकलता है, जी मिचलाता है और किसी-किसी को क़ै और दस्त भी होने लगते हैं। यह अवस्था यदि एक सप्ताह के भीतर सुधारी नहीं जा सकी तो रोग पुराना पड़ जाता है, सारे शरीर में फोड़े निकल आते हैं और सूतिका-रोग का उपद्रव होता है। पेट के भीतर उदरच्छदा कला में शोथ का प्रवेश होने पर स्त्रियाँ प्रायः मर जाया करती हैं। परन्तु यदि शोथ अच्छा भी हो जाय तो गर्भाशय कठिन हो जाता है और गर्भाधान के योग्य नहीं रहता या स्त्री को सदा के लिए श्वेत-प्रदर का शिकार होना पड़ता है।

पेट के ऊपर राई का प्लास्टर या कोई गरम पुलटिस बाँधना चाहिए, तारपीन के तेल का सेंक करना चाहिए और स्त्री को नाभि-पर्यन्त गरम जल के टब में बैठाना चाहिए। जोंक लगाने और भग में बरफ़ रखने से भी शोथ की शान्ति होती है।

गर्भाशय का आभ्यान्तरिक शोथ

इसमें गर्भाशय की भीतरी लुआबी झिल्ली में शोथ होता

है और उससे लसदार पीब निकलती है। इसी कारण कोई-कोई वैद्य इसे गर्भाशय का श्वेत-प्रदर भी कहते हैं। अधिक गर्भपात, गर्भाशय में रगड़ का लगना, भगशोथ या सूज़ाक की पीब लगना इसके मुख्य कारण हैं। यह विशेषतः उन स्त्रियों को होता है, जो अधिक मैथुन कराती हैं। यह रोग साधारणतः ग्रहणी, चेचक, कालाज्वर, आन्त्रिकज्वर, सन्निपात, उपदंश या योनि में अर्बुद होने के पश्चात् और ऋतु-स्राव बन्द होने के पूर्व उत्पन्न होता है। इसके नवीन और पुरातन दो भेद हैं।

नवीन शोथ में थोड़ा सा ज्वर आता है, पेड़ू और जाँघों में तथा गुदा के ऊपर पीड़ा होती है और गर्भाशय के भीतर पीड़ा के अतिरिक्त भारीपन और जलन का अनुभव होता है। आरम्भ में दस्त होते हैं, पर कुछ दिनों के बाद क़ब्ज़ लगता है। गर्भाशय और डिम्बग्रन्थियों को दबाने से वेदना होती है तथा परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि डिम्बग्रन्थियाँ बढ़ी हुई हैं। लसदार, गाढ़े और रक्तमिश्रित पीब के निकलने पर पीड़ा कम हो जाती है। शोथ गर्भाशय के पेंदे में होने पर जी मिचलता है, पेट फूलता है और हिस्टीरिया तथा आक्षेप (खिचाव-झटके) के लक्षण भी प्रगट होते हैं। इन्हें कठिन लक्षण कहते हैं। शोथ गर्भाशय के गले में होने पर लसदार, पीला और लाल पीब बाहर निकलता है तथा गर्भाशय का मुख खुल

जाता है। किसी-किसी के बवासीर और काँच भी निकलता है। मुखशोष, अग्निमान्द्य, ऋतुकाल में पीड़ा, शरीर में निर्बलता और शिर में दर्द होता है।

पुरातन शोथ में गर्भाशय के मुख पर व्राव होता है। गाढ़ा, सफ़ेद और भूरे रङ्ग का पीब निकलता है तथा कभी-कभी पीब के साथ ख़ून भी मिला रहता है। इससे गर्भाशय का मुख सङ्कीर्ण होकर स्त्रियों को बन्ध्या बना देता है अथवा गर्भोत्पत्ति कठिनता से होती है। शोथ के अधिक दिनों तक रहने से डिम्ब-ग्रन्थियों में जलन, भग के भीतरी भाग में शोथ और बाहरी भाग में खुजली होती है। ऋतुस्राव अधिक मात्रा में और अनियमित रूप से होता है। इसके बाद गुर्दे, फुफ्फुस और यकृत् के रोग उत्पन्न होकर रोगिणी की जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।

चिकित्सा करते समय सबसे पहले रक्त की शुद्धि और पीब को सुखाने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके लिए गरम जल या १०-२० बूँद क्रियाजोट की पिचकारी देने से काम चल सकता है। पिचकारी देने से गर्भाशय साफ़ होकर उसका दूषित पदार्थ निकल जाता है, जिससे आगे किसी अनिष्ट की सम्भावना नहीं रहती। विशेष सावधानी और उत्तम औषधियों के द्वारा गर्भाशय के भीतर और चारों तरफ़ क्लेद को सञ्चित होने से रोकना चाहिए, नहीं तो फफोले या फुन्सियाँ पैदा हो जायँगी।

नवीन शोथ में कोष्ठ की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए निम्न-लिखित औषधियाँ व्यवहृत की जा सकती हैं:—

(१) 'जलाया' नामक औषधि का चार माशा चूर्ण गरम जल या दूध के साथ खाने से पेट साफ़ हो जाता है।

(२) सनाय की पत्ती, हरड़, सौंफ़ और सैन्धव नमक बराबर-बराबर जल या कागज़ी नींबू के रस में घोट कर चार-चार माशे की गोलियाँ बना ले। रात को सोते समय गरम पानी के साथ एक गोली खाने से पेट साफ़ होता है।

(३) कैलमल और एक्स्ट्रेक्ट हाइसाममस प्रत्येक दो-दो रत्ती लेकर गोली बना ले। सोते समय जल के साथ खाने से पेट साफ़ होता है।

ऋतुस्राव बन्द होने पर गरम जल में बैठाना चाहिए और पीड़ा बन्द करने के लिए योनि-व्यापत रोगों के प्रकरण में लिखे हुए कल्क और फायों का व्यवहार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गरम बालू, तारपीन का तेल अथवा धान की भूसी से गर्भाशय के ऊपर हलका सेंक करना चाहिए। गरम हलुवा या अलसी की पुलटिस बाँधने से भी लाभ होता है। गर्भाशय में जोंक लगा कर विकृत रक्त को बाहर निकाल देना चाहिए। रोगिणी के लिए किसी भी प्रकार का परिश्रम करना हानिकारक

है। उसे चुपचाप शय्या पर लेटे रहना चाहिए तथा दूध, मांस-रस, बार्ली, साबूदाना, मूँग का जूस आदि बलवर्द्धक पदार्थ लघु मात्रा में भोजन करना चाहिए।

पुरातन शोथ में यदि रोग गर्भाशय के तले में हो तो उसकी स्थानिक चिकित्सा न कर, रोगिणी का बल बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। नीचे कुछ बलवर्द्धक औषधियों का वर्णन किया जाता है :—

(१) मकरध्वज या उत्तम रस-सिन्दूर आधी रत्ती और लोहभस्म १ रत्ती दोनों साथ मिला कर एक मात्रा शर्बत उन्नाब या बनपशा के साथ दिन में दो बार खाने से शरीर में बल की वृद्धि होती है। प्रत्येक बार औषधि-पान के १ घण्टे बाद शुद्ध और उत्तम द्राक्षासव पीना चाहिए।

(२) आयोडाइड पुटास ५ ग्रेन, लाइकोर हाइड्राज परक्लोराइड ५ ग्रेन और डिकॉक्शन सारसापारेला ½ ड्राम, तीनों को मिला कर एक मात्रा बनावे। ऐसी तीन-चार मात्राएँ प्रतिदिन खाने से शरीर बलवान बनता है।

(३) ग्रीन आयोडाइड ऑफ़ मर्करी १/६ ग्रेन और पिलरिहाइको ४ ग्रेन, दोनों को एक साथ मिला कर एक गोली बनावे। इस प्रकार की दो या तीन गोलियाँ प्रतिदिन खाने से शरीर की सब प्रकार की दुर्बलता शीघ्र दूर हो जाती है।

गरम जल में बोरिक एसिड डाल कर गर्भाशय में

पिचकारी देनी चाहिए तथा योनि-व्यापति रोगों के प्रकरण में लिखे हुए क्वाथों से योनि और भग को धोना चाहिए। स्वास्थ्य-सम्बन्धी साधारण नियमों का पालन करते हुए अधिक चलने-फिरने या विशेष मैथुन से बचना चाहिए।

गर्भाशय का क्षत

यह रोग प्रायः अधिक मैथुन करने वाली और उपदंश, प्रदर या सूज़ाक से पीड़ित स्त्रियों को होता है। परन्तु कभी-कभी प्रसव-काल में गर्भ के दबाव से भी उत्पन्न होता हुआ देखा गया है। इसके लक्षण गर्भाशय के शोथ से मिलते-जुलते हैं और चिकित्सा भी उसी प्रकार होती है। सावधानी सिर्फ़ इस बात की रखनी पड़ती है कि पीव न पड़ने पावे। इसकी औषधियाँ नीचे बताई जाती हैं :—

(१) कार्बोलिक एसिड १ ड्राम और वेसेलीन या ग्लिसरीन १ औन्स दोनों को मिला कर लेप करे।

(२) १/१००० वाले मर्करी लोशन या कार्बोलिक लोशन से धोए।

(३) पञ्चक्षीरी वृक्षों के क्वाथ की पिचकारी दे।

इसके अतिरिक्त गर्भाशय में पैतृक और शारीरिक कारणों से अनेक प्रकार के अर्बुद और ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें कोई कोमल, कोई कठिन, कोई पोली, कोई ठोस और कोई मांस-निर्मित तथा कोई पानी से भरी हुई

होती हैं। इनकी चिकित्सा करते समय किसी योग्य सर्जन की सम्मति अवश्य लेनी चाहिए, क्योंकि इनमें प्रायः शस्त्र क्रिया की आवश्यकता होती है।

गर्भाशय की स्थानच्युति

गर्भिणी स्त्रियों के गर्भाशय में अधिक भार रहने के कारण ज़ोर से कूदने, ज़ोर से खाँसने, कोई भारी चीज़ उठाने या गिर पड़ने से उनका गर्भाशय अपने स्थान से हट जाया करता है। इससे भारी पीड़ा होती है और मल-मूत्र दोनों एक साथ बन्द हो जाते हैं।

रोगिणी को सीधा लिटा कर कमर के नीचे तकिया रखना चाहिए और चूतड़ों को ऊपर उठाते हुए गर्भाशय को उसके स्थान पर खींच लाना चाहिए। यदि सम्भव हो तो इस क्रिया में किसी दाई की सहायता लेनी चाहिए। गर्भाशय को उसके स्थान पर रोक रखने के लिए रबर का छल्ला लगाया जाता है। इस छल्ले को गर्भस्थिति के छः मास बाद तक व्यवहार कर सकते हैं। प्रसव के पश्चात् चूतड़ों को ऊँचा उठाकर रखना चाहिए और गर्भाशय के सिकुड़ने तक स्त्री का चलना-फिरना और उठना-बैठना सब बन्द रखना चाहिए। गर्भाशय के सङ्कोच में रक्त की आवश्यकता होती है ; अतः रोगिणी को रक्त-वर्द्धक औषधियाँ—लोहभस्म, शुद्ध कुचला, मकरध्वज, रससिन्दूर, कस्तूरी आदि देना चाहिए और पञ्चक्षीरी वृक्ष के क्वाथ

में माजूफल और फिटकिरी मिला कर योनि को धोना चाहिए।

गर्भाशय का सन्मुखानमन

इस रोग में गर्भाशय का मुख ऊपर की ओर उठ जाता है, जिससे पुरुष का वीर्य इसके भीतर प्रवेश नहीं करने पाता और सन्तानोत्पत्ति असम्भव हो जाती है। मैथुन के समय कष्ट और ऋतुकाल में प्रसव के समान वेदना होती है, आर्तव गाढ़ा होता है तथा कभी-कभी प्रदर के लक्षण भी पाए जाते हैं। डिम्बाशय की नली में शोथ होने के कारण भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

यदि शोथ हो तो पहले उसकी चिकित्सा करने के बाद किसी चतुर डॉक्टर या दाई की सहायता से गर्भाशय की बन्धनियों को फैला कर मालिश करना चाहिए और उँगलियों या किसी यन्त्र के सहारे गर्भाशय को उसके स्वाभाविक स्थान पर ला रखना चाहिए। शारीरिक चिकित्सा की आवश्यकता होने पर पहले कोष्ठ की शुद्धि की जाती है, फिर निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग।

(१) लोहभस्म, मल्लसिन्दूर, कुचला और पुष्टिकारक आहार के सेवन से रक्त की कमी दूर होती है।

(२) ऋतुस्राव के ५ दिन पहले से रजःप्रवर्त्तिनी वटी की २ गोलियाँ प्रतिदिन सेवन करने से आर्तव की कमी दूर हो जाती है।

(३) आर्तवाधिक्य में रक्तप्रदर या रक्तपित्त की चिकित्सा करने से लाभ होता है।

(४) रबर की थैली में गरम जल भरकर सेंकने या टब में बैठ कर स्नान करने से वेदना कम होती है। १० ग्रेन किनास्टीन को जल में मिला कर धोने से भी लाभ होता है।

जरायु का पतन

गर्भाशय की स्थानच्युति के तीन भेद हैं—(१) अपने स्वाभाविक स्थान से नीचे लटक जाना, (२) गिर कर योनि के मुख में आ जाना और (३) सम्पूर्ण रूप से योनि के बाहर निकल आना। स्थानिक या शारीरिक कारणों से गर्भाशय को पकड़ने वाले बन्धनों के ढीले होने पर यह नीचे उतर आता है। दुर्बल अवस्था में प्रसव का होना भी इसके कारणों में से एक है। कभी-कभी अधिक अवस्था वाली दुर्बल स्त्रियों के गर्भाशय के साथ उण्डुक (बड़ी आँत) और मूत्र की थैली भी बाहर निकल आती है। गर्भाशय के पतन से योनि और मूत्रद्वार में वेदना तथा पेशाब करने में रुकावट पैदा होती है। परन्तु आश्चर्य का विषय है कि गर्भाशय के सम्पूर्ण रूप से बाहर निकल आने पर न तो मूत्र में रुकावट होती है और न सीधे सोने पर किसी प्रकार की वेदना। हाँ, दौड़ने या अँगड़ाई लेने से कष्ट अवश्य होता है।

इसकी चिकित्सा करने के पूर्व इसके कारणों को निर्मूल करना आवश्यक है, क्योंकि गर्भाशय के बार-बार गिरने पर उसका ऊपर चढ़ना और अपने स्थान में टिका रहना एक कठिन समस्या बन जाती है। किसी चतुर दाई की सहायता से इसे अपने स्थान पर रख देने के बाद रोगिणी को बलवर्द्धक औषधियों का सेवन तथा चलने-फिरने से परहेज़ करना चाहिए। दुर्बलता के कारण गर्भाशय का पतन होता हो तो स्त्री के शरीर को बलवान् और अङ्गों का पुष्ट तथा दृढ़ बनाने के लिए उसे पौष्टिक आहार और रक्तवर्द्धक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

गर्भाशय का अर्बुद

यद्यपि गर्भाशय में अनेक प्रकार के अर्बुद देखे जाते हैं, तथापि उनमें सूत्रज अर्बुदों की संख्या ही अधिक होती है। जरायु-शरीर की पेशी या त्वचा के नीचे रहने वाले सूत्रों (तन्तु) की वृद्धि के कारण ये अर्बुद उत्पन्न होकर पेशियों को नष्ट कर देते हैं और उनके स्थान पर सूत्रों की उत्पत्ति करते हैं। इसीलिए इन्हें सूत्रज अर्बुद कहते हैं। क्रम-विकाश के अनुसार इनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में, जब ये गर्भाशय-शरीर में उत्पन्न होते हैं, इन्हें आभ्यन्तरिक अर्बुद कहते हैं। फिर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते ये गर्भाशय-गह्वर और अन्त में योनि-मुख में प्रवेश करते हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता है, इनका रूप बदलता जाता है। कोई कठिन होता है तो कोई कोमल, किसी में पीव की वृद्धि होती है तो किसी में अस्थि की उत्पत्ति और कोई-कोई तो कठिन तथा शोथयुक्त भी हो जाते हैं।

यद्यपि इसकी एक मात्र चिकित्सा शस्त्रक्रिया ही है, तथापि एक बार काट देने पर भी कभी-कभी ये दुबारा उग आते हैं। पहले इनकी चिकित्सा बहुत कठिन समझी जाती थी, परन्तु आधुनिक आविष्कारों ने उसे अत्यन्त सहल बना दिया है। लखनऊ आदि के अस्पतालों में इनकी अच्छी चिकित्सा की जाती है।

गर्भाशय का पीछे झुकना और लौटना

गर्भाशय का पीछे की ओर घूमना पश्चादावर्तन और पीछे की ओर झुकना पश्चादानमन कहलाता है। स्थानीय रक्ताधिक्य, अर्बुद या गर्भाशय के भारीपन के कारण यह दशा उत्पन्न होती है। इसके लक्षण सब समय प्रकट नहीं होते, परन्तु कभी-कभी चलने या दौड़ने से गर्भाशय में वेदना और गुरुत्व का ज्ञान होता है। रक्त-सञ्चालन में रुकावट होकर गर्भाशय में रक्ताधिक्य और शोथ उत्पन्न होता है। इससे वस्तिगह्वर में भारीपन और प्रसव-काल के समान पीड़ा होती है। बड़ी आँतों में दबाव पड़ने से क़ब्ज़ और अर्श (बवासीर) के लक्षण प्रकट होते हैं। रक्तस्राव, श्वेत-

प्रदर और कभी-कभी हिस्टीरिया का आक्रमण भी होता है। मैथुन में कष्ट, बाँझपन और गर्भाशय में अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

किसी चतुर दाई या डॉक्टर की सहायता से गर्भाशय को स्थान पर रखने के बाद, यदि मूत्र बन्द हुआ हो तो उसे शीघ्र सलाई से निकाल कर, लक्षणों के अनुकूल चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए।

गर्भाशय में जलसञ्चय

मृत-गर्भ, शुष्क-गर्भ अथवा गर्भाशय के शोथ के कारण कभी-कभी गर्भ की थैली में जल भर जाया करता है। इसे अङ्गरेज़ी में एम्नियन (Amnion) कहते हैं, पर जल की मात्रा अधिक हो जाने पर इसके लिए डॉप्सी (Dropsy) नाम का प्रयोग होता है। इसमें खेड़ी (जरे) शोथ युक्त और बढ़ी हुई होती है। गर्भ के पाँचवें या छठें महीने जल सञ्चित होना आरम्भ होता है, पर एक बार आरम्भ होकर जल की मात्रा और रोग की पीड़ा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। अन्त में एक नियत समय पर गर्भ गिर कर नष्ट हो जाता है। इसमें कभी-कभी जलोदर का भ्रम होता है, इसलिए नीचे इन दोनों का भेद बताया जायगा :—

गर्भाशय में जल भरने पर गर्भाशय समय-समय पर फैलता और सिकुड़ता है, रोगिणी के खड़े होते और करवट

लेते समय थैली की गाँठ में ठोकने से ठस या स्पष्ट शब्द सुनाई देता है। और आँतें तैरती रहती हैं। गर्भ के लक्षण भी मिलते हैं। परन्तु जलोदर रोग में न तो गर्भाशय फैलता है, न सिकुड़ता है और न खड़े होने या करवट लेने पर किसी प्रकार का शब्द ही सुनाई देता है। आँतें तैरती हुई अवश्य पाई जाती हैं, पर गर्भ के लक्षण नहीं मिलते।

यदि थैली में तनाव अधिक हो तो झिल्लियों को छेद कर जल बाहर निकाला जा सकता है, परन्तु इस क्रिया में प्रसव-वेदना उत्पन्न होने की आशङ्का रहती है। बच्चा जीवित रह सकता हो तो वेदना दूर करने के लिए पिचकारियों (Pneumatic Spirators) के द्वारा जल निकाल देना चाहिए। इससे रोगिणी और शिशु दोनों को लाभ होता है।

डिम्बाशय का शोथ

नूतन और पुरातन भेद से डिम्बाशय में दो प्रकार का शोथ होता है। नवीन शोथ में प्रायः दाहिनी तरफ़ और कभी-कभी दोनों तरफ़ की डिम्ब-ग्रन्थियों में रोग पैदा हो जाता है। सूज़ाक, ऋतुकाल में शीत का लगना, गर्भपात या गर्भस्राव, वस्तिगह्वर का शोथ, गर्भाशय के मुख में तीक्ष्ण और क्षार औषधियों का लेप, गर्भाशय की सङ्कीर्णता दूर करने के लिए असावधानी से किया हुआ यन्त्र-प्रयोग आदि इस रोग के कारण हैं। पेड़ू में दबाने

से पीड़ा होती है और वह पीड़ा एक तरफ़ डिम्बग्रन्थियों तक तथा दूसरी तरफ़ जाँघ से लेकर पैरों तक फैल जाती है। परन्तु शोथ जब डिम्ब-ग्रन्थियों तक ही परिमित होता है तो पीड़ा स्थानिक और प्रसव-काल के समान रुक-रुक कर होती है। कभी-कभी एक मन्द पीड़ा निरन्तर वर्त्तमान रहती है। उबकाई, उलटी और आँतों में शोथ आदि लक्षण पाए जाते हैं। कमर के गढ़े के नीचे हाथ से दबाने पर या गर्भाशय के मुख को स्पर्श करने पर भयानक कष्ट होता है।

यदि रोग बढ़ता ही गया तो पेट की भीतरी कोमल झिल्लियों में पहुँच कर अनेक व्याधियों की उत्पत्ति करता है तथा मृत्यु का भय रहता है। मूत्राशय में शोथ होने के कारण मूत्र-त्याग के समय जलन, दाह, उलटी, क़ब्ज़, अरुचि, बेचैनी और ज्वर का प्रकोप होता है। ग्रन्थियों में शोथ के कारण पीव उत्पन्न हो जाने पर १०२ से १०४ डिग्री तक बुख़ार आता है, जिसमें दाह, वमन, बेचैनी और मूर्च्छा आदि कठिन लक्षण प्रगट होते हैं। पेड़ू में भारीपन और खिंचाव होता है। यदि पीव भग के मार्ग से निकली तो कुशल समझना चाहिए, अन्यथा पेट की झिल्ली फूटने पर मृत्यु हो जाती है। पीव के निकल जाने पर तत्काल तो अवश्य ही कुछ लाभ होता है, परन्तु डिम्ब-ग्रन्थियों में पुनः पीव का भरना उसी प्रकार आरम्भ हो जाता है। इस तरह

पीव के बार-बार भरने और बाहर निकलने से रोगिणी का स्वास्थ्य अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और अन्त में उसे मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है।

पुरातन शोथ के कारण भी प्रायः वही हैं जो नवीन शोथ के, परन्तु यह अधिकतर अतिमैथुन, आतशक, गठिया या शरीर में वायु-विष की विद्यमानता या अधिक मद्य-पान के कारण उत्पन्न होता है। इसमें कभी-कभी नवीन शोथ के लक्षण भी पाए जाते हैं। सेक्राम हड्डी (डिम्बाशय या कमर की हड्डी, जो गुदा से चार इञ्च ऊपर होती है) और पेड़ू में दबाने से पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त कभी एक और कभी दोनों छातियों में पीड़ा और बोझ जान पड़ता है। उत्क्लेश, उबकाई, पेट फूलना, अजीर्ण, क़ब्ज़ और मैथुन के समय पीड़ा होने की शिकायत रहती है। यन्त्र द्वारा देखने से पता चलता है कि डिम्बग्रन्थियों के आकार और मान में वृद्धि हो गई है। चिकित्सा न करने पर यह रोग कालान्तर में असाध्य हो जाता है।

यदि शोथ ऋतुधर्म की रुकावट के कारण पैदा हुआ हो, तो गर्भाशय-मुख में जोंक लगाना चाहिए। इससे डिम्बाशय का शोथ कम होकर मासिक स्राव भी नियमानुसार होने लगता है।

(१) वेदना दूर करने के लिए पेड़ू में तेल चुपड़ कर गरम बालू का सेंक या गरम पानी में निचोड़े हुए

फ़लालैन के टुकड़ों में तारपीन का तेल छिड़क कर सेंक करना चाहिए।

(२) अलसी की गरम पुलटिस या गरम हलुवा बाँधने से भी बहुत लाभ होता है।

(३) गरम जल के टब में पोस्त की डोंडी डाल कर उसमें नाभिपर्यन्त बैठ कर स्नान करना चाहिए।

(४) एक्सट्रेक्ट बेलेडोना ४ भाग, रसोत ४ भाग और अफ़ीम १ भाग एक साथ मिला कर जल के साथ गरम करके लेप करे।

(५) केवल तारपीन के तेल को चुपड़ कर धीरे-धीरे सेंक करे।

(६) पीब इकट्ठा हो जाने पर योनि प्रक्षेत्रण या किसी अन्य यन्त्र की सहायता से उसे बाहर निकाल दे।

(७) अफ़ीम, वेसलीन (या चर्बी) और मोम को समभाग में मिला कर बत्ती बनावे और उसे गर्भाशय के मुख में रक्खे।

शारीरिक चिकित्सा में एरण्ड का तेल या कडुवा-मीठा तेल, दूध, पीपरमेण्ट या जल में मिला कर पिलाना चाहिए।

(१) अफ़ीम $\frac{1}{2}$ ग्रेन और एक्सट्रेक्ट बेलेडोना $\frac{1}{6}$ ग्रेन दोनों को मिला कर जल के साथ दिन में तीन-चार बार देने से वेदना कम होती है।

(२) आयोडाइड पोटास ५ ग्रेन, ब्रोमाइड पोटास १० ग्रेन, टिंक्चर सिनकोनाकम्पाउण्ड १० या १५ बूँद, स्पिरिट क्लोरोफ़ार्म १० बूँद, टिंक्चर वेलेडोना ५ बूँद, जल एक आउन्स, इन सबको मिला कर एक मात्रा बनावे। प्रतिदिन ऐसी चार मात्राएँ दिन में देने से वेदना दूर हो जाती है।

ज्वर की अवस्था में ज्वर-नाशक-औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। पुरातन शोथ में रोगिणी को केवल बल-वर्द्धक औषधियाँ देने की आवश्यकता होती है। लोहभस्म, मकरध्वज, कस्तूरी, सबको एक साथ मिला कर दिन में दो बार शहद के साथ सेवन करे। ब्रोमाइड पोटास १० ग्रेन, आयोडाइड पोटास १२ ग्रेन, टिंक्चर एकोनाइट २ बूँद, सिन-कोनाकम्पाउण्ड २० बूँद, डिकाक्शन सिनकोना १ आउन्स, सबकी एक मात्रा बना कर दिन में ऐसी तीन-चार मात्राओं का सेवन करे। पथ्य में हलका भोजन तथा अधिक परि-श्रम, चलने-फिरने और मैथुन से परहेज़ करना चाहिए। गँवार दाई या स्त्रियों से पेट नहीं मलवाना चाहिए।

डिम्बाशय के अर्बुद

डिम्ब-ग्रन्थियों में थैलीदार और ठोस दो प्रकार के अर्बुद (गाँठ) पाए जाते हैं, थैलीदार अर्बुदों के, जिनकी संख्या अधिक होती है, तीन भेद हैं—साधारण, रक्त-मिश्रित लसदार—गाढ़े और काले रङ्ग के पीब वाले तथा

अत्यन्त कठिन जिनमें दाँत, हड्डी, बाल आदि पदार्थ मिलते हैं। ठोस अर्बुदों के मांसार्बुद और व्रणार्बुद नामक दो भेद होते हैं, जो कभी-कभी एक साथ ही पाए जाते हैं। कठिन ठोस अर्बुद, एक अथवा दोनों डिम्ब-ग्रन्थियों और गर्भाशय के बृहत् बन्धन (Broad Ligament) में पाए जाते हैं। यद्यपि यह रोग प्रत्येक अवस्था में होता है, तथापि युवती, अविवाहिता और विधवा-स्त्रियों में यह अधिकता से पाया जाता है। तीन-चार वर्ष में यह गाठें बढ़ कर इतनी बड़ी हो जाती हैं कि इनमें छेद करने से २०-२५ सेर तक जल निकलता है।

लक्षण—आरम्भ में केवल अजीर्ण होता है, पर गाँठ के कुछ उभर जाने पर पेट में शोथ और पीड़ा मालूम होने लगती है। गाँठ के कारण चूतड़ और समीपवर्त्ती अङ्गों में दवाव पड़ता है। जिस भाग में रोग होता है, उस ओर की जाँघ शून्य होजाती है तथा कभी-कभी शोथ भी उत्पन्न हो जाता है। मासिक स्राव कभी नियमित और कभी अनियमित रूप से होता है तथा कभी एकदम वन्द भी हो जाता है। मल-मूत्र अधिक और पतले होते हैं। गुदा तथा मूत्राशय में जलन होती है।

गाँठ के अधिक वढ़ जाने पर पेट नीचे से ऊपर तक शोथ से भर जाता है। मन्द पीड़ा और ऋतु-विकार के कारण रोगिणी वहुत दुर्वल हो जाती है। गाँठ की

उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ शरीर की आकृति बिगड़ने लगती है और अन्त में निम्नलिखित लक्षणों का उदय होता है :—

मूत्र बार-बार और थोड़ा-थोड़ा करके आता है; श्वास लेने में कष्ट और बेचैनी होती है; पेट उभर जाता है, उसमें नीले रङ्ग की शिराएँ दिखाई देती हैं, पेट के नीचे किसी ओर टटोलने से गोल गाँठ पाई जाती है। यदि गाँठ थैली-दार हुई तो उसमें लचक और पिलपिलाहट होगी। गाँठों की संख्या अधिक होने पर पेट का नीचा हिस्सा विषम (बेडौल) और कम पिलपिला होता है। स्त्री को खड़ी कर सामने की ओर झुकाने से गाँठें आगे की ओर लटक जाती हैं और पेट के अगल-बगल में कोई उभार नहीं दीखता। उनके ऊपर उँगली से चोट मारने पर 'ठस' ऐसी आवाज़ होती है।

इस रोग के पहचानने के लिए तीव्र बुद्धि और विशाल अनुभव की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसमें अनेक रोगों का भ्रम हो सकता है, जैसे गर्भाशय के तन्तु युक्तार्बुद का, मूत्रपूर्ण वस्ति का, गर्भाशय के चौड़े पट्टों के फोड़े का, अथवा गर्भ की स्थिति गर्भाशय के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर हो जाने का। अतः यहाँ पर कतिपय रोगों के साथ इसकी तुलना की जायगी।

ओमेरियन ट्यूमर से अन्य रोगों का भेद

फाइब्रस ट्यूमर में	ओमेरियन ट्यूमर में
(१) गाँठ पेट की मध्य रेखा में होती है।	(१) गाँठ बग़ल में बाईं या दाहिनी ओर होती है।
(२) इसमें लचक और पिलपिलाहट नहीं होती।	(२) इसमें लचक और पिलपिलाहट अवश्य होती है, किन्तु गाँठों की संख्या अधिक होने पर कम।
(३) यूद्रायन नाम का यन्त्र सरलता से गर्भाशय के भीतर चला जाता है।	(३) योनि के दीर्घ होने और खिंच जाने तथा गर्भाशय के एक ओर झुक जाने के कारण पूर्वोक्त यन्त्र सरलतापूर्वक भीतर नहीं जा सकता।

मूत्रपूर्ण वस्ति में	ओमेरियन ट्यूमर में
(१) पिछले इतिहास से मूत्र का होना या न होना ज्ञात हो सकता है।	(१) मूत्र-सम्बन्धी किसी प्रकार की शिकायत नहीं होती।
(२) सलाई से मूत्र निकालने पर शोथ शान्त हो जाता है।	(२) शोथ किसी प्रकार कम नहीं हो सकता।

ब्राडलिगमेण्ट में	ओमेरियन ट्यूमर में
(१) जाड़ा देकर ज्वर चढ़ता है और शारीरिक ताप १०२ से १०४ तक रहता है।	(१) ज्वर बिलकुल नहीं होता।

(२) प्रोटोनाइटिस के वमन आदि लक्षण पाए जाते हैं।	(२) वमन आदि लक्षण नहीं पाए जाते।
एक्स्ट्रा युटराइन में	**ओमेरियन ट्यूमर में**
(१) परीक्षा करने से गर्भ मिलता है।	(१) गर्भ नहीं मिलता, गाँठ पाई जाती है।
एसाइटिस जलोदर में	**ओमेरियन ट्यूमर में**
(१) पेट नीचे से ऊपर तक सूज जाता है।	(१) शोथ दाईं तथा बाईं ओर होता है और उसी तरफ़ रहता है !
(२) नाभि से कमर की अस्थि तक नापने से दोनों ओर बराबर होता है।	(२) रोग की ओर नाप अधिक होता है।
(३) उभार एक-सा किन्तु घटने-बढ़ने वाला होता है।	(३) उभार एक-सा और एक जगह स्थिर रहता है।
(४) सीधा सुलाने से दोनों पहलुओं में उभार होता है, किन्तु करवट लेने पर एक ही ओर रह जाता है।	(४) सीधा सुलाने से उभार एक तरफ़ होता है, जो करवट लेने पर वैसा ही रहता है।
(५) लेटने में नाभि पर ठोकने से शब्द साफ़ और दोनों बाज़ुओं पर ठस होगा, किन्तु करवट बदलने में साफ़ के स्थान में ठस और ठस के स्थान में साफ़ होगा।	(५) शब्द प्रत्येक दशा में ठस ही रहेगा।

(६) श्वास में कष्ट और मूत्र का प्रमाण कम होता है।

(६) ऋतु में विकार होता है तथा मूत्र करने की इच्छा वार-बार होती है।

(७) उँगली द्वारा भग की परीक्षा करने पर गर्भाशय नीचा मालूम होता है और जल का धक्का लगता है।

(७) गर्भाशय अपने स्थान पर होता है तथा गाँठ मालूम पड़ती है।

(८) मुख की आकृति चिन्ता-युक्त और खड़े होने की दशा में पेट सामने की ओर झुका हुआ होता है। किन्तु पेट के दोनों किनारे फैल जाते हैं और छाती पीछे को झुक जाती है।

(८) मुख की आकृति नीरोग और खड़े होने पर गाँठ सामने की ओर झुकी हुई होती है। पेट के दोनों तरफ़ उभार नहीं होता।

इसमें शारीरिक चिकित्सा करने से कुछ भी लाभ नहीं होता, इसलिए स्थानिक चिकित्सा करनी चाहिए। स्थानिक चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है—(१) ग्रन्थि को छेद कर पानी निकाल दिया जाता है और (२) ग्रन्थि-सहित डिम्ब को काट कर निकाल देते हैं। व्रीहिमुख शस्त्र को द्विमुख नली के अन्दर घुसा कर उससे नाभि के चार अङ्गुल नीचे बाईं ओर छेद करते हैं, जिससे पानी निकल जाता है। छुच्छीदार सूजे को भी छेद करने के काम में ला सकते हैं, परन्तु इस प्रकार का छेदन कर्म एक ही

थैली के लिए लाभदायक हो सकता है। अनेक थैलियों के होने पर कई जगह छेद करना पड़ता है। इस क्रिया से रोगिणी की आयु में नाम-मात्र की वृद्धि तो अवश्य हो जाती है, पर केवल कुछ समय तक दारुण यातना भोगने के बाद मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए ही कभी-कभी जल निकालने से दैवात् आरोग्य लाभ हो जाता है, किन्तु इसकी स्थायी आशा बहुत कम रहती है। अण्डे को काट कर निकालना किसी योग्य सर्जन का ही काम हो सकता है। इसमें नवसिखिए गँवार आदमी को हाथ नहीं डालना चाहिए। यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि इस क्रिया का परिणाम ४०-५० वर्ष की अवस्था वाली स्त्रियों के लिए ही अच्छा होता है, कम उमर वाली स्त्रियों के लिए नहीं। बल के क्षीण होने से इतनी हानि नहीं जितनी मूत्रेन्द्रिय रोग, हृद्रोग, क्षय रोग, फुफ्फुस रोग या पैरों में शोथ हो जाने से हुआ करती है।
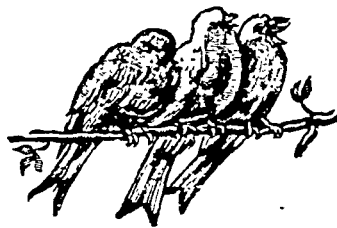
गर्भाधान संस्कार

स प्रकार उर्वरा जोती हुई और जल-सिक्त भूमि में उपयुक्त समय पर पुष्ट और परिपक्व बीज बोने से अवश्य ही अङ्कुर उत्पन्न होता है और समय आने पर लहलहाते हुए पौधे का रूप धारण कर फल-फूल से सुसज्जित होता है, उसी प्रकार कामातुरा, स्वस्थ और प्रेमिका स्त्री के साथ मदन-पीड़ित, बलवान् और स्नेही पुरुष का ऋतु-समागम होने पर निश्चयपूर्वक गर्भ की स्थिति और उसके द्वारा बलवती, दीर्घायु और तेजस्वी सन्तान का जन्म होता है।

डेसिडिउआ (आमलनाल) और गर्भाशय के भीतर

एक श्लेष्मिक झिल्ली का पर्दा होता है। गर्भाधान होने के बाद डिम्ब-प्रणाली द्वारा प्राप्त डिम्ब, जरायु की श्लेष्मिक झिल्ली के बीच एक स्थान में चिपक जाता है। उससे तब सम्पूर्ण श्लेष्मिक झिल्ली में रक्ताधिक्य रहता है। इसी वास्ते वह कुछ मोटी पड़ जाती है। इसी का नाम डेसि-आउला कहते हैं। इसकी सहायता से डिम्ब धीरे-धीरे चारों तरफ़ फैल जाता है, तब उसमें एक और नई झिल्ली पैदा होती है, उसको "डेसिडिउआ" कहते हैं। यह दोनों झिल्लियाँ गर्भ के प्रधान आश्रय (स्थान) हैं। इन्हीं के बीच में धीरे-धीरे गर्भ पुष्ट होता है। गर्भ के तीसरे या चौथे महीने में पूर्वोक्त दोनों झिल्लियाँ आपस में मिल कर एक दृढ़ यन्त्र का काम करने लगती हैं। इसी समय इनमें से एक और झिल्ली पैदा होती है। इसको "डेसिडिउआ सिरोटिना" कहते हैं। यही अन्तिम झिल्ला समय पर "पलासेण्टा" अर्थात् परिस्रव में परिणत हो जाती है। इसी को कोई भाषा में फूल या आँवरा भी कहते हैं। यही पलासेण्टा (परिस्रव) गर्भजीवन धारण के विषय में विशेष उपयोगी है। क्योंकि यह परिस्रव गर्भाशय-स्थित जीव के फुफ्फुस का कार्य करता है। यह देखने में अरस्क (Airsae) के सदृश होता है। द्रुगर्भा का दूषित रक्त नाभिनाल के द्वारा इसी परिस्रव में आता है और माता का रक्त इसी में से अम्लत्व ग्रहण कर अपने दोषों को छोड़ कर विशुद्ध

हो जाता है। इसके बाद वह विशुद्ध रक्त गर्भ के शरीर में घूम कर उस पूर्वोक्त अशुद्ध रक्त में मिल जाता है।

नाभिनाल—यह फूल (आँवरा) के ठीक बीच में या उसके एक तरफ़ लगा हुआ रहता है। इसमें एक शिरा और दो धमनियाँ होती हैं। इन दो धमनियों द्वारा शुद्ध रक्त माता के शरीर से गर्भ के शरीर में सञ्चार करता है, और उस दूसरी शिरा द्वारा दूषित रक्त माता के शरीर में प्रवेश कर शुद्धि को प्राप्त होता है। नाभि-नाल साधारण रूप में १६ से लेकर २३ इञ्च तक लम्बा होता है। कहीं-कहीं इसकी अपेक्षा ७-८ फीट लम्बा देखा गया है। और कहीं-कहीं कोई रज्जु यहाँ तक छोटे देखे गए हैं कि ५-६ इञ्च ही लम्बे होते हैं।

यदि पुरुष और स्त्री के सम्मिलित शुक्र और शोणित में रक्त का भाग अधिक होता है तो कन्या, और शुक्र का भाग अधिक होता है तो पुत्र उत्पन्न होता है। कभी-कभी मिथ्या आहार-विहार के कारण वायु कुपित होकर गर्भाशय के भीतर शुक्र-शोणित को पृथक्-पृथक् दो या अधिक अंशों में विभक्त कर देता है। प्रत्येक अंश से एक-एक बच्चे की सृष्टि होती है। जिस अंश में शुक्र की अधिकता होती है उससे पुत्र, और जिसमें शोणित का परिमाण अधिक होता है, उससे कन्या की रचना होती है। इस प्रकार माता को एक ही साथ दो या अधिक बच्चे जन्मते

एक श्लेष्मिक झिल्ली का पर्दा होता है। गर्भाधान होने के बाद डिम्ब-प्रणाली द्वारा प्राप्त डिम्ब, जरायु की श्लेष्मिक झिल्ली के बीच एक स्थान में चिपक जाता है। उससे तब सम्पूर्ण श्लेष्मिक झिल्ली में रक्ताधिक्य रहता है। इसी वास्ते वह कुछ मोटी पड़ जाती है। इसी का नाम डेसि-आउला कहते हैं। इसकी सहायता से डिम्ब धीरे-धीरे चारों तरफ़ फैल जाता है, तब उसमें एक और नई झिल्ली पैदा होती है, उसको "डेसिडिउआ" कहते हैं। यह दोनों झिल्लियाँ गर्भ के प्रधान आश्रय (स्थान) हैं। इन्हीं के बीच में धीरे-धीरे गर्भ पुष्ट होता है। गर्भ के तीसरे या चौथे महीने में पूर्वोक्त दोनों झिल्लियाँ आपस में मिल कर एक दृढ़ यन्त्र का काम करने लगती हैं। इसी समय इनमें से एक और झिल्ली पैदा होती है। इसको "डेसिडिउआ सिरोटिना" कहते हैं। यही अन्तिम झिल्ला समय पर "प्लासेण्टा" अर्थात् परिस्रव में परिणत हो जाती है। इसी को कोई भाषा में फूल या आँवरा भी कहते हैं। यही प्लासेण्टा (परिस्रव) गर्भजीवन धारण के विषय में विशेष उपयोगी है। क्योंकि यह परिस्रव गर्भाशय-स्थित जीव के फुफ्फुस का कार्य करता है। यह देखने में अरस्क (Airsae) के सदृश होता है। द्रगर्भा का दूषित रक्त नाभिनाल के द्वारा इसी परिस्रव में आता है और माता का रक्त इसी में से अम्लत्व ग्रहण कर अपने दोषों को छोड़ कर विशुद्ध

हो जाता है। इसके बाद वह विशुद्ध रक्त गर्भ के शरीर में घूम कर उस पूर्वोक्त अशुद्ध रक्त में मिल जाता है।

नाभिनाल—यह फूल (आँवरा) के ठीक बीच में या उसके एक तरफ़ लगा हुआ रहता है। इसमें एक शिरा और दो धमनियाँ होती हैं। इन दो धमनियों द्वारा शुद्ध रक्त माता के शरीर से गर्भ के शरीर में सञ्चार करता है, और उस दूसरी शिरा द्वारा दूषित रक्त माता के शरीर में प्रवेश कर शुद्धि को प्राप्त होता है। नाभि-नाल साधारण रूप में १६ से लेकर २३ इञ्च तक लम्बा होता है। कहीं-कहीं इसकी अपेक्षा ७-८ फीट लम्बा देखा गया है। और कहीं-कहीं कोई रज्जु यहाँ तक छोटे देखे गए हैं कि ५-६ इञ्च ही लम्बे होते हैं।

यदि पुरुष और स्त्री के सम्मिलित शुक्र और शोणित में रक्त का भाग अधिक होता है तो कन्या, और शुक्र का भाग अधिक होता है तो पुत्र उत्पन्न होता है। कभी-कभी मिथ्या आहार-विहार के कारण वायु कुपित होकर गर्भाशय के भीतर शुक्र-शोणित को पृथक्-पृथक् दो या अधिक अंशों में विभक्त कर देता है। प्रत्येक अंश से एक-एक बच्चे की सृष्टि होती है। जिस अंश में शुक्र की अधिकता होती है उससे पुत्र, और जिसमें शोणित का परिमाण अधिक होता है, उससे कन्या की रचना होती है। इस प्रकार माता को एक ही साथ दो या अधिक बच्चे जन्मते

हैं, जो यमज सन्तान कहलाते हैं। यमजों में उक्त नियम के अनुसार सभी पुत्र, सभी कन्या अथवा कुछ पुत्र और कुछ कन्याएँ हो सकती हैं। एक ही साथ जन्मने पर भी उनमें कोई पुष्ट और कोई क्षीण शरीर वाला हो सकता है।

१—स्त्री-पुरुष चिह्न विशिष्ट सन्तान—जिसमें कुछ पुरुष के और कुछ स्त्री के लक्षण मिलते हों।

२—पवनेन्द्रिय—जिसके मैथुन-काल में शुक्र के बजाय वायु ही निकलता हो।

३—संस्कारवाही—बाजीकरण औषधियों के सेवन करने के बाद जिसका शुक्र योग्य द्वार से निकलता हो, अन्यथा नहीं।

४—नर-नारिषण्ढ—पुरुष के सब लक्षण होते हुए भी वीर्य के अभाव से पुत्रोत्पत्ति में असमर्थ नर-षण्ढ। इसी तरह स्त्री भी स्त्रीषण्ढ या नारिषण्ढ कहाती है। पुष्टि-कारक यथेष्ट आहार का अभाव या किसी धातु के अपरिमित व्यय के कारण गर्भ सूख जाया करते हैं। ऐसे गर्भ आवश्यक पोषण ग्रहण कर लेने के बाद अपने नियत समय से बहुत पीछे उत्पन्न होते हैं। चरक ने शुष्कलीन, विष्कम्भ और नागोदर के नाम से इनका वर्णन किया है। इनकी चिकित्सा मूढ़-गर्भ के प्रकरण में लिखी जायगी। गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य एक दूसरे के बराबर होने से नपुंसक—स्त्री-पुरुष चिह्न विशिष्ट—सन्तान उत्पन्न होती

है। गर्भस्थ प्राणी का शुक्राशय नष्ट होने पर पवनेन्द्रिय, शुक्र-द्वार विकृत होने पर संस्कारवाही सन्तानों का जन्म होता है। माता-पिताओं के हीन, अल्प या दुर्बल-बीज होने पर या मैथुन में अल्पहर्षयुक्त होने पर पुत्र वा कन्या, नर या नारीषण्ढ कहलाते हैं। माता के मैथुन में अनिच्छा और पिता के वीर्य में दुर्बलता होने पर वक्र सन्तान होती है। माता-पिताओं के मन्द हर्षयुक्त होने पर या किसी को देख कर ईर्ष्या से मैथुन करने पर, ईर्ष्या से मैथुन करने वाली सन्तान होती है। जिस मनुष्य या बालक के दोनों अण्डकोष वायु तथा अग्निदोष के कारण नहीं होते हैं, उसे वातिकषण्ढ कहते हैं।

गर्भिणी के लक्षण

सुश्रुत का वचन है—"श्रमोग्लानि पिपासाऽस्थिसदनं शुक्रशोणितयोर्बन्धवः स्फुरणञ्च योनेः।" अर्थात्—गर्भ-स्थिति होने पर मैथुन के पश्चात् तत्काल ही स्त्री को श्रम, ग्लानि, तृष्णा, अस्थियों में वेदना तथा योनि में स्फुरण (फरकना) आदि का बोध होता है और आर्तव निकलना बन्द हो जाता है। इन लक्षणों को देख कर बुद्धिमती स्त्रियाँ तो शीघ्र ही समझ जाती हैं कि गर्भाधान संस्कार सम्पूर्ण हो गया। परन्तु फूहड़ स्त्रियों को तीन-चार मास तक पता ही नहीं चलता कि गर्भ रहा या नहीं। अतः गर्भस्थिति के अन्य लक्षण नीचे विस्तार के साथ लिखे जाते हैं। इनके

द्वारा गर्भ-स्थिति का पता लगा कर शीघ्र ही गर्भिणी के नियमों का पालन आरम्भ करना चाहिए :—

(१) प्रभात-वमन—गर्भ-सञ्चार के प्रायः दो महीने बाद स्त्रियों को वमन का रोग आरम्भ होता है। इसका वेग प्रातःकाल अधिक रहने के कारण इसे प्रभात-वमन भी कहते हैं। बहुत-सी स्त्रियों के गर्भाधान के कुछ ही दिन बाद यह रोग आरम्भ हो जाता है और कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि गर्भिणी को क्षण भर भी चैन नहीं लेने देता, खाया हुआ कोई भी पदार्थ शीघ्र ही बाहर निकल आता है। इससे गर्भिणी बहुत दुर्बल और उठने-बैठने में भी असमर्थ हो जाती है। ऐसी अवस्था में यदि कहीं गर्भपात हो जाय तो गर्भिणी के प्राण भी सङ्कट में पड़ जाते हैं। गर्भस्थ सकल स्नायु-केन्द्र के उत्तेजित होने से अधिकतर यह रोग शान्त हो जाता है।

(२) लाला निस्सरण—लार निकालने वाली ग्रन्थियों में उत्तेजना पैदा होने के कारण मुख से अधिक लार निकलने लगता है।

(३) स्तनयुगल—गर्भाशय के साथ स्तनों का विशेष सम्बन्ध रहता है। गर्भ-वृद्धि के साथ स्तनों का भी विकाश और उभार होता है तथा उसकी रक्त-नालियाँ रक्त से भर जाती हैं। दुग्ध-निस्सारक ग्रन्थियों में दूध को उत्पन्न करने वाले पदार्थ आ-आकर इकट्ठे होते हैं। स्तनों के मुख रक्त

से परिपूर्ण होकर ऊँचे उठ जाते हैं और उनके चारों तरफ़ रञ्जन पदार्थ गाढ़ा होकर उसके रङ्ग को गहरा और काला बना देता है। परन्तु कभी-कभी गर्भाशय तथा डिम्बाशय सम्बन्धी किसी रोग के कारण भी स्तनों में कालापन उत्पन्न हो जाता है।

(४) दुग्धोत्पत्ति—प्रकृति का कलानैपुण्य ऐसा विलक्षण है कि बच्चे के जन्म लेने के पहले ही उसके भावी पोषण के लिए माता के स्तनों में दूध का सञ्चार होने लगता है। गर्भ के तीसरे महीने दूध की उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है। और इस समय बहुत-सी स्त्रियों के स्तन से जल के समान एक प्रकार का तरल पदार्थ निकलता है। यही तरल पदार्थ कालान्तर में परिवर्तित होकर शिशु की जीवन-रक्षा के लिए माता के स्तनों से प्रवाहित होने लगता है। कभी-कभी बिना गर्भ के भी अनेक स्त्रियों के स्तनों में दूध निकलता दिखाई देता है।

(५) उदर-वृद्धि—पेट का बढ़ना गर्भ-स्थिति का सबसे बड़ा प्रमाण समझा जाता है। परन्तु कभी-कभी रोगों के कारण भी पेट के आकार में वृद्धि होती है। प्रायः देखा जाता है कि उदर, डिम्बाशय और गर्भाशय में रोग उत्पन्न होने पर पेट फूल कर बहुत बड़ा हो जाता है। अतः पेट का विस्तार होने पर भली-भाँति देख कर पता लगा लेना चाहिए कि यह गर्भ के कारण है अथवा कोई रोग उत्पन्न हो गया है।

(६) प्यासेशन (गर्भाशय का सङ्कोच-विस्तार)—गर्भ-सञ्चार के बाद समय-समय पर गर्भाशय का सङ्कोच और विस्तार हुआ करता है। इस क्रिया को अङ्गरेज़ी में प्यासेशन कहते हैं। गर्भाशय का स्थान भ्रष्ट होने या उसके भीतर अर्बुद उत्पन्न होने से भी यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें गर्भिणी को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती।

(७) योनि—योनि की श्लेष्मिक झिल्ली के ऊपर गर्भाशय का भार पड़ने के कारण यह झिल्ली रक्त से भर कर बैंगनी रङ्ग की हो जाती है। शोथादि अन्यान्य रोगों में भी योनि का रङ्ग बैंगन के समान हो जाता है।

(८) गर्भाशयग्रीवा—स्वाभाविक अवस्था में गर्भाशय-ग्रीवा दृढ़ और कठिन रहती है, किन्तु गर्भाधान होते ही उसमें कोमलता आ जाती है और वह उँगलियों के द्वारा सहज ही चौड़ी की जा सकती है। गर्भाशय-रोगों में भी उसकी यही दशा रहती है, परन्तु स्पर्श के द्वारा इन दोनों अवस्थाओं का भेद आसानी से समझ में आ सकता है।

(९) गर्भहृदय—गर्भस्थिति के निरूपण में गर्भस्थित शिशु के हृदय-स्पन्दन की ध्वनि विशेष रूप से सहायक होती है। गर्भाधान के अठारह सप्ताह बाद गर्भ की हृदय-ध्वनि स्पष्ट सुनाई देने लगती है। गर्भिणी को सीधा सुला कर उसके पेट पर धीरे से स्टेथोस्कोप लगाया जाय तो एक विचित्र शब्द सुनाई देता है। घड़ी को किसी चीज़

से ढक कर कान के पास लाने से जैसा शब्द सुनाई पड़ता है, यह शब्द भी ठीक उसी प्रकार का होता है। गर्भ हृदय साधारणतया एक मिनट में १३० से १४० तक गति करता है। गर्भ मृत होने पर यह शब्द सुनाई नहीं देता।

(१०) गर्भाशय में रक्त-सञ्चार का शब्द—गर्भाशय की भित्तियों में रक्त के चलने से गर्भाशय में सर्वत्र एक प्रकार का शब्द सुनाई देता है। हृदय-स्पन्दन की तरह यह शब्द गर्भाधान का अव्यर्थ लक्षण नहीं है। क्योंकि गर्भ न होने पर भी अर्बुदादि के कारण गर्भाशय के फैलने और सिकुड़ने पर यह शब्द सुनाई देता है।

(११) गर्भ-स्पन्दन—गर्भ के चौथे मास के अन्त में गर्भिणी के पेट में एक विचित्र पीड़ा होती है। ऐसा मालूम होता है मानों गर्भ अभी गिर जायगा। इसका कारण यह है कि गर्भस्थ शिशु जब अपने हाथ-पैरों को हिलाता है तो पेट के भीतर एक प्रकार का धक्का लगता है। इससे माता को बहुत क्लेश होता है।

(१२) गर्भिणी साधारणतया दुर्बल और उत्साह-रहित होती है। उसके मन में स्फूर्ति का अभाव, शरीर में आलस्य, शिर में पीड़ा, श्वास लेने में किञ्चित कष्ट होता है और शीतल पदार्थ खाने की रुचि। कभी-कभी तो ऐसी वस्तुएँ (मद्य मांसादि) खाने की इच्छा होती है, जिन्हें वह अन्य अवस्थाओं में घृणा की दृष्टि से देखती है। शास्त्रों की

सम्मति है, भरसक इन इच्छाओं की पूर्ति करना चाहिए। यदि कोई इच्छा सर्वथा घृणित और किसी भी प्रकार पूर्ति के योग्य न हो, तो मृदु और कोमल शब्दों में गर्भिणी को समझा-बुझाकर उसका मन उस तरफ़ से फेर देना चाहिए। स्त्री के असन्तुष्ट या दुखी होने पर गर्भ में विकृति आ जाती है और गर्भिणी को भी अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

गर्भिणी के कर्तव्य

गर्भिणी का जीवन सङ्कटों से परिपूर्ण होता है। जहाँ शास्त्रकारों ने अन्यान्य शल्यों का वर्णन किया है, वहाँ गर्भ को भी एक शल्य माना है; क्योंकि गर्भाधान के पश्चात् जब तक गर्भ का क्रम-विकाश समाप्त होकर बच्चे का जन्म नहीं हो जाता, तब तक आहार-विहार के नियमों का स्वल्प व्यतिक्रम भी गर्भिणी के जीवन या गर्भ के स्वास्थ्य को सदा के लिए नष्ट कर सकता है। गर्भ की पुष्टि का एकमात्र आधार गर्भिणी का शोणित है, जो गर्भ के अङ्ग प्रत्यङ्ग में प्रवाहित होकर उसे क्रमशः विकसित और सर्वाङ्ग पूर्ण बनने में सहायता देता है। इससे सहज ही यह बात समझ में आ जायगी कि माता के स्वास्थ्य पर ही गर्भ का पोषण पूर्ण रूप से निर्भर रहता है। नीचे कुछ ऐसे नियमों का वर्णन किया जायगा, जिनका पालन भावी सन्तान के मङ्गल-साधन का सर्वश्रेष्ठ उपाय है:—

(१) भोजन—गर्भिणी को अपनी रक्षा करने के अति-

रिक्त एक अन्य प्राणी का भी पोषण करना पड़ता है। अतः उसे जहाँ तक हो सके, पुष्टिकारक पदार्थों का सेवन करना चाहिए। इस सिद्धान्त को लेकर कुछ लोग कहते हैं कि जब गर्भिणी के सम्पूर्ण शरीर के सारांश से गर्भस्थ बालक का पोषण और रक्षण होता है, तो क्यों न उसे पुष्टिकारक (गुरुपाच्य) आहार अधिक परिमाण में दिया जाय, परन्तु उनका यह विचार सर्वथा भ्रान्तिमूलक और अनिष्टकारी है। जब अधिक भोजन करने से साधारण सबल प्राणी भी रोग-ग्रसित हो जाता है, तब गर्भिणी के ऊपर उसका घातक प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। अतः गर्भावस्था में आहार पुष्टिवर्द्धक होते हुए भी उसका परिमाण सदा सूक्ष्म या लघु होना चाहिए। लघु, पुष्टिकारक और परिमित आहार करना चाहिए।

बहुत से विद्वान् "मांसान्मांसंप्रवर्धते" की उक्ति के अनुसार माता को मांसभक्षण की सम्मति दिया करते हैं। परन्तु हमारी समझ में कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर साधारणतया मांस का व्यवहार नहीं होना चाहिए। उसकी अपेक्षा तो ताज़ा और पके हुए फल—अङ्गूर, सेब, नासपाती, नारङ्गी, आम, तरबूज़, पपीता, लीची, केला, चेरी आदि—कहीं अधिक हितकर हो सकते हैं। जिन देशों या परिवारों में मछली-मांस खाने की प्रथा-सी चल पड़ी है, उनमें भी यदि इनका सम्पूर्ण त्याग असम्भव हो तो

इनकी मात्रा तो अवश्य ही कम कर देनी चाहिए। एक मृत-प्राणी के मांस से किसी कोमल और सुकुमार जीवधारी का शरीर गठित हो सकता है, इस तर्क को बुद्धि स्वीकार नहीं करती। बहुत सी स्त्रियों को खटाई से अधिक प्रेम होता है और उनकी यह अम्ल-प्रियता गर्भावस्था में बहुत बढ़ जाया करती है। उन्हें पहले तो खटाई एकदम छोड़ देनी चाहिए, यदि ऐसा करना किसी भी प्रकार सम्भव न हो तो थोड़े परिमाण में खाना चाहिए।

(२) पेय—यह परम सौभाग्य की बात है कि कतिपय दुराचारिणी स्त्रियों और पतित वेश्याओं को छोड़ कर, भारतवर्ष की साधारण सदाचारिणी कुलाङ्गनाएँ—चाहे वे सभ्यता के प्रकाश में पली हुई शिक्षिता महिला हों अथवा अन्धविश्वासों की पूजा करने वाली ग्राम-वधू—शराब आदि मादक वस्तुओं का किसी भी समय सेवन नहीं करतीं। गर्भावस्था में सुरापान करने से उत्पन्न होने वाली सन्तान उन्मत्त या दुराचारी होती है। चाय, काफ़ी आदि उत्तेजक द्रव्यों से भी परहेज़ करना चाहिए। पीने वाले पदार्थों में केवल शीतल जल और शुद्ध दूध का उपयोग लाभदायक है।

(३) रुचिविकार—कुछ स्त्रियों को गर्भ-धारण के कारण बहुत जघन्य और घृणित पदार्थों—भूनी हुई मिट्टी, राख आदि—को खाने की इच्छा होती है। इन्हें खाने से

कामला (कमलवाय), अजीर्ण आदि रोग होते हैं। इन्हें खाना वास्तव में लज्जा और दुःख का विषय है।

(४) शौचाचार—गर्भिणी को अपनी शरीर-शुद्धि के विषय में अधिक सावधान रहना चाहिए। ठीक समय पर मल-मूत्र का त्याग या स्नान न करने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष की स्त्रियाँ शायद शौचादि में अधिक सावधानी रखती हैं। प्रायः देखा जाता है कि बहुत-सी स्त्रियाँ तो इस सम्बन्ध में इतना हठ करती हैं कि रुग्णावस्था में भी बिना स्नान किए पथ्य ग्रहण नहीं करतीं। शौच में स्नान का स्थान सबसे अधिक ऊँचा है। त्वचा निर्मल होने पर लोमकूप खुले रहते हैं और उनके द्वारा शुद्ध वायु का आवागमन हुआ करता है। इससे रक्त शुद्ध होता है और स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है। शरीर अस्वस्थ होने पर बिना समझे-बूझे स्नान करने का हठ नहीं करना चाहिए।

(५) शुद्ध वायु—प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति जानता है कि हमारे जीवन के लिए वायु—शुद्ध वायु—की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी और किसी भी वस्तु की नहीं। अन्न और जल के अभाव में हम कुछ महीने या कुछ सप्ताह जी सकते हैं, पर वायु के बिना तो कुछ मिनट जीना भी असम्भव है। इस जीवनदायक पदार्थ की गर्भिणी को बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शुद्ध वायु के द्वारा

उसका दूषित रक्त साफ़ होकर उसके तथा गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य को नीरोग रखता है। दिन-रात खुली हवा में शिर-पीड़ा, अग्निमान्द्य, दृष्टि-दौर्बल्य और अनेक प्रकार के स्नायु-सम्बन्धी रोग नहीं सताते। अतः घर के चारों तरफ़, बाहर-भीतर बैठने और सोने की जगहों में हवा के आने-जाने का अच्छा रास्ता बना कर रहना चाहिए।

(६) व्यायाम—शरीर-धारण के लिए व्यायाम उतना ही आवश्यक है जितना आहार। बिना परिश्रम किए हुए मनुष्य जी नहीं सकता। व्यायाम के द्वारा शरीर में बल और शरीर के भीतरी यन्त्रों में प्राणशक्ति का आविर्भाव होता है। जो लोग बिना किसी प्रकार का परिश्रम किए हुए अपना सारा दिन आलस्य में व्यतीत करते हैं, उन्हें सदा कोई न कोई रोग लगा ही रहता है। गाँव की स्त्रियाँ घर का सब काम-काज स्वयं करती हैं, इसलिए उनका स्वास्थ्य गर्भावस्था में भी बिगड़ने नहीं पाता। शहर के कुछ लोग अपनी स्त्रियों को गर्भिणी होने पर देहात में भेज दिया करते हैं। इससे उन्हें शुद्ध-वायु और थोड़ा-बहुत परिश्रम करने का अवसर अवश्य मिल जाता है।

(७) विश्राम और निद्रा—दिन-रात में कुछ समय सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक यन्त्रों को पूर्ण विश्राम देने की आवश्यकता होती है। बिना सोए हुए हम अपने स्वास्थ्य को कदापि अच्छा नहीं रख सकते। विश्राम

कितनी देर करना चाहिए, यह मनुष्य के परिश्रम पर निर्भर है। जो अधिक परिश्रम करता है उसके लिए अधिक विश्राम, और कम परिश्रम करने वालों को अल्प निद्रा की आवश्यकता होती है। बहुत से लोग कहते हैं कि प्रतिदिन कम से कम छः-सात या आठ घण्टा सोना चाहिए। पर इस प्रकार का कोई कठोर नियम बनाने की आवश्यकता नहीं। जितना सोने से निद्रा भङ्ग होने पर मन में नया उत्साह, शरीर में नूतन शक्ति और कार्य करने में नवीन स्फूर्त्ति का अनुभव हो, उतना ही सोना चाहिए, न उससे अधिक न कम। अनिद्रा, अल्पनिद्रा और अति-निद्रा सबसे स्वास्थ्य की हानि होती है।

(८) मानसिक भाव—हमारे प्राचीन ऋषियों ने तो इस तत्व को समझा ही था, अब आधुनिक डॉक्टर लोग भी यह मानने लगे हैं कि शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए मन का सुव्यवस्थित होना परम आवश्यक है। मन में चिन्ता, उद्वेग, भय, शोक आदि के रहते हुए न तो शरीर या भोजन की शुद्धि पर भली-भाँति ध्यान दिया जा सकता है, न काम करने में जी लगता है और न निद्रा ही आ सकती है। इसलिए गर्भिणी के सामने कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं आने देनी चाहिए, जिससे उसके मन में क्षोभ, दुःख, आतङ्क, चिन्ता, घृणा, द्वेष या किसी अन्य कुटिल या घातक भाव का सञ्चार हो। ऐसा होने से

माता के स्नायुमण्डल क्षुब्ध होकर गर्भस्थ बालक के स्नायु-मण्डल को ऐसे तीव्र वेग से आन्दोलित करते हैं कि उनमें अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। कभी-कभी बालक का मस्तिष्क भी विकृत हो जाता है और उसे मृगी तथा उन्माद आदि पीड़ाएँ घेर लेती हैं। धार्मिक अनुष्ठानों, पवित्र ग्रन्थों के पढ़ने और सुनने, महात्मा, योद्धा, विद्वान् और सच्चरित्र पुरुषों की कथा सुनने और उनका चित्र देखने से गर्भ के ऊपर उनका प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक सम्भव हो, इन उपायों के द्वारा शिशु की मनोवृत्ति को गर्भ में ही उदात्त और महान् बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। यही मनोवृत्ति अधिक स्थायी होती और मनुष्य का जीवन इसी के प्रकाश से सुन्दर या मलिन बन जाता है।

(६) त्याज्य विषय—गर्भसञ्चार हो जाने के बाद गर्भिणी को मैले-कुचैले, लूले-लँगड़े, अन्धे-काने, कोढ़ी, अपाहिज़ तथा दुश्चरित्र मनुष्यों का दर्शन और सम्पर्क, मन में अशान्ति उत्पन्न करने वाली कथाओं का श्रवण, दुर्गन्धित, बासी और सड़े पदार्थों का सेवन, परदेश-गमन, एकान्त-वास, चैत्य (पूजनीय ग्राम समीपस्थ बड़-पीपल आदि वृक्ष) और श्मशान-यात्रा, वृक्षों के नीचे उठना-बैठना वा सोना, भार-वहन और ज़ोर से बोलना, सब त्याग देना चाहिए। इनके अतिरिक्त उन सब कारणों से परहेज़ रखना चाहिए, जिनसे गर्भपात या गर्भस्राव की आशङ्का रहती है।

गर्भस्राव या पात

गर्भाधान के लगभग नौ महीने या कम से कम सात महीने बाद जन्मने वाला बच्चा जीवित रह सकता है। इसके पहले यदि गर्भ में रहने वाला पदार्थ किसी कारण-वश गर्भाशय के बाहर निकल आवे तो इसे गर्भपात या गर्भस्राव कहते हैं। आधुनिक शरीर-विज्ञान और प्राचीन वैद्यकशास्त्र दोनों ने इसके दो भेद माने हैं। चार-पाँच महीने तक गर्भ का गिर जाना गर्भस्राव और इसके बाद गर्भपात कहलाता है।

गर्भस्राव के कई कारण हैं। जरायु के भीतरी रक्त-स्राव होने पर गर्भपात होता है। भ्रूण की मृत्यु गर्भस्राव का एक प्रधान कारण है। उपदंश, काला ज्वर, वसन्त-ज्वर आदि पीड़ाओं से भी गर्भस्राव होता है। इसके सिवाय भयानक परिश्रम या मानसिक खिन्नता, अधिक मैथुन या सुरापान करने, अशुद्ध शीशा धातु के विषयोग से अथवा अङ्गरेज़ी "आर्गट सेभाइन" आदि औषधियों के सेवन करने से, गर्भ के ऊपर आकस्मिक भारी आघात के लगने से जरायु-शोथ या उसकी स्थान-च्युति आदि कारणों से गर्भस्राव होने की सम्भावना रहती है।

यहाँ पर जो गर्भस्राव के कारण बताए गए हैं, उनमें से कोई-कोई पूर्वप्रवर्त्तक और कोई उत्तेजक कारण हो जाते हैं। जिन स्त्रियों को पहले से ही गर्भस्राव होने की आदत

होती है, उनका अति सामान्य कारणों से ही गर्भस्राव हो जाता है। किन्तु यह आदत न होने पर गर्भ सहज में ही नष्ट नहीं हो सकता।

गर्भपात के भी कई कारण हैं। गर्भाशय में संलग्न डिम्ब जब किसी भौतिक कारण (गर्भिणी के गिरने या आघात-चोट लगने या दबने अथवा भारी बोझ आदि उठाने) से क्षुब्ध होता है अथवा चेचक रोग या डिम्ब-पीड़ा के कारण दूषित होता है, तो माता व गर्भ के स्तरद्वय (पर्दे) के बीच में रक्तस्राव होने से गर्भपात हो जाता है।

पति या पत्नी को उपदंश-रोग होने के कारण डिम्ब रुग्ण और विकृत होता है। इस विकृत डिम्ब से उत्पन्न होने वाला गर्भ असमय ही मृत होकर गर्भाशय से बाहर निकल आता है। गर्भकोश (फूल) के रोग अथवा नाभि-रज्जु में रक्त-सञ्चार का अभाव होने के कारण भी गर्भ की मृत्यु हो जाती है। ग्रन्थिज्वर (प्लेग) विशेष कर वसन्त ज्वर (माता) व अन्यान्य प्रबल रोगों के कारण भी गर्भ-स्राव हो जाता है। बहुत तेज़, गरम, सर्द आदि गर्भाशय-सङ्कोचक औषधियों अथवा बहुत तेज़ जुलाब के सेवन करने से गर्भस्राव हो जाता है। इसके अतिरिक्त गर्भाशय तथा उसके समीप अनेक प्रकार के रोग होने के कारण भी गर्भपात हो जाता है।

कहीं-कहीं एकाएक पेट में वेदना उत्पन्न होकर शीघ्र

ही गर्भस्राव हो जाता है। इस दशा में और कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। गर्भस्राव में पहले रक्त गिरता है, फिर प्रसवकाल के समान पीड़ा उत्पन्न होकर गर्भपात हो जाता है। अधिकांश स्थानों में रक्तस्राव आरम्भ होकर कई घण्टों से कई दिन तक वर्तमान रहता है। इसमें निकलने वाले रक्त का कोई स्थिर प्रमाण नहीं है। किसी के साधारण और किसी के विशेष रूप में निकलता है। कहीं-कहीं पर पहले लगातार वेदना होती है और कहीं-कहीं सबसे पहले "लाइकार अमोनिया" निकलता है, बाद को गर्भपात हो जाता है।

यदि परीक्षा द्वारा यह सिद्ध हो जाय कि गर्भ जीवित है और गर्भाशय का मुख और ग्रीवा सङ्कुचित है तथा रक्तस्राव और वेदना साधारण हो, तो गर्भपात की चिकित्सा शीघ्र आरम्भ करनी चाहिए। इस अवस्था में उचित चिकित्सा और उपचार द्वारा गर्भ की जीवन-रक्षा की जा सकती है। परन्तु उँगली डालकर देखने से यदि यह पता चले कि गर्भाशय का मुख खुला हुआ तथा ग्रीवा की नली विस्तृत है और गर्भाशय को दबाने से जरायु नज़दीक प्रतीत हो तो गर्भपात रोकने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन लक्षणों के प्रगट होने पर यह दुर्घटना अवश्यमेव सङ्घटित होती है।

गर्भपात को चिकित्सा अवस्थानुसार तीन भागों में

विभक्त की जा सकती है—(१) गर्भपात की आशङ्का होने पर (२) गर्भपात को अपरिहार्य (अवश्य होने वाला) मान कर तथा (३) गर्भपात के अनन्तर।

(१) गर्भपात की आशङ्का में रोगिणी को पूर्ण रूप से विश्राम देना चाहिए। उपचारों और औषधियों के द्वारा स्नायवीय उग्रता और पेशियों का कार्य जहाँ तक हो सके कम करना चाहिए। रोगिणी यदि शान्त-चित्त के साथ किसी अन्धकारपूर्ण और निर्जन कोठरी में चुपचाप शय्या पर लेटी रहे, तो रोग में बहुत लाभ होता है। ब्रोमाइड पोटास, क्लोराइल या अफ़ीम देने से पेशियों की क्रिया कम की जा सकती है, परन्तु इन तीनों औषधियों में अफ़ीम सर्वोत्तम है। इसको खिलाने वा सरलान्त्र (बड़ी आँत) में पिचकारी द्वारा प्रयोग करने या सपोजिटरी (Suppository) रूप में या मार्फ़ाइन हाईपोडार्मिक (त्वचा की पिचकारी) रूप में प्रयोग किया जाता है। अथवा क्लोरोडाइन की १२ मिनिम की मात्रा प्रयोग करना चाहिए। अफ़ीम के साथ ब्रोमाइड या क्लोराइल का प्रयोग करने से यथेष्ट उपकार होता है। डॉक्टर फिलिप्स साहब गर्भपात की शङ्का में अल्प या बलकारक मात्रा में "आर्गट" प्रयोग की प्रशंसा करते हैं। गर्भाशय के उग्रतायुक्त होने या निर्गमनशील होने पर "टिङ्कचर सिमिसिफिउगा" ५–१० मिनिम मात्रा में प्रयोग करने से अत्यन्त लाभ होता है। सेबाइन

का शुष्क चूर्ण १५-२० ग्रेन मात्रा (शाक) में सेवन करना भी योग्य माना गया है। डॉक्टर शोयार्स महोदय अल्प मात्रा में हिङ्गु (हींग) का प्रयोग वताते हैं। यदि उपदंश रोग के कारण वार-बार गर्भस्राव होता है तो वह आयोडाइड पोटास का प्रयोग करने से शान्त हो जाता है। गर्भपात की आशङ्का होने पर विरेचन की औषधि देना निषेध है। कोष्ठ-शुद्धि के लिए थोड़ा-थोड़ा करके सरस-फल, मुलेठी, उन्नाव, गुलाव-फूल या गुलकन्द आदि का मृदु विरेचनकारक प्रयोग करना चाहिए। यदि इन औषधियों से भी पेट साफ़ न हो तो रेवत चीनी या एरण्ड-तेल (काष्ट्रायल) का प्रयोग करना चाहिए। साल्ट, सनाय, जमालगोटा (क्रोटन), पड्फिलम्, स्कामनि आदि तेल व विरेचनकारी औषधि नहीं देनी चाहिए। गर्भावस्था में स्टिकनाइन्, कान्थारिडिस व गर्भाशय-सङ्कोचक औषधियाँ देना बिलकुल निषिद्ध है।

(२) यदि लक्षणादि के देखने से गर्भपात अपरिहार्य हो तो पूर्वोक्त रीति से चिकित्सा बिलकुल नहीं करनी चाहिए। और इस अवस्था में रोगिणी को हर तरह से विश्राम देना अनावश्यक है, किन्तु शय्या का त्याग करना अनुचित है। यदि प्रसव-वेदना अधिक हो और रक्तस्राव भी अधिक हो तो उसके लिए विश्राम आदि के सिवाय दूसरी चिकित्सा की भी आवश्यकता नहीं है। गर्भ-स्राव

में विशेष रूप से परीक्षा करने की आवश्यकता है कि गर्भाशय का भीतरी समस्त पदार्थ बाहर निकला कि नहीं। इस बात को देखने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि गर्भ की तरुणावस्था में गर्भस्राव होने पर सम्पूर्ण डिम्ब बाहर निकल आता है। किन्तु तीन मास के बाद स्राव होने पर पहले गर्भ निकल जाता है और फूल गर्भाशय में लगा रह जाता है। वह फूल न निकल कर गर्भाशय में एक सप्ताह या उससे अधिक दिन तक रह कर, पक कर सड़ने लगता है। यदि उसकी उसी समय ठीक चिकित्सा न हो तो पेलभिक् शोथ उत्पन्न हो जाता है। कहीं-कहीं पर यह शोथ स्फोटक (सान्निपातिक या शीतला ज्वर) के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए यदि फूल का अधिकांश या अल्पांश गर्भाशय में रह जाय तो उसके निकालने की शीघ्र ही चेष्टा करनी चाहिए। चैतन्यहारक (बेहोशी लानेवाली) क्लोरोफ़ार्म आदि औषधियों से रोगिणी को मूर्च्छित कर फूल को सहज में निकाला जा सकता है। सम्पूर्ण पाक-निवारक (एण्टी सेप्टिक) उपायों से गर्भाशय से जुड़ा हुआ फूल बाहर निकाला जा सकता है। इसके लिए किसी यन्त्र-विशेष की आवश्यकता नहीं है। इसके निकालने के लिए एक हाथ को तलपेट में रखकर गर्भाशय को योनि की तरफ़ धीरे-धीरे ठेलना चाहिए और दूसरे हाथ की सब अँगुलियों को गर्भाशय के भीतर फाण्डास पर्यन्त प्रवेश कर

उनसे फूल को पकड़ कर धीरे-धीरे हिलाते हुए बाहर निकाल देना चाहिए। याद रहे कि हिलाने पर फूल टूटे नहीं।

यदि गर्भस्राव अपरिहार्य हो, परन्तु उसमें अधिक विलम्ब होने वाला हो, तो योग्य उपायों द्वारा उसे शीघ्र गिरा देना चाहिए। क्योंकि विलम्ब के कारण स्त्री की मृत्यु तक हो सकती है। यदि जरायु-ग्रीवा प्रसारित (खुली हुई) न हो तो कपड़े की एक मोटी वत्ती बनाकर ६ घण्टे तक उसे योनि में रखना चाहिए, इससे योनि-मुख आप से आप खुल जायगा। योनि-प्रेक्षण आदि यन्त्रों के द्वारा भी यह काम हो सकता है। योनि-मुख खुल जाने पर वस्तिगह्वर को साफ़ कर देना चाहिए और जब तक जरायु साफ़ और ख़ाली न हो तब तक एकाएक "आर्गट" औषधि का प्रयोग कदापि न करना चाहिए। यदि पात की दशा में झिल्ली आदि पदार्थ बाहर निकल आए हों तो आयोडीन का अरिष्ट (मद्य) प्रयोग करना अत्युत्तम है। जरायु-गह्वर को धोने के लिए औषधियों के विषय में चिकित्सकों का मत-भेद है। परन्तु इसके लिए "पिटियुटारिग्लाण्ड" का प्रयोग हाईपोडार्मिक (पिचकारी) के रूप में करना चाहिए।

(२) गर्भस्राव या पात के बाद गर्भाशय के भीतर अल्पमात्रा में आर्गट वा कुनैन की पिचकारी देनी चाहिए। "कण्डिस फ्लुइड्" आदि के जल से योनि को अथवा आव-

श्यक होने पर गर्भाशय को भी धोना चाहिए और प्रसूता के समान उपचार के साथ लघु व पुष्टिकर पथ्य तथा दो-तीन सप्ताह तक रोगिणी को पूर्ण रूप से विश्राम देना चाहिए।

यदि गर्भिणी के नियमों का पालन न करने के कारण दूसरे या तीसरे महीने में रक्तस्राव (आर्तव) होने लगे तो समझना चाहिए कि चिकित्सा करने से गर्भस्राव रुक नहीं सकता। उन महीनों में गर्भ एक शिथिल मांस-पिण्ड के रूप में होता है, जो पित्त की गर्मी से पिघल कर रक्त-रूप में परिणत होकर बहने लगता है। यदि चौथे से लेकर सातवें महीने के बीच में क्रोध, शोक, ईर्ष्या, भय, व्यायाम, शरीर को अधिक हिलाने-डुलाने, वात-मूत्र-पुरीष के वेगों को रोकने, ऊँचे-नीचे स्थान में सोने, भूख-प्यास रोकने, या सड़ा-गला, बासी, खुश्क, गरम, तीक्ष्ण अन्न खाने से रक्तस्राव होने लगे तो निम्न-लिखित उपायों को काम में लाना चाहिए :—

(१) गर्भिणी को कोमल, सुखप्रद और ठण्ढे बिछावन पर सिर को थोड़ा नीचा करके सुला देना चाहिए तथा मुलेठी और घी के शीतल जल में भिगोया हुआ फ़ाया योनि में रखना चाहिए।

(२) नाभि के नीचे हज़ार बार शीतल जल में धोए हुए घी का लेप करना चाहिए।

(३) गाय के ताज़े दूध या मुलेठी के शीतल जल से

अथवा पीपल, वड़, गूलर, पाकर और पारिस पीपल के ठण्ढे काथ से नाभि के नीचे सिञ्चन करना चाहिए।

(४) ठण्ढे जल को टब में भर कर गर्भिणी को नाभि पर्यन्त उसमें बैठाना चाहिए।

(५) पूर्वोक्त वड़ आदि पाँच द्रव्यों के स्वरस से भीगे हुए फ़ायों को योनि में रक्खे अथवा इन्हीं द्रव्यों के स्वरस तथा फल से सिद्ध घृत के या दूध के फ़ाए को योनि में रक्खे और इन्हीं पूर्वोक्त घृत-दुग्धों का पान करे।

(६) लाल तथा सफ़ेद रङ्ग के कमलों के केशरों को शहद तथा चीनी में मिला कर चाटना चाहिए।

(७) सिंघाड़ा, कमलगट्टा, और कसेरू इनका चूर्ण जल के साथ खावे।

(८) फूल-प्रियङ्गु, मिश्री, कमल, कन्द, गूलर का फल, और वड़ की कोंपल, इनको समभाग में पीस कर बकरी के दूध के साथ खाए।

(९) खरैटी, धान की जड़, गन्ने की जड़ और काकोली इन द्रव्यों से पकाए हुए दूध के साथ लाल चावलों का कोमल भात चीनी डालकर खिलाना चाहिए। यदि गर्भिणी मांस खाने वाली है, तो उसको ख़रगोश, चिड़ा, लवा, हिरण, चीतल आदि जीवों के मांस-रस को घी से छौंक कर भात के साथ खिलाना चाहिए।

(१०) गर्भिणी को हर तरह सुख पहुँचाने तथा

मनोहर कथाओं को सुनाकर प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध, शोक, भय, ईर्ष्या, व्यायाम, मैथुन आदि कष्टदायक कर्मों से बचाना चाहिए।

जिसके शरीर में आँव उत्पन्न होने के कारण या आम-रस की उत्पत्ति के कारण आँव के दस्तों के साथ गर्भाशय से रक्त निकलने लगा हो, उसका गर्भ स्थिर रहना असम्भव है। ऐसी अवस्था में चिकित्सा करना बड़ा कठिन होता है, क्योंकि शास्त्रानुसार आँव के लिए उष्ण और तीक्ष्ण गुण वाली तथा गर्भस्थिति के लिए मधुर शीत और मृदुगुणवाली औषधियाँ देनी चाहिए। ये दोनों विरुद्ध गुणवाली औषधियाँ एक साथ नहीं दी जा सकतीं। यदि एक रोग की औषधि दी जाती है, तो दूसरा रोग भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। अतः इस स्राव को सब प्रकार गर्भनाशक माना है।

उपविष्टक तथा नागोद

गर्भस्थ शिशु की शरीर-रचना समाप्त हो जाने के बाद यदि उष्ण और तीक्ष्ण आहार के कारण आर्तव बहने लगे या प्रदरादि रोगों के कारण योनि द्वारा प्रत्येक समय स्राव होता रहे तो गर्भ को यथेष्ट परिमाण में पौष्टिक पदार्थ प्राप्त नहीं होते और उसकी वृद्धि रुक जाती है। इससे यह गर्भ अपने नियत समय पर उत्पन्न न होकर बहुत पीछे गर्भाशय के बाहर निकलता है। इसे उपविष्टक गर्भ कहते हैं।

अधिक उपवास, अल्प शुष्क और वायुवर्द्धक अन्न के खाने अथवा भोजन में स्निग्धता का अभाव होने से गर्भ सूख जाता है, उसका समयानुसार विकाश नहीं होता। इसलिए यह भी अधिक समय तक गर्भाशय में पड़ा रहता है और गर्भिणी के शरीर में वायु की अधिकता होने के कारण फड़कता रहता है। इसे 'नागोदर' गर्भ कहते हैं।

इन दोनों ही गर्भों की अवस्था में स्त्री को मधुर वात-नाशक रस और पौष्टिक पदार्थों से दूध को पका-पकाकर देना चाहिए, क्योंकि इन दोनों ही गर्भों में वायु की अधिक वृद्धि रहती है, जिससे गर्भ की वृद्धि नहीं होने पाती है। ऐसी दशा में स्त्री को अष्टवर्ग की औषधियों का सेवन कराना चाहिए। अष्टवर्ग के अभाव में असगन्ध नागौरी, विदारीकन्द, बाराहीकन्द, सतावर, गोखरू, कौंच के बीज, इलायची इत्यादि औषधियों से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए। नागोदर की दशा में गर्भिणी को योनि-व्यापत् प्रकरण में लिखी हुई औषधियों का तथा दूध का प्रयोग कराना चाहिए। गर्भिणी को अच्छी तरह खिला-पिलाकर शरीर को हिलाने वाली गाड़ी, ताँगे, एक्के आदि सवारियों में बैठा कर चलावे। इससे गर्भ की वृद्धि होती है और सुखपूर्वक उत्पत्ति होती है। इसके सिवाय गर्भ-पुष्टिकर (मुर्गी के अण्डे आदि) पदार्थों का या पशुओं के आमगर्भों (अधूरे या कच्चे गर्भ) का सेवन कराना चाहिए। गर्भ की

वृद्धि करने वाले अष्टवर्ग आदि औषधियों के घृतअवलेह बनाकर सेवन कराना चाहिए।

स्पन्दन (फड़कन) रहित गर्भ की अवस्था में स्त्री को मछली, मोर, मुर्गा, तीतर आदि के घृत-मिश्रित मांस-रस के साथ अथवा मांस-रस या सूखी मूलियों के रस के साथ घी मिलाकर लाल चावल का भात खिलाना अथवा कोई मधुर, कोमल, शीतल गुण वाला भोजन देना चाहिए और गर्भिणी के उदर, वंक्षण, जाँघ, कमर, पसुली और पीठ में गुनगुने तेल की मालिश करनी चाहिए। इस प्रकार उपचार करने पर गर्भ पुष्ट होकर निर्बाध-रूप से उत्पन्न होता है।

गर्भस्राव की मासानुमासिक चिकित्सा

सुश्रुत ने गर्भस्राव-सम्बन्धी उपचारों का वर्णन करते हुए प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि मासों में पात होने वाले गर्भ के लिए निम्न-लिखित औषधियों को सेवन करना बताया है :—

(१) प्रथम मास में—मुलेठी, कसेरू, अन्धाहुली, देवदारु, इन औषधियों से दूध पका कर क्षीरपाक-विधान से देना चाहिए।

(२) द्वितीय मास में पात होने पर—लिसोड़ा, काले तिल, मजीठ और सतावर, इन औषधियों से दूध पका कर पिलाना चाहिए।

(३) तृतीय मास में पात होने पर—वन्दा, अन्धा-

हुली, कमल, अनन्तमूल (सारिवा), इन औषधियों से दूध पका कर देना चाहिए।

(४) चतुर्थ मास में पात होने पर—अनन्तमूल, सारिवा, रास्ना, पद्माक, मुलेठी, इन औषधियों से दूध पकाकर पिलाना चाहिए।

(५) पञ्चम मास में पात होने पर—छोटी-बड़ी कटेली, गाम्भारी-छाल, बड़, पीपल, पाकर, गूलर और पारिस पीपल की छाल कोंपल, इनसे दूध पकाकर उसमें घी मिला कर पिलाना चाहिए।

(६) छठे मास में पात होने पर—पृष्टिपर्णी, खरैंटी, सहिजने की छाल, गोखुरू, मुलेठी, इन औषधियों से दूध पका कर पिलाना चाहिए।

(७) सातवें महीने में पात होने पर—सिंघाड़ा, भसीड़ा (कमलनाल), मुनक्का, कसेरू, मुलेठी और मिश्री, इन औषधियों में दूध पकाकर उसमें मिश्री मिला कर पिलाना चाहिए।

गर्भपात में मौलिक योग—अधिकतर गर्भिणी के कमज़ोर होने पर गर्भपात हो जाया करता है, इसलिए स्त्री के शरीर में बल बढ़ाने के लिए उपाय करना चाहिए। ऐसी दशा में निम्नलिखित योग अत्यन्त लाभदायक हैं :—

सच्चे अनविंधे मोती, सोने के वर्क़, ज़हर मोहरा ख़ताई, तीनों को समभाग में लेकर गुलाब के अर्क़ में घोट कर

उसमें मूँगा-भस्म, मोती-भस्म, सीप-भस्म प्रत्येक छः-छः माशे, अर्थात् पूर्वोक्त चीज़ों से आधा-आधा डालकर जल या गुलाब-जल में घोटकर मूँग या चने के बराबर गोली बनाकर इस गोली को गर्भधारण से लेकर तीन मास तक धारोष्ण दूध के साथ सेवन करने से गर्भ और गर्भिणी दोनों पुष्ट होते हैं और अकाल गर्भपात नहीं होने पाता है।

पद्माकादिपानक—प्रति दिन ३ माशे पद्माक की लकड़ी को पानी में चन्दन की तरह घिसकर आध पाव गाय के दूध में मिलाकर १ तोला मिश्री डालकर पिलावे। इस तरह प्रथम मास से लेकर आठ मास तक पीने से कदापि गर्भ-पात नहीं हो सकता, और गर्भ हृष्ट-पुष्ट होकर सुख से उत्पन्न होता है। गर्भपात के समय पाँच-पाँच मिनट के बाद तीन-चार बार पिलाने से पात रुक जाता है।

गर्भविलास तैल—बिदारीकन्द, अनार के पत्ते, कच्ची हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सिंघाड़े के पत्ते, चमेली के फूल, सतावर, और नीलोफर, इन सब औषधियों को दो-दो तोला लेकर जल में पीस कर कल्क कर ले, फिर १ सेर तिल का तेल और एक सेर गोदुग्ध तथा चार सेर पानी सबको मिलाकर तेल पका ले। इस तेल के शरीर में मर्दन करने से गर्भपात-सम्बन्धी उपद्रव हो नष्ट जाता है।

पुष्करादि क्षीरपाक—कमलगट्टे की गिरी, अशोक-छाल, छोटी इलायची का दाना, खस, पठानी लोध और लाल-चन्दन दो-दो तोले लेकर जौकुट करके १० मात्रा बना ले। एक मात्रा औषधि आध सेर गाय के दूध में पकावे। जब आधा दूध जल जाय, तब उसमें एक छटाँक मिश्री मिला कर छान ले। इस दूध को थोड़ा-थोड़ा करके आध-आध घण्टे बाद तीन-चार बार पिलाने से होता हुआ गर्भपात रुक जाता है।

गर्भस्राव की अवस्थानुसार चिकित्सा

सुश्रुत ने लिखा है कि जब गर्भस्राव होने वाला होता है, तो गर्भवती के गर्भाशय, कमर, वंक्षण (रान) वस्ति-स्थानों में शूल होने लगता है और योनि-द्वारा रक्त भी निकलने लगता है। इस अवस्था में शीतपरिसेक अवगाहन टब में बैठना तथा शीतल द्रव्यों का पेट के ऊपर लेप करना चाहिए, और अष्टवर्ग, मुलेठी, जीवन्ती, माषपर्णी, और मूँगपर्णी इन औषधियों से दूध पका कर पिलाना चाहिए।

यदि गर्भ अधिक फड़कता हो और गर्भिणी को अत्यन्त असह्य दुख होता हो तो उसके रोकने के लिए गर्भवती को उत्पलादि गण की औषधियों से दूध पका कर देना चाहिए, और वायु को शमन करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए।

गर्भस्राव होने पर गर्भवती के पेट, गर्भाशय, वस्ति-गह्वर में दाह, पसली तथा पीठ में शूल, पेट में आध्मान, (अफरा) योनि से रक्तस्राव और मूत्रसङ्ग (मूत्र का बन्द होना) हो जाता है। इस अवस्था में अथवा गर्भ के हर समय स्थान-परिवर्तन में वस्तिगह्वर में पीड़ा तथा शोथ होने पर स्निग्ध तथा शीत उपचार करना चाहिए और योनि के मुख में बरफ़ का टुकड़ा या सतावरी घृत का फ़ाया रखना चाहिए। उत्पलादिगण की औषधियों से पकाकर दूध और घी का पान कराना चाहिए। इसी तरह शीत स्निग्ध घृतादि से शरीर में मालिश करानी चाहिए।

गर्भपात की दशा में वेदना के अधिक होने पर माष-पर्णी और मूँगपर्णी, मुलेठी, गोखुरू और छोटी करेली, इन औषधियों से पका हुआ दूध, शहद और चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए। पेट में अफरा अधिक होने पर हींग, काला नमक, लहसुन और वच इनसे पकाया हुआ घृत पिलाना चाहिए। मूत्रसङ्ग बन्द होने पर तृण पञ्चमूल से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए। यदि रक्त अधिक निकलता हो तो अञ्जनहारी (भृङ्गीकीट) के घर की मिट्टी, छुईमुई घास, धाय के फूल की कली, गेरू, राल, रसोत इनका चूर्ण बना कर ६ माशा मात्रा में शहद के साथ खिलाए, अथवा न्यग्रोधादि गण की औषधियों की छाल के कल्क से पका हुआ घृत खिलाना चाहिए और न्यग्रोधादि गण

के स्वरस में भीगे हुए रुई या कपड़े के फोहे योनि में रखने चाहिए।

रक्त के न निकलने पर केवल वेदना में गर्भवती को मुलेठी, देवदारु, क्षीरकाकोली, इनसे दूध पका कर देना चाहिए। अथवा क्षीरकाकोली, सतावर और लिसोड़ा इनसे दूध पका कर देना चाहिए। यदि वस्ति और पेट में शूल होता हो तो पुराने गुड़ में चित्रक, चव्यु, पीपल, पीपरा-मूल और सोंठ इनका चूर्ण मिलाकर खिलाना चाहिए। इस प्रकार चिकित्सा करने पर यदि गर्भ स्थिर हो जाय, तो गर्भवती को कच्चे गूलर के फलों से पके हुए दूध के साथ साठी या लाल चावलों का भात खिलाना चाहिए।

यदि पूर्वोक्त रीति से चिकित्सा करने पर गर्भपात हो जाय तो उस स्त्री के लिए प्रति मास एक दिन के हिसाब से अर्थात् जितने महीने का गर्भ गिरा हो उतने दिन घृत और लवण-रहित कोदों, समा आदि द्रव्यों की लप्सी पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ का चूर्ण डाल कर खिलानी चाहिए। बाक़ी उपचार प्रसूता स्त्री के समान करने चाहिए। क्योंकि इस दशा में स्त्री को ज्वर-काश, पार्श्व-शूल आदि रोग घेर लेते हैं, अतः उनकी चिकित्सा तथा पथ्यादि विधान प्रसूता स्त्री के समान करना चाहिए।

गर्भपात की दशा में, जब कि गर्भ गिर जाय, स्त्री को यथेष्ट मद्य का सेवन कराना चाहिए। इससे गर्भाशय में

विकृत रक्त आदि नहीं रहते और स्त्री को गर्भपात-जन्य पीड़ाएँ नहीं सताने पातीं। इसी तरह स्त्री को भूख लगने पर महा पञ्चमूल (वेल, अरणी, श्योनाक, पाढल, गाम्भारी) के क्वाथ में तिल, चावल या कोदों की पेया बना कर देना चाहिए। इस प्रकार के मद्य और पेया के पीने से स्त्री के शरीर में कफ-पित्त दोष रुकने या सूखने नहीं पाते। इसके अनन्तर रोगिणी को अग्निवर्द्धक—अजवायन, चित्रक, मिर्च, सोंठ आदि औषधियों के योग से—लघुपथ्य देकर बाद को बलकारक अन्नस्नेह और वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

गर्भिणी के रोग

वमन
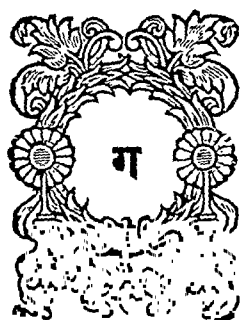
र्भाधान के दो या तीन महीने बाद यह रोग प्रकट होता है। इसमें गर्भिणी को बड़ा कष्ट होता और खाया-पिया हुआ सब निकल जाता है। यह दशा कभी-कभी गर्भ-स्पन्दन (फड़कन) तक और कभी बच्चे के पैदा होने तक बनी रहती है। इसका वेग प्रातःकाल से आरम्भ होकर प्रायः दोपहर को बन्द हो जाता है, परन्तु कभी-कभी आठों पहर बना रहता है। गर्भिणी की अवस्था ऐसी सङ्कटापन्न हो जाती है कि भोजन का नाम लेते ही जी मिचलाने और उबकाई आने लगती है। उलटी के साथ अम्लपित्त गिरता है।

मूर्च्छा के साथ लगातार वमन हो तो रोग को असाध्य

समझना चाहिए। इसमें मुख मलिन तथा जिह्वा मैली और सूखी होती है, आमाशय में दर्द और बेचैनी रहती है। मन में शोक तथा चिन्ता उत्पन्न होती है, भूख-प्यास नष्ट होती है और नींद नहीं आती। अवस्था इससे भी अधिक ख़राब होने पर ज्वर आता है, नाड़ी मद्धिम तथा निर्बल हो जाती है। शरीर में दुर्बलता और श्वास में दुर्गन्ध आने लगती है। जिह्वा सूखी और काली हो जाती है तथा कभी-कभी वमन में रुधिर भी आने लगता है। रोगिणी बेहोश होकर सन्निपात के सदृश प्रलाप करती है। यह अवस्था कुछ काल तक बनी रहे तो मृत्यु का भय रहता है। इस रोग में सहज लक्षणों के होने पर तो परिणाम अच्छा होता है, किन्तु कठिन लक्षणों का उदय होने पर गर्भपात या मृत्यु अवश्यम्भावी होती है।

(१) दूध या जल के साथ प्रतिदिन २½ तोला गुलकन्द देने से क़ब्ज़ दूर हो जाता है।

(२) रोगिणी को परिश्रम नहीं करना चाहिए, पलङ्ग पर सीधे लेटे रहना चाहिए। किसी काग़ज़ पर राई का प्लास्टर फैला कर दस-पन्द्रह मिनट तक आमाशय के ऊपर रखना चाहिए। पथ्य में सेब और मलाई या मलाई का बरफ़ और प्रातःकाल सोकर उठते ही चूने के नितरे हुए जल में मिला कर काफ़ी या दूध के साथ चाय पीने के लिए देना चाहिए।

(३) दूध में बरफ़ डाल कर पिलाने से भी लाभ होता है। यदि कोई पथ्य न पचता हो तो केवल सोडावाटर में दूध मिला कर देना चाहिए। कोई वस्तु एक ही बार अधिक मात्रा में नहीं देनी चाहिए, किन्तु थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार देने से वह पेट में टिकती है। इस रोग में मलाई का बरफ़ तथा नारङ्गी बहुत अधिक लाभदायक हैं। सब रोगिणियों को एक ही औषधि नहीं देनी चाहिए। किसी को एक औषधि से लाभ होता है तो किसी को दूसरी से। इसलिए औषधियों को परिवर्तन करके देखना चाहिए कि कौन सी औषधि सबसे अधिक लाभदायक है।

(४) एसिड टारटारिक (विलायती इमली का सत) ४० ग्रेन, शुगर (चीनी) २ ड्राम, इन दोनों को मिला कर एक पुड़िया बना कर अलग रक्खे और सोडा बाइकार्बोनास (सोडा) २० ग्रेन, सिरप ऑरेञ्ज आई (नारङ्गी का शर-बत) २ ड्राम, पानी या गुलाब-जल २ औंस, इन तीनों को मिला कर एक बड़े काँच या क़लई के गिलास में रक्खे, पीछे ऊपर की पुड़िया इस गिलास की औषधि में मिला कर शीघ्र ही पिला दे। क्योंकि यह बहुत उबाल खाती है और उबाल में सब निकल जाती है।

(५) आक्ज़ीलेट ऑफ़ सोरियम ३ ग्रेन और एक्सट्रेक्ट नक्सवामिका $\frac{1}{8}$ ग्रेन, इन दोनों को मिला कर एक गोली बना ले। ऐसी ३-४ गोली दिन में देनी चाहिए।

(६) मारफ़ाइन (अफ़ीम का सत) और बेलेडोना (धतूरे का सत) की बत्ती बना कर भग में रखने से अथवा कोकेन को गर्भाशय के मुख में लगाने से लाभ होता है। यदि वमन की हर तरह की चिकित्सा कर चुकने पर भी कुछ लाभ न हो और रोगिणी की दशा दिन प्रतिदिन ख़राब ही होती जाय तो गर्भपात करा देना चाहिए। परन्तु यह काम बड़े ख़तरे का है, अतः इसमें किसी योग्य चिकित्सक की सम्मति अवश्य लेनी चाहिए।

किसी-किसी स्त्री की पाचनशक्ति बिलकुल ख़राब हो जाती है, झूठी भूख लगती है, आमाशय में ज्वाला और पेट में पीड़ा होती है। सम्पूर्ण अन्न-नाली में विकार उत्पन्न हो जाता है, क़ब्ज़ होता है और जीभ मैली पड़ जाती है। ऐसी दशा में इन विकारों को दूर करने के लिए निम्न-लिखित योग देना चाहिए :—

(१) एसिड नाइट्रो हाईड्रोक्लोरिड डाईल्यूड १० बूँद, कुनाइन सलफ़ेट २ ग्रेन, टिंक्चर जिञ्जर १० बूँद, टिंक्चर कार्डिमम् २० बूँद, इनको इनफ्यूजन कासिया अथवा पिपरमेण्ट वाटर १ औंस में मिला कर एक मात्रा बना ले, ऐसी तीन-चार मात्राएँ प्रतिदिन देनी चाहिए।

(२) क़ब्ज़ दूर करने के लिए गुलकन्द २ तोले अथवा कास्ट्रॉयल (एरण्ड तेल) दूध में मिला कर देवे।

(३) यदि अधिक अजीर्ण वा पेट में पीड़ा या

भारीपन हो, तो पेपसिन ५ ग्रेन, सोडा बाई कार्बोनास ५ ग्रेन, विस्मिथ सबनाइट्रास ५ ग्रेन, इन तीनों को मिला कर एक पुड़िया बनावे। ऐसी तीन-चार मात्राएँ दिन में जल के साथ देवे।

(४) खीलों का चूर्ण, मुनक्का और चीनी इन तीनों को एकत्र कर जल से पीस कर छान ले। इस जल का थोड़ा-थोड़ा करके पान करावे।

(५) मुनक्का, घिसा हुआ सफ़ेद चन्दन, इलायची, सौंफ़, इनको जल के साथ पीस कर थोड़ा-थोड़ा करके पिलाते रहना चाहिए।

(६) गर्भविलास तेल या वात-व्याधि अधिकारोक्त—विष्णु तैल, नारायण या मध्यम नारायण तैल की मालिश करानी चाहिए। इन्हीं तेलों को शिर में चक्कर आने पर लगाना चाहिए या बादाम तैल और मग़्ज़कद्दू तैल को शिर में मालिश करानी चाहिए।

गर्भिणी का ज्वर

इस ज्वर से गर्भ तथा गर्भिणी दोनों का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और कभी-कभी तो ज्वर की गरमी से गर्भपात तक हो जाता है। ज्वर को दूर करने के लिए तीक्ष्ण औषधियाँ कभी नहीं देनी चाहिए, इससे ज्वर तो दूर हो जाता है, पर गर्भपात होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

ऐसी अवस्था में सदा शीतवीर्य और मृदु औषधियों का सेवन ही श्रेयस्कर है।

(१) मुलेठी, लाल चन्दन, ख़स, अनन्तमूल, पद्माक, काष्ठ, तेजपात, सबका क्वाथ बना कर शहद और चीनी के साथ पीने से गर्भिणी का ज्वर शान्त हो जाता है।

(२) लाल चन्दन, अनन्तमूल, लोध और मुनक्का, इनके क्वाथ में चीनी डाल कर पिलाने से लाभ होता है।

(३) एरण्डादि क्वाथ, गर्भचिन्तामणि रस, गर्भविलास-रस, गर्भपीयूष वल्ली रसों को भी देश-कालानुसार सेवन कराना चाहिए।

(४) पाचन औषधियों की आवश्यकता हो तो ज्वर-रोग में कही हुई औषधियों में से प्रायः मृदुवीर्य योगों का विवेचनापूर्वक प्रयोग कराना चाहिए।

अतिसार

इससे भी गर्भिणी को बहुत कष्ट होता है और रोग के अधिक बढ़ने पर गर्भपात हो जाता है। यदि क़ब्ज़ के कारण यह रोग उत्पन्न हुआ हो, तो पहले क़ब्ज़ को हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। दस्त बन्द करने के लिए निम्न-लिखित औषधियाँ दी जा सकती हैं :—

(१) टिङ्कचर ओपियम (अफ़ीम) ५ बूँद, चाक सिक्-श्चर (मिट्टी का जल) १ औंस, इन दोनों को मिला कर दिन में ३ या ४ बार देवे।

(२) पल्व क्रीटा एरोमेटिक कम्पाउण्ड १० ग्रन, बिस्मिथ सवनाइट्रास ५ ग्रेन, इन दोनों को मिला कर एक मात्रा बनावे। ऐसी दिन में ३ या ४ मात्रा देनी चाहिए। क्लोरोडाइन की भी १० बूँद पिला सकते हैं। किन्तु इन चीज़ों के उपयोगों में यह ध्यान रहे कि एक साथ कहीं क़ब्ज़ न हो जाय। क्योंकि क़ब्ज़ होने से गर्भपात का डर रहता है। इसलिए अफ़ीम और क्लोरोडाइन का प्रयोग ख़ूब सोच-विचार कर करना चाहिए।

(३) आम और जामुन की छाल का क्वाथ बना कर उसमें धान की खीलों का चूर्ण १ तोला मिला, सेवन करने से गर्भिणी की संग्रहणी और अतिसार दोनों रोग शान्त होते हैं।

(४) वृहत्ह्रीवेरादि क्वाथ, लवङ्गादि चूर्ण, इन्दुशेखर रस आदि औषधियों से भी लाभ होता है।

(५) पके हुए देशी मीठे आम, बेल, पपीता आदि दस्तावर फलों के व्यवहार से मलावरोध दूर हो जाता है।

(६) गरम दूध में किसमिस और मिश्री मिला कर पीने से भी दस्त खुल कर आ जाता है।

(७) क़ब्ज़ अधिक हो तो दूध के साथ एरण्ड का तेल देना चाहिए। परन्तु यह बात ध्यान में रहे कि अधिक दस्त न होने पावें।

(८) लघु, पौष्टिक और परिमित भोजन तथा रुचि-

वर्द्धक हिंग्वाष्टक, यवानी, खाण्डव, महाखाण्डव आदि चूर्णों के सेवन से अजीर्ण दूर हो जाता है।

अर्श या बवासीर

प्रायः गर्भावस्था में गर्भाशय के दबाव और वस्ति-गह्वर में मल भरे रहने से बड़ी आँतो में गर्मी उत्पन्न होती है। इस गर्मी के कारण बवासीर के कष्टकर लक्षण उदय होते हैं। इसकी चिकित्सा में आँतों को कोमल बनाए रखने के लिए निम्न-लिखित मोदक बहुत गुणकारी सिद्ध हुए हैं :—

(१) अगस्ति मोदक—हरड़ १२ तोले, त्रिकटु १२ तोले, दालचीनी १ तोला, तेजपात १ तोला और पुराना गुड़ २ तोले, इनको कूट-छान, पीस कर चार-चार माशे की गोलियाँ बना ले। रात को सोते समय दूध या गरम जल के साथ प्रति दिन एक गोली के सेवन करने से अर्श, संग्रहणी, उदावर्त आदि रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं।

(२) एलोज का चूर्ण १½ ग्रेन, एक्सट्रेक्ट नेक्सवामिका ½ ग्रेन, एक्सट्रेक्ट हायोसायमस २ ग्रेन, इन सबको मिला कर एक गोली बनावे। ऐसी १ या दो गोली रात को सोते समय खिलावे।

(३) यदि मस्से सूजे हुए हों और उनमें पीड़ा अधिक हो तो उनमें माजूफल-मिश्रित मरहम लगावे।

(४) "हेज़लीन" नामक औषधि में रूई भिगो कर मस्सों में रक्खे या उनके मुखों पर सुई से छेद कर दे।

(५) राल को मक्खन में मिला कर ख़ूब धोवे, पीछे उसमें घी या तोरी या तोरी के पत्तों का रस डाल कर फूल की थाली में हथेली से ख़ूब फेंटे। फेंटते समय उसमें एक चावल भर हरा तूतिया भी छोड़ दे। फिर इस मरहम को मस्सों पर लगा कर ख़ूब सेंके। यह बहुत ही लाभदायक अर्शोहर लेप है।

दन्त-पीड़ा

गर्भ की आरम्भिक अवस्था में गर्भिणी स्त्रियों के दाँतों में दर्द हुआ करता है। दाँतों के भीतर कृमि आदि का होना इसका कारण बताया जाता है।

(१) दाँतों में गढ़ा (छिद्र) हो तो क्रियाजोट में कपूर की डली भिगो कर उन छिद्रों में भर देना चाहिए।

(२) कार्बोलिक एसिड के लोशन में अथवा कुनैन के लोशन (जल) में रूई भिगोकर छिद्रों में भर देने से भी लाभ होता है।

(३) अफ़ीम-जल और टिङ्क्चर आयोडीन में रूई भिगो कर दाँतों के बीच में भर सकते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि ये दवाएँ पेट के भीतर न जाने पावें।

(४) कपूर और हींग की डली दोनों को रूई में लपेट कर दाँतों के छिद्रों में भरने से शीघ्र लाभ होता है।

फुफ्फुस विकार

गर्भवृद्धि के कारण फेफड़ों में दबाव पड़ने से श्वास-कष्ट, खाँसी, कूकुर खाँसी आदि कई रोग हो जाते हैं। इनकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं की जाती, क्योंकि बच्चे का जन्म हो जाने पर ये आप से आप शान्त हो जाते हैं। लवङ्गादि वटी या पुटपाक में पकी हुई बहेरे की छाल या लिसोड़े की चटनी (माजूम) देने से खाँसी दूर होती है। बलकारक पथ्य और शुद्ध वायु का सेवन इन रोगों को शीघ्र ही दूर कर देता है।

हृद्रोग या हौलदिली

हृदय की निर्बलता और गर्भ-भार के कारण तबीयत घबराती है और मामूली बातों में भी डर मालूम होता है। इस रोग में गर्भिणी को सीधा लिटाना और हृदय को बल देने वाली औषधियाँ खिलानी चाहिए।

(१) मोती-भस्म या गुलाब-जल में घुटी हुई मोती ६ माशे, सितोपलादि चूर्ण १ तोला, अभ्रकभस्म ३ माशे और स्वर्ण-भस्म ३ माशे सबको मिला कर चूर्ण बना लेवे। प्रति-दिन ३ या ४ रत्ती चूर्ण शर्बत-अनार या मक्खन के साथ खिलाने से घबराहट कम होती है।

(२) प्रातःकाल मक्खन के साथ सितोपलादि चूर्ण ४ माशे और रात को सोते समय च्यवनप्राश ६ माशे

दूध के साथ खिलाने से सब प्रकार की घबराहट मिट जाती है।

(३) कूष्माण्डावलेह, मोती और अभ्रक-भस्म मिला कर खाने के बाद ऊपर से ताज़ा गोदुग्ध पीने से हौलदिली बात की बात में ग़ायब हो जाती है।

(४) स्पिरिट एमोनिया एरोमेटिक १५ बूँद, ब्राण्डी २ ड्राम, स्पिरिट क्लोरोफ़ॉर्म १० बूँद, जल एक औंस, इन सब को मिला कर एक मात्रा बनावे। ऐसी दो-तीन मात्राएँ दिन में पिलाया करे। यदि यह रोग रक्त की कमी के कारण हो तो सेकरेटेड कार्बोनेट ऑफ़ आइरन १० ग्रेन दिन में तीन बार भोजन के उपरान्त खिलावे।

मूर्च्छा (सिनकोपी)

जब गर्भाशय में बालक पहले पहल स्पन्दन करता है तो गर्भिणी को बड़ा कष्ट होता है। उसके बहुत अधिक हिलने-डोलने से गर्भिणी को मूर्च्छा भी आ जाती है। उस समय स्त्री के शरीर पर शीतल वायु करना चाहिए, शीतल जल पिलाना चाहिए तथा सुगन्धित द्रव्यों को सुँघाना चाहिए। बालक यदि हिलने के कारण अपने उचित स्थान से हट कर वक्षण आदि स्थानों में आ गया हो तो किसी दाई से उसे ठीक करा देना चाहिए। मूर्च्छा के समय भी यह योग देना चाहिए। स्पिरिट एमोनिया एरो-

मेटिक २० बूँद, स्पिरिट ईथर कम्पाउण्ड १५ बूँद, स्पिरिट क्लोरोफ़ॉर्म १५ बूँद, एक्वा कैम्फ़र १ औंस। यह एक मात्रा है। ऐसी दो-तीन मात्रा देवे। मूर्च्छा उतर जाने पर निम्न-लिखित रस देना चाहिए।

रससिन्दूर, स्वर्णमाक्षिक, स्वर्णभस्म, शिलाजीत, और लोहभस्म, इनको सम-भाग में लेकर शतावर और कूष्माण्ड (पेठे) के रस में भावना देकर दो-दो रत्ती के बराबर गोलियाँ बना ले। इसे शतावर के रस या त्रिफला जल आदि वातनाशक अनुपान के साथ या शर्बत-अनार के साथ सेवन करने से सब प्रकार की मूर्च्छा शान्त हो जाता है।

रक्त की कमी

गर्भिणी का रक्त रूपान्तरित होकर गर्भ के पोषण और विकाश के निमित्त अनेक पदार्थों की सृष्टि करता है। इस से स्त्री के शरीर में रक्त की कमी पड़ जाती है। कभी-कभी यह कमी एक विशिष्ट सीमा को पार कर स्त्री की जीवन-लीला तक समाप्त कर देती है। रक्त की कमी दूर करने के लिए लौह से बढ़ कर उत्तम अन्य कोई औषधि नहीं है। किन्तु इसका असर तब ही होगा, जबकि अनुपान और कोष्ठ-शुद्धि की सर्वोत्तम व्यवस्था की जाय। भोजन शीघ्र पचने वाला, वायु स्वच्छ और पीने का जल साफ़ और ताज़ा मिलना चाहिए। फलों में सेब, अङ्गूर, अनार, किश-

मिश आदि बहुत गुणकारी हैं। इन वस्तुओं के अभाव में सिर्फ़ लोहा खाने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। परन्तु उचित अनुपान के साथ इस औषधि का सेवन करने से थोड़े ही समय में सारा शरीर रक्त से भर जाता है। शुद्ध सङ्खिया अथवा सङ्खिये के अर्क़ से भी लाभ होता है, परन्तु इसे बहुत थोड़ी मात्रा में खाना चाहिए। किसी अन्य योग के साथ सङ्खिये का प्रयोग करने से गर्भिणी की अवस्था में बहुत लाभ होता है। आरम्भ में "लाइकोर आरसेनिकिलस" १० बूँद और "इनफ्यूजन केलम्बा" १ औंस दोनों की एक मात्रा बना कर, ऐसी दो मात्रा भोजन के पश्चात् देवे और धीरे-धीरे औषधि की मात्रा बढ़ाता जाय। स्वर्ण-भस्म, मौक्तिक-भस्म, वसन्त-मालती, लोह-भस्म और मल्लसिन्दूर सबको समभाग में मिला कर सुबह-शाम १॥ रत्ती की मात्रा सेब के मुरब्बे में खाने से रक्त की कमी शीघ्र दूर हो जाती है। पथ्य में दूध के साथ थोड़ा सा ब्राण्डी और हो सके तो मांस-रस भी देना चाहिए। शुद्ध वायु का सेवन करे।

शोथ

इस रोग में गर्भिणी स्त्रियों के शरीर की जालीदार झिल्लियों में जल इकट्ठा हो जाता है। यह प्रायः शरीर के नीचे के भागों में होता है, किन्तु कभी-कभी मुँह, बाँह और गले में भी देखा जाता है। जिस प्रकार का शोथ गर्भ-

वतियों के पैरों में गर्भाशय के दबाव के कारण हो जाता है ठीक वैसा ही शोथ वृक्कों (गुर्दे) के रोग में भी होता है, किन्तु गुर्दे के रोगों में मूत्र में एक लसदार पदार्थ "एल-ब्यूमन" पाया जाता है जो शोथ में नहीं होता। यदि यह शोथ बहुत बढ़ जाय तो निम्न-लिखित योग देना चाहिए। सफ़ेद और लाल पुनर्नवा, देवदारु, सोंठ, मकोय और गिलोय, इनका काढ़ा बना कर पिलावे और रोगिणी के शरीर में जहाँ शोथ अधिक हो, मकोय के रस की मालिश करे। यह शोथ यदि किसी अन्य रोग के कारण हो तो भी पूर्वोक्त योग गुणदायक है। गर्भभार से उत्पन्न होने वाला शोथ ज्यों-ज्यों प्रसवकाल समीप आता है त्यों-त्यों घटता जाता है। इसमें केवल पथ्य और विश्राम का ध्यान रखना चाहिए तथा स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पालन करते रहना चाहिए।

शिरा-आध्मान

इसमें पैर की बाहरी काले रक्त की उत्थित शिरायें गर्भाशय के दबाव के कारण फूल जाया करती हैं। यदि यह रोग टाँगों में हो तो टाँगों में रबर के मोज़े पहिना कर या कपड़े की पट्टी बाँध कर उनको ऊँची करके रक्खे। पेट पर एक चौड़ी पट्टी बाँध कर गर्भाशय को ऊपर की तरफ़ सहारा देकर रक्खे, जिससे रक्त की शिराओं के ऊपर से गर्भाशय का भार हट जाय। भग की रक्तशिरा फूल गई हो तो उसे

अच्छा करने का कोई उपाय नहीं। केवल रोगिणी को यह समझा देना चाहिए कि वह उनमें किसी प्रकार का आघात न पहुँचने दे और न मल-त्याग के समय ज़ोर से कूँथे।

शुक्ल-प्रमेह (एलब्यूमिनोरिया)

इस प्रमेह में मूत्र के साथ एलब्यूमन (Albumen) नाम का एक पदार्थ निकलने के कारण गर्भवतियों को कम्प-वायु, सुन्न (लक़वा) या शिरपीड़ा, प्रसूतोन्माद आदि अनेक प्रकार के रोग घेर लेते हैं। इसके कारणों का नीचे पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

(१) यह रोग प्रायः प्रथम गर्भधारण के समय होता है। गर्भाधान के पाँचवें महीने तक मूत्र के साथ एलबुमेन आने लगता है। इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भ के समय गर्भाशय की दीवारें बहुत कड़ी रहती हैं। यह कठोरता गुर्दों के ऊपर दबाव डाल कर उनके रक्त-सञ्चार में वाधा उपस्थित करती है। इससे मूत्र के साथ एलब्यूमन गिरने लगता है।' इस विषय में यह भी ध्यान रहे कि इस दवाव के अतिरिक्त अन्यान्य कारणों से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। गर्भाशय तथा डिम्बाशय की ग्रन्थियों में यह वातें नहीं पाई जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गर्भ की अपेक्षा ग्रन्थियों में अधिक दवाव पहुँचता है। तथापि पूर्वोक्त लक्षण नहीं दीखते।

(२) शीत (सर्दी) का लगना।

(३) गर्भाधान के पूर्व से ही स्त्री को यह रोग हो तो यह गर्भिणी की अवस्था में प्रकट होता है। इसका परिणाम सदा ही शोचनीय होता है। प्रसव से कुछ ही पूर्व यदि यह आरम्भ हो तो प्रसव के बाद स्वतः शान्त हो जाता है; परन्तु यदि कुछ सप्ताह पूर्व आरम्भ हो तो इसके स्थायी होने की शङ्का रहती है। मूत्र द्वारा एलब्यूमन निकलते रहने के कारण गर्भ का पालन-पोषण भली भाँति नहीं हो सकता और प्रायः गर्भ गिर जाता है।

इस रोग के आरम्भ होते ही सिर से पैर तक शरीर की झिल्लियों में जल भर जाता है। फिर मस्तक में पीड़ा, सिर घूमना, दृष्टि-भेद, मूर्च्छा, वमन, अनिद्रा आदि होती है। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। मूत्र का परिमाण कम और वर्ण गहरा लाल रहता है। परीक्षा करने पर उसमें एलब्यूमन और रक्त आदि पाए जाते हैं। मूत्र खुल कर साफ़ आने के लिए यवक्षार आदि रेचक औषधियाँ देनी चाहिए और ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे रक्त में लाल दानों की संख्या बढ़े। लोह मिश्रित औषधि, दूध का सेवन और स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पालन करने से यह अभिप्राय बहुत अंशों में सिद्ध हो सकता है। यदि इस प्रकार की औषधियों से कुछ भी लाभ न हो और लक्षण भयङ्कर होने लगें तो गर्भपात कराने की चेष्टा करनी चाहिए,

क्योंकि इस रोग में बालक का जीता बचना लगभग असम्भव होता है। अतः बालक की चिन्ता छोड़ कर स्त्री को ही सुरक्षित करने पर ध्यान देना चाहिए।

रक्त-सञ्चार में विकृति

गर्भिणी के रक्त-सञ्चार में विकृति होने पर उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन, निराशा और उन्मादादि का प्रादुर्भाव होता है। उसे गर्भ की बड़ी चिन्ता रहती है, नींद अच्छी तरह नहीं आती और उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

(१) शिर में चन्दनादि तैल या लाक्षादि तैल और पैर के तलुओं में तेल की मालिश कराने से नींद अच्छी तरह आने लगती है।

(२) क्लोरल हाइड्रेट १० ग्रेन, ब्रोमाइड पुटाश २० ग्रेन, सादा सीरप (शर्बत) १ औंस, जल १ औंस। सब को मिला कर सोते समय खिलाने से भी नींद आती है।

मस्तक-पीड़ा

गर्भवतियों के मस्तक, स्तनों, पसली गर्भाशय, जाँघ, पैर, कमर और मुख में भी पीड़ा होती है।

(१) नारायण और लाक्षादि तैल में थोड़ा सा तारपीन का तेल मिला कर पीड़ा के स्थान पर मालिश करे।

(२) केशरवटी को शर्बत-अनार या सन्तरे के शर्बत में खिलावे।

(३) एसिड हाइड्रो ब्रोमिक डायल्यूट १० मिनिम, कुनैन ५ ग्रेन, ब्रोमाइड पुटाश १० से २० ग्रेन तक, सीरप क्लोरल १ ड्राम, जल १ औंस, सब मिला कर एक मात्रा है। ऐसी दो-तीन मात्राएँ दिन में पिलावे।

(४) शिर में आँवले का तैल तथा चमेली का तैल लगावे। अधिक पीड़ा होने पर कनपटी में छाले पैदा करने वाली औषधि, (राई) लगा दे। लौंग का तैल मस्तिष्क में लगावे। मलावरोध हो तो पेट साफ़ करा दे और मानसिक परिश्रम, पढ़ना-लिखना आदि से परहेज़ रक्खे।

पक्षाघात

गर्भिणी को अनेक प्रकार के पक्षाघात होते हैं; कमर से नीचे पक्षाघात, अर्धाङ्ग पक्षाघात, मुख का पक्षाघात (अर्दित), शिरायतानक पक्षाघात और देखने-सुनने और स्वाद की शक्तियों को नष्ट करने वाला पक्षाघात (लक़वा)। इनके साथ कभी-कभी प्रमेह का रोग भी प्रकट होता है। प्रमेह-युक्त पक्षाघात इन सब में अधिक भयानक होता है। यदि ये पक्षाघात कृत्रिम प्रकार के हों अथवा किसी विशेष रोग के कारण न हों, तो प्रसव के बाद स्वयम् अच्छे हो जाते हैं। परीक्षा द्वारा सर्व-प्रथम देख लेना चाहिए कि मूत्र में एलब्यूमन आता है या नहीं। यदि आता हो तो शीघ्र ही गर्भ गिरा देना चाहिए। इस क्रिया से रोग दूर

हो जाने की बहुत आशा रहती है। परन्तु यदि यह उपाय असफल हो जाय तो रोग की स्वतन्त्र चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए। लक़वे में कुचला बहुत ही गुणदायक औषधि है। इसको लोहे के साथ मिला कर थोड़ी मात्रा में देना चाहिए। पूर्वोक्त केशरादि वटी के साथ लोह-भस्म मिला कर शहद के साथ खिलावे और शरीर में नारायण, विषगर्भ और तारपीन का तेल मिलाकर मालिश करे। त्वचा में कुचले का अर्क़ प्रवेश कराने से बहुत शीघ्र लाभ होता है।

अर्धाङ्ग पक्षाघात

यह रोग अधिकतर मस्तक के भेजे के भीतर रक्त-स्राव होने या रक्त के जमने, शरीर में हिस्टीरिया और मलेरिया का विष रहने और मूर्च्छा-रोग से ग्रसित होने पर गर्भिणियों को हुआ करता है। इसको अङ्गरेज़ी में "हेमीप्लेजिया" कहते हैं। अधोग पक्षाघात (कमर से नीचे का लक़वा) पेड़ू में उस स्थान पर जहाँ पर कि रक्त की शिरा और धमनियों का आवागमन होता है, गर्भ का भार पड़ने से हो जाता है। इसके सिवाय यह गर्भाशय में रोग होने के कारण भी हो जाया करता है। बाईं टाँग का अधूरा लक़वा तो कभी-कभी बालक के मस्तक के दबाव के कारण देखा जाता है। इसको अङ्गरेज़ी में "पाराप्लेजिया" कहते हैं।

कम्पन वायु

यह बहुत ही भयङ्कर तथा बुरा रोग है। कई स्त्रियाँ तो गर्भ के पूर्व से ही इससे पीड़ित रहती हैं। गर्भ-काल में रक्त-सञ्चार की निर्बलता से यह रोग उत्पन्न होता है। इसमें बलकारक तथा पीड़ा-निवारक औषधियाँ देनी चाहिए।

(१) पारे और गन्धक की कज्जली १ तोला, शुद्ध सङ्खिया ३ माशे, लोह-भस्म १ तोला, अभ्रक १ तोला, और शुद्ध कुचले का चूर्ण १ तोला, सबको पान के रस में घोट कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। इन गोलियों को सुबह-शाम गरम दूध या जल के साथ देना चाहिए।

(२) लायकोर आर्सिनिकेलिस ५ बूँद, पुटाश ब्रोमाइड १० ग्रेन, पानी १ औंस, सबको मिला कर एक मात्रा बनाए। ऐसी दो या तीन मात्राएँ भोजन के पश्चात् देवे।

मूत्राशय के विकार

मूत्राघात (मूत्र का बन्द होना)—गर्भावस्था में गर्भ के दबाव के कारण गर्भवतियों का गर्भाशय जब अपने स्थान से टल जाता है अर्थात् गर्भाशय सामने या पीछे की ओर झुक जाता है, तब प्रायः गर्भिणियों का मूत्र बन्द हो जाता है। यदि यह दशा अधिक दिनों तक रहे तो मूत्राशय में शोथ हो जाता है और उसकी "म्यूकस मेम्ब्रेन" (लुवाबी

झिल्ली) झड़ कर निकल जाती है। गर्भाशय पीछे की ओर झुका हो तो परीक्षा करने से पेड़ू पर एक गोल ग्रन्थि का आकार दिखाई देता है। ऐसी दशा में रबर की एक कोमल शलाका (सलाई) से मूत्र निकाल दे और स्त्री को "क्लोरो-फॉर्म" सुँघा कर बेहोश करके गर्भाशय को अपने स्थान पर बैठा दे। इसमें बहुत चतुर दाई की आवश्यकता होती है, सर्वसाधारण का इसमें हाथ डालना उचित नहीं।

मूत्रातिसार—यह रोग गर्भ के आरम्भिक महीनों में मूत्राशयग्रीवा की रगड़ से और अन्तिम मासों में गर्भाशय के दबाव के कारण पैदा होता है। इसके सिवाय यह रोग उस दशा में भी देखा गया है जबकि गर्भस्थ बालक अपने नियत स्थान से टेढ़ा या तिर्छा पड़ा होता है। पूर्वोक्त कारणों से मूत्राशय में मूत्र नहीं रुक सकता, अतः बार-बार मूत्र त्याग करने की इच्छा बनी रहती है या होती है।

पेट को हाथों से टटोलने पर ज्ञात होता है कि बालक अपने नियत स्थान पर नहीं है। ऐसी दशा में बालक को अपने स्थान में रख देना चाहिए। परन्तु यदि वह अपने स्थान से फिर भी हट जाय तो उसे पुनः अपने स्थान में रख कर पेट में एक पट्टी बाँध देनी चाहिए, जिससे वह अपने स्थान पर रुका रहे। यदि मूत्र में अम्लत्वगुण (Acidic properties) पाए जायँ तो जवाखार, सोडा आदि खारी औषधियाँ खिलानी चाहिए और यदि उसमें

कोई पीब, रुधिर या झिल्ली के छिछड़े आदि मिलें तो छूत-नाशक अर्क़ों द्वारा दोनों समय भग को साफ़ करके उसमें मर्फ़िया (अफ़ीम का सत) की वत्ती रखनी चाहिए और निम्नलिखित योग सेवन कराना चाहिए :—

टिङ्कचर वेलेडोना ५ बूँद, टिङ्कचर हायोसायमस १० बूँद, इनफ़्यूजन वक्कू १ औन्स, इन तीनों को मिला कर एक मात्रा बनावे। ऐसी ३-४ मात्रा दिन में पिलावे। इसके प्रयोग से मूत्रातिसारजन्य विकृतियाँ शान्त होती हैं।

श्वेत-प्रदर

यह रोग गर्भ के अन्तिम मासों में उत्पन्न होता है। यदि इसके लक्षण साधारण हों तो विशेष चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु कठिन लक्षणों में, जबकि भगोष्ठ छिल जाते हैं और उन पर छोटे-छोटे सफ़ेद धब्बे पड़ जाते हैं, तथा सम्पूर्ण भग में शोथ से जलन और पीड़ा होने लगती है, निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिए :—

(१) गर्भाशय का मुख छिला हुआ हो और उस पर घाव हो तो "नाइट्रेट ऑफ़ सिल्वर" का १-२० वा १-३० वाला अर्क़ फुरेरी से मुख पर लगा कर घाव को जला दे।

(२) कार्बोलिक एसिड १ ड्राम, ग्लेसिरीन १ औन्स, दोनों को मिला कर उसमें लगावे या १/२० वाला कार्बोलिक

अर्क़ लेकर उससे प्रतिदिन पिचकारी से भीतरी भग को धोया करे।

भगकण्डूपन

इसका वर्णन बहुत-कुछ पूर्वोक्त भगकण्डूपन में हो चुका है। यह रोग श्वेत-प्रदर के साथ होता है। विशेष-कर उस दशा में, जबकि योनि से दुर्गन्धित पीब निकलती है। कभी-कभी यह रक्त के विकार से भी उत्पन्न होता है, परन्तु उस समय श्वेत-प्रदर नहीं होता। कभी-कभी भग में दाने या गुदा में एक प्रकार के कीड़ों के पड़ जाने से और कभी-कभी भग के बालों में जूँ के पड़ जाने से भी यह हो जाता है।

इसमें पहले कारणों को दूर करना चाहिए और हलका गोलार्ड साहब का अर्क़ (यह इसी नाम से बाज़ार में मिलता है) लगावे अथवा निम्न-लिखित योग लगावे :—

लाइकोर मारफ़ाइनी हाइड्रोक्लोरेट १ औन्स, एसिड हाइड्रोसियानिक डायल्यूट १½ ड्राम, जल ६ औन्स, तीनों को मिला कर भग में लगावे या क्लोरोफ़ॉर्म १ भाग और बादाम-तैल ६ भाग मिला कर लगावे। अथवा बोरिक-एसिड और ग्लेसिरीन में रूई भिगो कर भीतरी भग में रक्खे। इससे भीतर की पीव बाहर निकलेगी और उस रूई में आकर सूख जायगी, जिससे बाहरी भग भी कण्डू से बच जायगा।

इन क्रियाओं से यदि लाभ न हो तो नाइट्रेट ऑफ़ सिल्वर की क़लम से खुजली के दानों को जला दे। या २० ग्रेन एक औन्स वाले वाई क्लोराइड ऑफ़ मरकरी सोल्यूशन से भग को शाम और सुबह धोया करे। क़ब्ज़ होने पर "फ्रूटसाल्ट" या "सलफर पाउडर" देवे। ब्रोमाइड पोटास को पानी में घोल कर पिलावे और स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का उचित रूप से पालन करे।

खेड़ी का रक्तस्राव

गर्भ के तीसरे मास में खेड़ी या फूल बन जाता है। यह गर्भ के साथ धीरे-धीरे बढ़ता रहता है और प्रसव-काल में बच्चे के निकल आने के बाद गर्भाशय से बाहर निकलता है। खेड़ी गर्भाशय के साथ तीन स्थानों—गर्भाशय की तली, गर्भाशय का शरीर और गर्भाशय की ग्रीवा में संयुक्त हो सकती है। इनमें से गर्भाशय की तली ही खेड़ी का प्रकृत और सबसे अधिक निर्भय स्थान है। प्रसव के पहले खेड़ी इस स्थान से पृथक् नहीं हो सकती। परन्तु यदि खेड़ी का संयोग गर्भाशय के शरीर के साथ हुआ हो तो प्रसव के पहले रक्तस्राव हो सकता है। इसी रक्तस्राव को खेड़ी या रक्तस्राव कहते हैं।

यह रोग प्रथम बार की गर्भवतियों को कम होता है। यह अधिकतर उन स्त्रियों को होता है, जो कई बार गर्भवती और प्रसूता हो चुकी हैं। गर्भ के तीसरे मास में खेड़ी बन

जाती है और लगभग उसी समय गर्भाशय के परिवर्तन, वृद्धि या शोथ के कारण इस रोग की भी उत्पत्ति होती है। परन्तु इसका निदान पाँचवें मास के पूर्व नहीं हो सकता। कारण यह है कि पाँचवें महीने के पहले इस रोग के सब लक्षण भली-भाँति प्रगट नहीं होते। यह सम्भव है कि खेड़ी के अनियमित स्थान पर जुड़े रहने के कारण आरम्भिक तीन मास में ही गर्भपात हो जाय और रोग का पता न चले।

एकाएक रक्तस्राव होना इसका प्रथम लक्षण है। बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के अकस्मात् रुधिर स्राव होने से इस रोग का होना सिद्ध होता है। कभी-कभी रक्त थोड़ा सा निकल कर स्वतः बन्द हो जाता है। इसके बाद थोड़ी सी भी असावधानी करने से यह कुछ दिनों में पुनः अधिक विकट रूप धारण करके प्रकट होता है और तब रक्त पहले की अपेक्षा बहुत अधिक परिमाण में बहने लगता है। यह स्राव गर्भ के प्रथम पाँच या छः महीनों में शायद ही कभी होता है। यह अधिकतर प्रसव-काल के आस-पास और प्रसव के समय अवश्य होता है। ऋतुतिथियों में स्राव का परिमाण अधिक होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि ऋतुतिथि ही स्राव का जन्म-दिवस है। इस समय गर्भाशय में अधिक रक्त भी आता है। यदि यह रोग प्रथम गर्भ के अन्तिम मासों में होता है तो अधिकतर स्त्रियाँ बेहद

रक्तस्राव के कारण मर जाती हैं। प्रथम स्राव के वाद से ही निरन्तर सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि दुबारा रक्त ऐसे समय पर गिरता है जब कुछ करते-धरते नहीं बनता। इसकी प्रवृत्ति होने के पूर्व ऐसे कोई चिन्ह नहीं मिलते, जिनसे पता चले कि अमुक समय में रक्तस्राव होगा, अतः स्राव आरम्भ होते ही चिकित्सक को बुला कर चिकित्सा आरम्भ करानी चाहिए। दो-एक बार रक्त निकलने के बाद गर्भ, चाहे वह अधिक दिनों का हो या कम दिनों का, पात हो जाता है और गर्भाशय से रक्त की धारा वह निकलती है। दाइयों तथा चिकित्सकों को यह भ्रम होता है कि प्रसव-पीड़ा के कारण नाड़ियों से रक्त निकल रहा है। परन्तु उनका यह भ्रम शीघ्र ही दूर हो जाता है। प्रत्येक बार खेड़ी के टुकड़े टूट-टूट कर बाहर निकलते हैं और रक्त-नाड़ियाँ फट-फट कर ख़ून उगलने लगती हैं। यह रक्त विश्राम के समय गर्भाशय में सञ्चित होता रहता है और गर्भाशय के सिकुड़ते ही बाहर निकलने लगता है।

समय के पहले प्रसव होने और रोगिणी के दुर्बल होने पर प्रसव-पीड़ा कम होती है तथा जरायु का मुख ढीला होने के बदले अधिक कठोर होता है।

गर्भ की पूर्णता के समय, विशेषतः अन्तिम दो महीनों में बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के अकस्मात् रक्त का वहना, रक्तस्राव के समय प्रसव-पीड़ा का अभाव या कमी और

दुबारे-तिबारे रक्त का बहना आदि इस रोग के अचूक लक्षण हैं। भग की परीक्षा कराकर रहा-सहा भ्रम भी दूर किया जा सकता है।

स्त्री की अवस्था तब तक सुरक्षित नहीं समझनी चाहिए जब तक बालक उत्पन्न होकर रक्तस्राव बन्द न हो जाय। इसमें शीघ्र ही किसी वैद्य को बुलाना चाहिए और वैद्य के आने तक स्राव को रोकने के लिए स्त्री को सुलाकर अहि-फ़ेनसत (मारफ़ाइन) का व्यवहार करना चाहिए। बालक के जीवन की आशा न हो तो भग में बरफ़ रखकर शीत-क्रिया द्वारा रक्त को रोक सकते हैं। शेष चिकित्सा वैद्य के ऊपर छोड़नी चाहिए। वैद्य का कर्तव्य है कि बालक की उत्पत्ति के पहले रक्त को न रोके। गर्भपात कराने के बाद रक्तस्राव बन्द करना चाहिए।

आकस्मिक रक्तस्राव

गर्भावस्था या प्रसव के समय यदि खेड़ी अपने स्थान के ऊपरी या मध्य भागों से पृथक् हो जाय तो यह स्राव होता है। इसका समय निश्चित नहीं होने के कारण इसे आकस्मिक रक्तस्राव कहते हैं। इसके गुप्त और प्रकट दो भेद हैं। प्रकट या साधारण रक्तस्राव में रक्त के लोथड़े गर्भाशय से बाहर निकलते हैं। गुप्त रक्तस्राव में रक्त बाहर नहीं निकलता है, किन्तु गर्भाशय में ही सञ्चित होता रहता है।

इसलिए यह रोग पहले की अपेक्षा अधिक भयङ्कर है। इसके कारण भी गुप्त और प्रकट भेद से दो प्रकार के होते हैं।

पेट में लाठी, पत्थर या घूँसे के लगने, गिरने या झटका लगने, ज़ोर की वमन, कूँथन या खाँसी होने, अधिक भार उठाने, शरीर पर ज़्यादा जोर पड़ने, गर्भ के अन्तिम मासों में खेड़ी के पृथक् होने या मन में किसी प्रकार की उत्तेजना होने आदि के कारण गर्भाशय की ओर रक्त अधिक मात्रा में जाता है। यह गर्भाशय तथा खेड़ी के बीच में सञ्चित होता है। धीरे-धीरे गर्भाशय का कार्य अधिक बढ़ जाने पर खेड़ी उससे अलग हो जाती है। गर्भ के विशेष हिलने-डुलने से भी गर्भाशय ज़ोर से सिकुड़ता है, जिससे खेड़ी अलग हो जाती है और रक्त बहने लगता है।

अधिक बार प्रसव, मानसिक निर्बलता, स्वास्थ्य की विकृति, यकृत् रोग, रक्ताल्पता, विषम ज्वर, सन्निपात ज्वर अथवा खेड़ी के रोग इसके गुप्त कारण कहे जाते हैं।

यदि रोग प्रकट करणों से उत्पन्न होता है, तो लक्षण साधारण होते हैं। शरीर में रक्ताल्पता होती है। गर्भाशय में कोई खिंचावट नहीं मालूम होती। पीड़ा और मूर्च्छा साधारण होते हैं। रोग के गुप्त कारणों से उत्पन्न होने पर गर्भाशय और खेड़ी के बीच रक्त सञ्चित होता है। इससे गर्भाशय फूल कर तन जाता है और उसमें पीड़ा होने लगती है। गर्भाशय के पेंदे में पीड़ा अधिक होती है और

रोगिणी को ऐसा मालूम होता है मानों भीतर कोई थैली फट गई है और उसमें से कुछ बह रहा है। यह अवस्था भयानक है।

इसमें रुधिर की कमी के सब लक्षण पाए जाते हैं। शरीर शीतल होता है, पसीना ठण्ढा आता है, रङ्ग फीका पड़ जाता है, बैचेनी अधिक होती है, सन्निपात के लक्षण प्रकट होते हैं, जल्दी-जल्दी जँभाई लेने की इच्छा होती है और नाड़ी निर्बल, तीक्ष्ण तथा गम्भीर हो जाती है। गर्भाशय का पेंदा अधिक फूल जाता है। गर्भाशय का स्वरूप विकृत हो जाता है तथा गर्भाशय उभर कर पेड़ू के ऊपर तक आ जाता है। यह छूने से गँधे हुए आटे के समान मालूम होता है और गर्भ का पता नहीं चलता। प्रसव-पीड़ा बन्द हो जाती है, गर्भाशय सिकुड़ता नहीं। यदि प्रसव-पीड़ा होती भी है तो अनियमित और निर्बल, तथा उसका गर्भाशय के मुख पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। ये सब लक्षण भयङ्कर अवस्था के हैं।

इसकी चिकित्सा में सर्वसाधारण को हाथ नहीं डालना चाहिए। किसी शिक्षित दाई या सुयोग्य चिकित्सक के द्वारा गर्भ गिरवा कर रक्तस्राव को बन्द करना ही इसकी एकमात्र चिकित्सा है।

मूढ़गर्भ

आजकल बहुतों की धारणा है कि हमारे प्राचीन

ऋषियों को शस्त्रचिकित्सा का ज्ञान नहीं था, परन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। सुश्रुत के सूत्रस्थान का अध्ययन और निदिध्यासन करने से यह भली-भाँति विदित होजाता है कि भारतीय चिकित्सा के प्राचीन आचार्यों का शल्य-ज्ञान जितना ही गम्भीर था, उनकी शस्त्र-क्रिया उतनी ही सरल। उन्होंने गर्भ-सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यक विषयों का जो गहरा अध्ययन किया था और प्रसव की कठिनाइयों तथा उन्हें दूर करने के उपायों का जो विश्लेषणपूर्ण विवरण दिया है, उसे देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे शारीरिक यन्त्रों के ज्ञान और शस्त्र, चिकित्सा में अपने समय में तो अद्वितीय थे ही, शायद अर्वाचीन-चिकित्सा-विशारदगण भी अभी तक उनकी बराबरी को पहुँचने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

अभी तक मूढ़गर्भ की कोई सर्वसम्मत परिभाषा प्रस्तुत नहीं हो सकी है। कोई बताते हैं गर्भनाश के कारण प्रसव-क्रिया में बाधा पड़ना ही मूढ़गर्भ का एकमात्र लक्षण है तो दूसरे लोग उसमें जीवित गर्भ की विकृतियों—प्रसव के समय उलटा निकलना आदि—को भी समाविष्ट करते हैं। उनके मतानुसार प्रसव-क्रिया में अस्वाभाविकता का आना ही मूढ़गर्भ कहलाता है। अस्तु, हम दोनों मतों का समन्वय करते हुए यह परिभाषा उपस्थित कर सकते हैं कि जिस जीवित या मृत गर्भ में प्रसव

के समय शस्त्र-प्रयोग की आवश्यकता पड़े, उसे मूढ़गर्भ कहते हैं।

इसके चार प्रधान विभाग किए जा सकते हैं—(१) कील (२) प्रतिखुर (३) बीजक और (४) परिघ। कीलगर्भ में बच्चे का सिर और पैर ऊपर रहते हैं तथा शरीर का मध्यभाग नीचे की ओर लटक कर योनि-मुख को बन्द कर देता है। इससे गर्भ का आकार प्रसव के समय कील के सदृश बन जाता है। प्रतिखुर गर्भ में एक हाथ, एक पैर और मस्तक बाहर निकलता है तथा शरीर भीतर रुक जाता है। बीजक मूढ़गर्भ में एक हाथ और शिर निकलता है तथा परिघ नामक मूढ़गर्भ में बच्चा गोलाकार होकर योनि-मुख में अटक जाता है। गर्भावस्था में अधिक मैथुन करने, अधिक पैदल चलने, टूटी-फूटी बिगड़ी हुई सवारियों में चढ़ने, अकस्मात् गिरने या चोट के लगने, विषम स्थानों (नीचे-ऊँचे) में उठने-बैठने या सोने, विशेष उपवास, मलमूत्र के वेगों को रोकने, लघु, रुक्ष, तिक्त और कटु भोजन के करने, अधिक शाक व खारी पदार्थों के सेवन, अधिक वमन, विरेचन के लेने, हिंडोलों में झूलने या गर्भपातकारक औषधियों के सेवन से प्रायः गर्भ नष्ट होकर मूढ़गर्भ के रूप में परिणत हो जाता है।

इस रोग के हो जाने पर गर्भ का स्पन्दन (फड़कना) बन्द हो जाता है, गर्भ के अन्यान्य लक्षणों का विकाश नहीं

होता, गर्भिणी का शरीर पाण्डु या श्याम रङ्ग का बन जाता है। प्रसव-वेदना के पश्चात् शूल की अधिकता होती है तथा गर्भिणी के शरीर में शीतलता होती है और श्वास में दुर्गन्ध आने लगती है। इस रोग के प्रतिकारार्थ आयुर्वेद ने उत्कर्षण, आकर्षण स्थानापवर्तन (स्थान में लौटा कर सीधा करना), उत्कर्त्तन, छेदन, भेदन, पीड़न, दारण, ऋजूकरण, (सीधा करना), इन नौ क्रियाओं का विधान किया है। छेदन-भेदन और दारण में गर्भ का अङ्ग-प्रत्यङ्ग काट कर बाहर निकालते हैं। अवशिष्ट छः क्रियाओं में कर-कौशल से काम निकल जाता है। गर्भ के मृत होने का पता लगते ही उसे निकालने की चेष्टा करनी चाहिए। मृत-गर्भ अधिक दिनों तक गर्भाशय में रहने से स्त्री की मृत्यु हो सकती है। एकाएक शस्त्र-प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं। पहले औषधियों और कर-कौशल के द्वारा गर्भ को गिराने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि इस प्रकार सफलता प्राप्त न हो, तो अन्त में शस्त्र-प्रयोग की शरण लेना उचित है। गर्भ में मृत बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को काटने के लिए सुश्रुत ने मण्डलाग्र, वृद्धि-पत्र, अङ्गुलि आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों का वर्णन किया है। परन्तु इनमें भी सुश्रुत ने मण्डलाग्र शस्त्र का प्रयोग सबसे अच्छा माना है, क्योंकि वृद्धिपत्र आदि तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रयोग करने से माता की जननेन्द्रियों में हानिकारक आघात पहुँचने की विशेष आशङ्का रहती है।

पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान में मूढ़गर्भ वा सङ्कटापन्न प्रसव की चिकित्सा के सम्बन्ध में प्रायः ऐसा ही विधान देखा जाता है। उसमें भी मूढ़गर्भ-नाशक शस्त्रोपचार चार प्रकार का लिखा है—क्रेनियाटमी (Craniatomy), किफ़ालोट्रिप्सी (Cephalotripsy), दिकाप्टेशन और एमिसायरेयन (सिज़ेरियनसेकशन)। क्रेनियाटमी प्रक्रिया द्वारा गर्भ का मस्तक चीर कर उसका मस्तिष्क बाहर निकाल लिया जाता है। मस्तिष्क (भेजा) निकल जाने से शिर की चौड़ाई कम हो जाती है। उसके पश्चात् क्रोचेट या हुक् प्रभृति यन्त्रों द्वारा गर्भ को बाहर निकाला जा सकता है। मूढ़गर्भ-नाशक शस्त्रोपचार में साधारण रूप से पाँच यन्त्रों का व्यवहार होता है—पारफ़ोरेटर (छेदक शस्त्र), क्रोचेट (लेखन शस्त्र), वर्टिब्रियलहुक (खेंचने वाला शस्त्र), क्रेनियटमी फ़र्सेप्स (गर्भ-शिर-विदारक शङ्कु शस्त्र), सिफ़ियालोट्राइब (शिर फोड़ने का शस्त्र)।

पारफ़ोरेटर—इस यन्त्र के अग्रभाग में दोनों ओर बहुत तीक्ष्ण धार होती है। इसके द्वारा बालक का शिर का विदीर्ण किया जाता है। इसीको क्रेनियटमी सीज़र्स भी कहते हैं। इस यन्त्र के दोनों तरफ़ तीक्ष्ण धार होने के कारण इसके द्वारा बालक का शिर कट कर दो भागों में बँट जाता है।

क्रोचेट—यह देखने में वंशी (जिससे शिकारी मछली

का शिकार करते हैं) के सदृश होता है। इसका अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण और दृढ़ होता है, जो एक मज़बूत डण्डे में लगा रहता है। इसे हुक की तरह चुभाकर इसके द्वारा सिर का बाहरी अथवा भीतरी कोई भी भाग खींच कर निकाला जा सकता है। परन्तु इस यन्त्र का व्यवहार बहुत कम देखा जाता है। वर्टिब्रियलहुक का आकार तथा व्यवहार भी प्रायः क्रोचेट के सदृश ही होता है।

क्रेनियटमी फ़र्सेप्स—इसमें क़ची की तरह दो चौड़े तथा चपटे फल होते हैं। इन फलों के भीतर की तरफ़ तिरछे दाँत बने हुए होते हैं। इन्हीं दाँतों से गर्भ-मस्तक दोनों तरफ़ से अच्छी तरह दृढ़ता से पकड़ा जा सकता है। इस प्रकार के फ़र्सेप्स द्वारा गर्भमस्तक का विदारण, चूर्ण करना और गर्भ-शरीर का बहिष्करण आदि अनेक प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं।

सिफ़ियालोट्राइब—यह भी दो फलों वाला यन्त्र है। इसके द्वारा मस्तक को चूर्ण कर सहज में बाहर निकाला जा सकता है। इस यन्त्र द्वारा जो शस्त्रोपचार सिद्ध होता है, उसको सिपियालोट्रेप्सी कहते हैं।

क्रेनियटमी क्रिया किन-किन हालतों में करनी चाहिए, इस विषय में अनेक मतभेद हैं। इस वास्ते भिन्न-भिन्न मतों का समन्वय साधन करने पर साधारणतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ वस्ति का व्यास (चौड़ाई) ३ इञ्च

से लेकर १½ इञ्च से कुछ अधिक हो वहाँ क्रेनियटमी क्रिया अत्यन्त आवश्यक है। यदि वस्ति का व्यास ठीक १½ इञ्च हो तो सिज़ेरियन सेक्शन (पेट फाड़ कर बच्चा निकालने की क्रिया) करना चाहिए, क्योंकि ऐसी दशा में जबकि वस्ति का व्यास स्वाभाविक रूप से बहुत ही कम (१½ इञ्च) हो तो विना वस्ति के चीरे हुए बालक का निकालना अत्यन्त कठिन होता है।

विकृत वस्ति

मूढ़गर्भ के कारणों के सिवाय कभी-कभी स्त्रियों के वस्ति-देश के दोष से भी मूढ़गर्भ की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। स्त्रियों के अनेक प्रकार की विकृत वस्तियाँ होती हैं, उनमें से कतिपय का वर्णन नीचे किया जाता है :—

सङ्कुचित वस्ति—बहुधा छोटी क़द की स्त्रियों के वस्ति सङ्कुचित देखी जाती है, परन्तु कुछ स्त्रियों का आकार छोटा होते हुए भी उनकी वस्ति तथा अन्यान्य जननेन्द्रियों में विस्तार की कमी नहीं होती। इस प्रकार वस्ति के स्वभावतः सङ्कुचित होने से प्रसव-काल में सन्तान के सहज ही बाहर निकलने में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

विस्तृत-वस्ति—इस प्रकार की वस्ति का आकार साधारण वस्ति की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है। अतः नियत समय के पहले प्रसव होने की सम्भावना रहती है।

शैशव-वस्ति—बहुत सी स्त्रियों की छोटी अवस्था में ही वस्ति के अस्थि-समुदाय में कठिनता आ जाती है। किन्तु कुछ की अवस्था अधिक होने पर भी वस्ति-गह्वर पूर्णतया विस्तृत नहीं होता, इसे शैशव-वस्ति कहते हैं। इस प्रकार की वस्ति होने से प्रसव-काल में अनेक विघ्न हो सकते हैं।

पौरुष-वस्ति वा मियाँ कुलिन—इसमें तटस्थ भाग का विस्तार साधारण होता है, किन्तु इसका गह्वर गम्भीर और सङ्कीर्ण तथा गर्भ जिस मार्ग से बाहर निकलता है उस मार्ग का व्यास भी बहुत छोटा होता है, जिससे प्रसव-काल में बहुत कठिनाई पड़ती है।

रिकेट (सूखा रोग) ग्रस्त-वस्ति—रिकेट रोग से ग्रसित होने पर भी वस्ति में एक प्रकार की विकृति आ जाती है, जिससे वस्ति-तट का सम्मुख-पश्चात् व्यास छोटा पड़ जाता है। सेक्रम (कमर और चूतड़ों के बीच की हड्डी) के नुकीले भाग के बढ़ने और पिउबिस (पेड़ू के गढ़े के सामने वाला भाग) के पीछे की तरफ़ हट जाने से वस्ति-तट का आकार अङ्गरेज़ी आठ के अङ्क के समान हो जाता है। इस प्रकार की वस्ति होने पर बच्चा उसमें अवश्य रुक जाता है।

अष्टियो मेलेक्किया (Osteo Malakea) वस्ति—जब वस्ति के अस्थि में लवणांश कम पड़ जाता है, तो अस्थि अत्यन्त कोमल और भङ्गुर (टूटने वाली) हो जाती है, इसी

का नाम अष्टियो मेलेक्रिया वस्ति है। इस रोग के होने पर वस्ति विकृत हो जाती है।

स्यण्डिलो लिन्थिसिस्—रिकेट (Ricket) प्रभृति पीड़ाओं के कारण पाँचवीं कशेरुका अस्थि अपने स्थान से हट कर सामने के भाग में आकर टेढ़ी पड़ जाती है, इससे वस्ति-तट का पश्चात् व्यास छोटा पड़ जाता है। इससे भी प्रसव के समय अत्यन्त कष्ट होता है।

रवार्टैर वस्ति—इस प्रकार की वस्ति में दोनों तरफ़ के इस्कियम (Ischium) के भीतर की तरफ़ गर्भ बहिर्निर्गमन मार्ग का अनुप्रस्थ व्यास छोटा पड़ जाता है। इस वस्ति-विकृति के कारण प्रसव में भयानक वाधा उत्पन्न होती है।

इसके सिवाय वस्ति-प्राचीर में ट्यूमर वा अर्वुद होने अथवा टेढ़ी पड़ कर सिकुड़ जाने से भी वस्ति विकृत हो जाती है।

चिकित्सा करने में वहुत शीघ्रता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वहुत सी साधारण पीड़ाएँ प्रकृति के ऊपर निर्भर कर देने से स्वतः शान्त हो जाती हैं। इसी तरह यहाँ पर भी वस्ति के सामान्य रूप में विकृत होने पर एकमात्र स्वाभाविक उद्यम से ही प्रसव सम्पन्न हो सकता है। किन्तु यदि वस्ति में अत्यन्त अधिक विकृति हो तो कृत्रिम उपायों द्वारा प्रसव-साधन करने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी

दशा में अवस्थानुसार फ़र्सेप्स (शङ्कुयन्त्र) प्रयोग, भार्पन, अकाल प्रसव साधनं, अथवा सिज़ेरियन सेक्शन, इन चार उपायों में से किसी एक का अवलम्बन करना चाहिए। आगे इस बात का वर्णन किया जायगा कि विकृत-वस्ति की कैसी दशा में किस उपाय का अवलम्बन करना आवश्यक है। पाश्चात्य चिकित्सा के सुप्रसिद्ध प्रसव-चिकित्सक डॉक्टर लिशम्यान इसके सम्बन्ध में निम्न-लिखित नियमों को उपयोगी बताते हैं:—

(१) कञ्जुगेट ऐक्सिस (Conjugate Axis) का व्यास ४ इञ्च से लेकर ३$\frac{१}{४}$ इञ्च तक होने पर फ़र्सेप्स का प्रयोग करना चाहिए।

(२) कञ्जुगेट ऐक्सिस का व्यास ३$\frac{१}{४}$ इञ्च से २$\frac{३}{४}$ इञ्च तक होने पर विवर्तन का प्रयोग करना चाहिए।

(३) कञ्जुगेट ऐक्सिस का व्यास ३ इञ्च से १$\frac{१}{२}$ इञ्च तक होने पर क्रेनियटमी क्रिया करनी चाहिए।

(४) कञ्जुगेट ऐक्सिस का व्यास १$\frac{१}{२}$ इञ्च या इससे भी कम होने पर सिज़ेरियन सेक्शन क्रिया करनी चाहिए।

फ़र्सेप्स प्रयोग—इस बात को पहले बताया जा चुका है कि रिकेट प्रभृति अनेक प्रकार के रोगों से वस्ति के विकृत होने पर फ़र्सेप्स का प्रयोग करना आवश्यक है। इसके सिवाय प्रसव-काल में गर्भाशय के कमज़ोर हो जाने अथवा

खेड़ी के बाहर निकल आने पर भी फ़र्सेप्स का प्रयोग किया जाता है। फ़र्सेप्स का प्रयोग करने के पूर्व यह देखना चाहिए कि वस्ति का सन्मुख तथा पीछे का व्यास कम से कम ३$\frac{1}{8}$ इञ्च है या नहीं। व्यास का उपरोक्त प्रमाण होने पर यन्त्र का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु वस्ति का व्यास इससे कम हो तो विवर्तन आदि क्रियाएँ करनी चाहिए।

फ़र्सेप्स (शङ्कु-यन्त्र) के प्रयोग करने के पहले कई विषयों में दृष्टि रखने की आवश्यकता है। कैथेटर (शलाका) और एनिमा के द्वारा गर्भिणी का मूत्राशय तथा मलाशय शुद्ध कर लेना चाहिए। शङ्कुयन्त्र प्रयोग करने के पहले रोगिणी को सदा क्लोरोफ़ॉर्म के द्वारा मूर्च्छित कर देना चाहिए। परन्तु इस विषय में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि गर्भ का मस्तक वस्ति के ऊपर हो तो क्लोरोफ़ॉर्म का प्रयोग करना आवश्यक है और यदि वह नीचे आया हुआ हो तो क्लोरोफ़ॉर्म के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

यदि शङ्कुयन्त्र प्रयोग करना हो तो प्रसूति को बाएँ करवट सुलाना अच्छा है और उस समय अपने दोनों घुटनों को पेट के ऊपर लगा कर किसी तख़्तपोश या अन्य किसी ऊँची और कठिन शय्या के दाहिने किनारे पर सुलाना चाहिए। यदि प्रसव में सङ्कट मालूम पड़े तो गर्भिणी को सीधा सुलाना चाहिए।

यदि शङ्कु-यन्त्र को योनि में प्रवेश कराना हो तो पहले उसके दोनों फलकों को गरम जल में उबाल कर उन पर कार्बोलिक तेल अथवा कार्बोलिक वैसलीन लगा देनी चाहिए। इस यन्त्र के दो फल होते हैं, उनमें से एक को ऊर्ध्व और दूसरे को निम्न फलक कहते हैं। यदि शङ्कु-यन्त्र बड़ा हो तो उसका निम्न फलक पहले और ऊर्ध्व फलक पीछे प्रवेश कराना चाहिए।

छोटे शङ्कु-यन्त्र में टेढ़ापन नहीं होता है, इस वास्ते उसका कोई फलक पहले प्रवेश किया जा सकता है। किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि इसका प्रयोग वेदना के शान्ति या विराम-काल में ही धीरे-धीरे किया जाय और यदि प्रयोग के समय प्रसव-मार्ग के किसी स्थान में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो तो उसी समय फलक बाहर निकाल देना चाहिए। इसके बाद सुविधा के अनुसार फिर प्रवेश कराना चाहिए। दोनों फलकों के प्रवेश हो जाने पर बाहर उनकी सन्धि को अच्छी तरह जोड़ कर बन्धन को कस देना चाहिए। बन्धन के नियमित रूप में कस जाने पर आकर्षण वा सञ्चालन आदि कार्य करने चाहिए।

शङ्कु-यन्त्र का आकर्षण ही एकमात्र प्रधान कार्य है। इससे प्रसूति के वेदना-समय में ही गर्भ के मस्तक को धीरे-धीरे अपत्य मार्ग की अक्ष-रेखा (मध्य रेखा) में खींचा जाता है। इस वास्ते जब तक बच्चे का मस्तक वस्ति-तट

के ऊर्ध्व भाग में रहता है, तब तक नीचे और पीछे की तरफ़ उसका आकर्षण करना चाहिए। जब धीरे-धीरे गर्भ नीचे की तरफ़ आ जाय तो उसे पीछे से सामने की तरफ़ खींचना चाहिए। अन्त में मस्तक निर्गमन द्वार के निकट पहुँचने पर जब यन्त्र द्वारा खींचने से भग और गुदा के बीच में नीचे की ओर आ जाय और वेदना अधिक तथा नियमित रूप में हो तो और आकर्षण नहीं करना चाहिए। इसके बाद प्रकृति के ऊपर निर्भर कर देने से प्रसव अपने आप ही सम्पन्न हो जाता है।

यद्यपि आयुर्वेद में प्रसव-कार्य के निमित्त अनेक शस्त्रों का प्रयोग लिखा है, परन्तु वर्तमान काल में उनका ठीक उपयोग और प्रचार न होने से परमुखापेक्षी बनना पड़ रहा है। विलायत में प्रसव की सुविधा के निमित्त नाना प्रकार के शङ्कु-यन्त्रों का निर्माण हो चुका है। उनमें से डेनम्यान, जिगलार और सिमसन नामक तीन प्रसिद्ध प्रसव-चिकित्सकों के फ़र्सेप्स यन्त्र अत्यन्त उपयोगी और विख्यात हैं। इनमें भी जिगलार का अधिक और सिमसन का बहुत ही अधिक व्यवहार होता है। फ़र्सेप्स यन्त्र के आविष्कार के पूर्व वेकटिस आदि यन्त्रों का व्यवहार होता था, परन्तु इस समय उनका कहीं भी प्रयोग नहीं होता।

अस्वाभाविक गर्भ

एक से अधिक, विकृत अथवा गर्भाशय को छोड़ कर

अन्तर्जननेन्द्रिय के दूसरे स्थानों में गर्भोत्पत्ति होने को अस्वाभाविक गर्भ कहा जाता है।

एकाधिक गर्भोत्पत्ति—इस विषय में आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि माता के ऋतुनियमों के ठीक-ठीक न पालन करने से अन्तर्जननेन्द्रिय तथा गर्भाशयस्थ वायु विकृत हो जाता है, जिससे गर्भाशय-गत रज-वीर्य के अनेक विभाग हो जाते हैं और जिससे यमज (जोड़ा) सन्तान उत्पन्न होती है। इसी वास्ते दो, तीन, चार और कहीं-कहीं पाँच बालकों तक की उत्पत्ति एक साथ होती हुई देखी गई है। परन्तु इस प्रकार की घटनाएँ बहुत कम घटित होती हैं। हिसाब से ६० गर्भों में एक में यमज सन्तान होती है। १००० गर्भों में से एक की तीन सन्तान उत्पन्न होती देखी गई है, चार या पाँच सन्तानों का एक साथ उत्पन्न होना ३ सन्तानों की अपेक्षा भी कम देखा गया है।

गर्भाशय भिन्न गर्भोत्पत्ति—इस रोग में गर्भोत्पादक डिम्ब, गर्भाशय के भिन्न अन्तर्जननेन्द्रिय के अन्य स्थानों में स्थित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। किन्तु इस प्रकार का गर्भाधान बहुत ही कम होता है। सभ्य संसार में आज तक जितने भी अस्वाभाविक गर्भ देखे गए हैं, उनके तीन विभाग किए जा सकते हैं—ट्यूबल (Tubal), एबडोमिनल (Abdominal), ओवेरियन (Ovarion)।

इन तीन प्रकार के अस्वाभाविक गर्भों में गार्भिणी के

शरीर में गर्भ-सूचक प्रायः सभी लक्षण प्रकट होते हुए देखे गए हैं। किन्तु इन गर्भों का निर्णय तथा चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार के गर्भ में गर्भिणी तथा गर्भस्थ बालक की अवस्था अत्यन्त सङ्कटापन्न होती है। इस वास्ते ऐसे अस्वाभाविक गर्भ का शीघ्र निर्णय करके प्राणनाश कर बाहर निकाल देना चाहिए। किन्तु ऐसी अवस्था में शस्त्रोपचार करना भी अत्यन्त कठिन है। किसी अनुभवी प्रसव-चिकित्सक के सिवाय और किसी का इस कठिन कर्म में हाथ डालना या शस्त्र आदि का प्रयोग करना योग्य नहीं है, क्योंकि गर्भ का यथार्थ निर्णय न करके प्राणनाश या शस्त्रोपचार करने से व्यर्थ में भ्रूण-हत्या का पाप लगता है।

सिज़ेरियन सेक्शन—यदि पूर्वोक्त उपायों द्वारा प्रसव-साधन असम्भव हो गया हो तो सिज़ेरियन सेक्शन करना (पेट चीर कर बच्चा निकालना) आवश्यक है। एक समय था जब कि यह क्रिया बहुत ही आपत्तिजनक समझी जाती थी, किन्तु आजकल पाश्चात्य शल्य-चिकित्सा ने ऐसी उन्नति की है कि उससे यह कार्य अनायास साध्य तथा भयरहित हो गया है। इसमें गर्भिणी का पेट चीर कर उस मार्ग से ही बच्चा बाहर निकाला जाता है और भ्रूण भी सजीव निकल आता है। परन्तु इससे माता के जीवन के कभी न कभी ख़तरे में पड़ जाने का डर अवश्य रहता

है, क्योंकि इसमें स्त्री का पेट चीर कर बाद को टाँके दिए जाते हैं, जिससे वह स्थान कमज़ोर हो जाता है। इसके बाद दूसरी या तीसरी बार गर्भ रहने से अवश्य ही गर्भिणी के प्राणनाश हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि कृत्रिम उपाय से बच्चा निकालने से प्राकृतिक नियमानुसार गर्भाशय-मुख और योनि आदि जननेन्द्रियाँ अपना कार्य छोड़ देती हैं, इससे प्रसव-काल में स्त्री को बहुत सङ्कट भोगना पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सा के इस विषय में शस्त्रोपचार आदि की निपुणता और प्रसिद्धि को पढ़ कर पाठक यह न समझें कि आयुर्वेद में इन बातों का वर्णन नहीं आया है। नहीं, आयुर्वेद में इन बातों का पूर्णरूप से वर्णन है, किन्तु वैद्य-संसार की उपेक्षा के कारण यह सब बातें लुप्त सी जान पड़ती हैं। सुश्रुत आदि शास्त्रकारों का कथन है कि मूढ़गर्भ की जीवितावस्था में धात्री को चाहिए कि वह अपने हाथों में घी लगा कर योनि में प्रवेश कर सन्तान को बाहर निकाल दे। यदि गर्भ नष्ट हो गया हो तो शस्त्र तथा शास्त्र में पण्डिता, भय-रहित तथा अनुभव वाली धाय को चाहिए कि वह योनि के भीतर शस्त्र को प्रवेश कर गर्भ को बाहर निकाल दे। जीवित दशा में गर्भ को विदीर्ण करके बाहर निकालना बहुत अनुचित है। शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है कि गर्भ के जिन अङ्गों के योनि से जुड़े रहने के कारण गर्भ

न निकल रहा हो उनका छेदन करके शङ्कु अथवा युग्म-शङ्कु-यन्त्र के द्वारा गर्भ को बाहर निकालना चाहिए। अन्त में यह भी लिखा है कि यदि आसन्न-प्रसवा गर्भिणी गर्भ के वस्ति-स्थान में आकर रुक जाने से मर गई हो और यदि उसकी कुक्षि (पेट) गर्भ के जीवित होने के कारण स्पन्दन (फड़कन) करती हो तो उसी समय उसके पेट को चीर कर बच्चे को निकाल लेना चाहिए।

रक्तगुल्म

बहुत से लोग अर्वुद, मिथ्यागर्भ और रक्तगुल्म को एक ही समझते हैं। पर वास्तव में ये रोग एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। जब कोई पञ्चभौतिक समूह शरीर में परिपक न होने के कारण रस, रक्त, मांस आदि के रूप में परिवर्त्तित नहीं होता, तब वही जन्म के पश्चात् अर्वुद बन जाता है। इन अर्वुदों में सूत्र (रेशे), वाल, मांस, चर्वी, यहाँ तक कि अस्थियाँ भी पाई जाती हैं। परन्तु रक्तगुल्म में ये पदार्थ नहीं मिलते। इन दोनों रोगों के लक्षणों में भी बहुत भेद है।

रक्तगुल्म और मिथ्यागर्भ में यह भेद होता है कि चञ्चल प्रकृति वाली ऋतुमती स्त्री जब अत्यन्त कामातुर होकर स्वप्न में मैथुन करती है तो वायु कुपित होकर केवल उसी के शुद्ध आर्तव को गर्भाशय में ले जाता है और मिथ्या-

गर्भ की सृष्टि करता है। रक्तगुल्म में कुपित वायु के द्वारा अशुद्ध आर्तव गर्भाशय में सञ्चित किया जाता है। मिथ्या-गर्भ क्रमशः बढ़ता हुआ नौ-दस महीने में पैतृक अंशों—अस्थि, बाल, स्नायु, शिरा, नाखून, शुक्र आदि—से रहित एक मांस-पिण्ड के रूप में गर्भाशय से बाहर निकलता है। रक्तगुल्म यदि चीर-फाड़ कर बाहर न किया जाय तो स्वतः कभी गर्भ के समान पैदा नहीं होता, वरन् बरसों पेट में रह कर बढ़ता जाता है और कालान्तर में रोगिणी को मार डालता है। इसका आकार भी बालक के समान नहीं होता। यह एक मांस का लोथड़ा है, जो गर्भाशय की दीवारों से चिपका रहता है, इस कारण इसका जन्म या पात नहीं होता।

वात, मूत्र, पुरीष के वेगों को रोकने, ऋतुकाल तथा गर्भपात या स्राव के समय वातकारक, रुक्ष और शीत भोजन के करने, मैथुन, व्यायाम, रात्रि-जागरण, वमन, विरेचन, कोष्ठबद्धता आदि के आधिक्य तथा अन्य मिथ्या आहार-विहारों से वायु कुपित होकर आर्तववाही स्रोतों के मुखों तथा योनि-मुख को बन्द कर देता है। इससे प्रति मास गर्भाशय में आया हुआ रक्त उसके भीतर ही जमा होने लगता है। यह रक्त दिनोंदिन अधिक होकर पेट को बढ़ा देता है और उसमें गर्भ का भ्रम होने लगता है। इस रोग के प्रभाव से स्त्री के स्तनों में गर्भिणी के जैसा दूध

पैदा हो जाता है और स्तन-मण्डल (स्तनों के मुख) काले पड़ जाते हैं। शरीर में ढीलापन, आँखों में आलस्य, मुँह से लार टपकना, नाना प्रकार की वस्तुएँ खाने-पीने, पहनने और देखने की इच्छा, पैरों में थोड़ा-थोड़ा शोथ, योनि में दुर्गन्ध तथा गर्भोदक के समान जल का स्राव आदि लक्षणों को देख कर लोग समझ लेते हैं कि स्त्री गर्भवती है। परन्तु रक्तगुल्म में पूर्वोक्त लक्षणों के साथ-साथ शूल, अतिसार, वमन, अरुचि, शरीर में वेदना, आलस्य आदि भी न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं। सारे शरीर में फड़कन होती है। इन्हीं शूल, शरीर में दर्द तथा सर्वाङ्ग में फड़कन आदि लक्षणों को देख कर रक्तगुल्म पहचाना जाता है। क्योंकि ये लक्षण गर्भ के समय प्रकट नहीं होते।

रक्तगुल्म की चिकित्सा गर्भकाल अर्थात् दस महीने व्यतीत होने पर आरम्भ करनी चाहिए। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यदि गर्भ होगा तो वह इतने समय में अवश्य पैदा हो जायगा और उसके नष्ट होने की कोई आशङ्का नहीं रहेगी। इसका वास्तविक कारण यह है कि रक्त-गुल्म की चिकित्सा उसी समय सफल होती है, जब रोग पुराना पड़ जाता है। और भी अर्बुद, ग्रन्थि, काँच, मोतियाबिन्द आदि बहुत से रोग हैं, जो पुराने पड़ने पर ही अच्छी तरह शान्त किए जा सकते हैं। आरम्भिक अवस्था में रक्तगुल्म की चिकित्सा करना एक नई विपत्ति मोल लेना

है। गर्भाशय की दीवारों में चिपके हुए विकृत रक्त को काट कर निकालते समय गर्भाशय को भी क्षति पहुँच सकती है। इन्हीं कारणों पर विचार करने से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इसकी चिकित्सा दस मास के पहले न की जाय।

चिकित्सा आरम्भ करने के पहले रोगिणी को स्नेह-पान करा कर स्वेद देना चाहिए। इसके बाद स्निग्ध विरेचन, घृत-तैल-मिश्रित तर गुणवाली औषधियों का जुलाब, देकर निम्न-लिखित औषधियों का सेवन कराना चाहिए:—

(१) गुल्म को ढीला करने के लिए घी अथवा तेल को ढाक या बराबर के क्षार-जल में पका कर अवस्थानुसार मात्रा में सेवन करना चाहिए। यदि इस प्रकार गुल्म ढीला न पड़े तो निम्न-लिखित औषधियों का फ़ाया योनि में रखना चाहिए।

(२) जवाखार के जल में रुई का फ़ाया भिगो कर योनि में रखने से रक्तगुल्म नष्ट हो जाता है।

(३) सेंहुड़ के दूध में रुई भिगोकर उसका फ़ाया योनि में रखने से रक्तगुल्म तथा मिथ्यागर्भ दोनों नष्ट हो जाते हैं। यदि जलन उत्पन्न हो तो घी लगाने से मिट जायगी।

(४) जवाखार, सोंठ, मिर्च और पीपल के चूर्ण को मधु के साथ खाने से रक्तगुल्म नष्ट हो जाता है।

इनके अतिरिक्त अन्य उष्ण, तीक्ष्ण तथा क्षार औषधियों के प्रयोग से भी रक्तगुल्म में लाभ होता है। गुल्म के फूटने पर यदि अधिक रक्त निकलने लगे तो रक्त-पित्त-नाशक—वाशा-घृत आदि—औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(५) पञ्चानन रस—शुद्ध पारा, गन्धक, तूतिया, जमालगोटा, पीपल और अमलतास के गूदे को समभाग में लेकर हुड़हुड़ के दूध में भावना दे ले। इसकी आधी रत्ती से एक रत्ती तक की मात्रा आँवले या इमली के पत्तों के रस के साथ सेवन करने से रक्तगुल्म शीघ्र शान्त होता है। भूख लगने पर दही-भात खाना चाहिए।

उपरोक्त किसी भी उपाय से रोग नष्ट न हो तो शस्त्र-चिकित्सा करनी चाहिए। इसकी चीर-फाड़ करने के लिए किसी चतुर डॉक्टर की आवश्यकता होती है। लखनऊ, जयपुर, आगरा आदि के अस्पतालों में इसकी अच्छी चिकित्सा हो सकती है।

प्रसव

प्रसव की क्रिया सङ्घटित होने के पहले गर्भाशय सिकुड़ कर बच्चे को बाहर निकालने की चेष्टा करता है। इस सङ्कोच के कारण गर्भिणी को जो व्यथा होती है, उसे प्रसव-वेदना या आवीप्रादुर्भाव कहते हैं। यह वेदना स्वभाव से ही रुक-रुक कर होती है और थोड़ी देर बाद बन्द हो जाती है। यदि वेदना लगातार होती रहे और बहुत देर तक बच्चे का जन्म न हो तो गर्भिणी और गर्भ दोनों के प्राण सङ्कट में पड़ जाते हैं। प्रसव के पहले दो प्रकार

की वेदना देखी जाती है—प्रकृत और अप्रकृत। प्रकृत वेदना में जरायु स्वतः सङ्कुचित होता है और गर्भ धीरे-धीरे प्रसव-मार्ग में आने लगता है। इसका आरम्भ पहले धीरे-धीरे और मृदुभाव से होता है, पर अल्पकाल में ही यह बहुत बढ़ जाती है। फिर धीरे-धीरे कम होने लगती है और अन्त में थोड़ी देर के लिए बिलकुल शान्त हो जाती है। इसी प्रकार प्रसव होने के पहले यह बराबर घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु प्रसव-काल ज्यों-ज्यों समीप आता जाता है त्यों-त्यों इसका घटना-बढ़ना शीघ्र गति से होने लगता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृत वेदना में एक निर्दिष्ट क्रम होता है, जो अप्रकृत वेदना में नहीं पाया जाता। जरायु के किसी भाग में क्षत या रक्ताधिक्य और पाक-स्थली अथवा आँतों की उत्तेजना के कारण गर्भाशय का कोई अंश—सम्पूर्ण गर्भाशय नहीं—सिकुड़ने लगता है और इस प्रकार अप्रकृत वेदना का सूत्रपात होता है।

प्रकृत वेदना आरम्भ होने के कई दिन पहले गर्भिणी के शरीर में कतिपय लक्षणों का उदय होता है—"जातेहि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदय बन्धने। सशूल जघना नारी विज्ञेयातु प्रजायिनी।" अर्थात् यदि स्त्री का पेट ढीला पड़ जाय, हृदय और नाभिनाल के बन्धन में शिथिलता आ जाय और कमर के नीचे नितम्ब स्थान में शूल होने लगे तो समझना चाहिए कि स्त्री का प्रसव-काल समीप है।

जरायु का सङ्कोच आरम्भ होने पर उसकी ग्रीवा छोटी होकर जरायु-प्राचीर में परिणत हो जाती है और प्रसव-मार्ग के कोमल सूत्र शिथिल होकर जरायु के शनैः शनैः नीचे लटकने के लिए मार्ग बना देते हैं। इस अवस्था को प्रसव का उपक्रम कहते हैं।

प्रसव-प्रक्रिया

गर्भाशय का सङ्कोच और उसके मुख का विस्तार एक ही समय आरम्भ होता है। गर्भाशय का ऊपरी भाग ज्यों-ज्यों सिकुड़ता जाता है त्यों-त्यों गर्भ बाहर की ओर आने लगता है और धीरे-धीरे गर्भाशय के मुख का पूर्ण विस्तार हो जाने पर बालक भूमिष्ठ (उत्पन्न) हो जाता है। गर्भाशय के मुख पर एक पानी की थैली होती है, जो गर्भ के विकाश-काल में गर्भाशय के मुख को बन्द रखती है। प्रसव के समय इस थैली का भार गर्भाशय के मुख को विस्तृत करने में बहुत सहायता देता है। इसीलिए धाय इस बात की भरपूर चेष्टा करती हैं कि बच्चे के निकलने के पहले यह थैली फूटने न पावे। बालकोत्पत्ति के पश्चात् यह थैली फूट जाती है और इसके भीतर से एमनियम (Amnion) नाम का एक तरल पदार्थ निकलता है। बालक के भूमिष्ठ होने के कुछ देर बाद आँवल (फूल) निकलता है और यहीं पर प्रसव की प्रक्रिया समाप्त होती है।

विविध प्रसव

प्रसव स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेद से दो प्रकार का होता है। स्वाभाविक या सहज प्रसव में बच्चे का सिर भारी होने के कारण पहले निकलता है और वेदना आरम्भ होने के बाद साधारणतः २४ घण्टे में प्रसव हो जाता है। जिस प्रसव में इससे अधिक समय लगता है, उसे विलम्ब-प्रसव और जिसमें कम लगता है उसे द्रुत-प्रसव कहते हैं। अस्वाभाविक या कठिन प्रसव में बालक के सिर के बदले उसके हाथ, पैर या अन्य अङ्ग पहले बाहर निकलते हैं। स्वाभाविक प्रसव में प्रसूता और बालक दोनों में से किसी को भी अधिक कष्ट नहीं होने पाता। जिस समय शिशु का मस्तक माता के वस्ति-तट के तिरछे व्यासद्वय के किसी समानान्तर वस्ति-तट में प्रविष्ट होता है उस समय बालक का ऑक्सिपट (Occiput) प्रसूति के सामने अथवा पीछे रहता है। इसके बाद वह माता के वस्ति-गह्वर के तिरछे व्यास में होकर नीचे लटकना आरम्भ होता है। वह क्रमशः आवर्तन क्रिया द्वारा वस्ति निर्गम द्वार के सम्मुख-पश्चात् व्यास में आकर उपस्थित होता है। इसके बाद वह थोड़ा-थोड़ा विस्तृत होकर प्रसव-मार्ग से बाहर निकल आता है।

मुख व ललाट निर्गम—कहीं-कहीं पर बालक का मस्तक आगे न निकल कर पहले मुख बाहर निकलता है।

किसी कारणवश ऑक्सिपट के वस्ति-तट में रुक जाने से शिर की विवर्तन क्रिया नहीं होने पाती है। इस वास्ते जरायु सङ्कोचन से बालक का मुख धीरे-धीरे प्रसव-मार्ग की ओर झुकता है और अन्त में पहले बाहर निकलता है। कहीं-कहीं पर मुख का परिवर्तन (लौटना) होने पर ललाट आगे को झुकता है। यह क्रिया किसी कारण-विशेष से मस्तक के उपयुक्त प्रमाण में विस्तृत न होने पर हुआ करती है।

वस्ति का आगे निकलना—जिस प्रसव में बालक की वस्ति, जानु अथवा पैर बाहर निकलते हैं उसे वस्ति-प्रागवतरण (ब्रिच प्रेजेन्टेशन) कहते हैं। बालक का निम्नाङ्ग पहले बाहर निकलने के कारण उसका नाभिरज्जु भी पहले निकलता है। इस रज्जु के ऊपर किसी प्रकार का दबाव पड़ने के कारण यदि इसका रक्त-सञ्चार बन्द हो जाय तो बालक की उसी क्षण मृत्यु हो जाती है। वस्ति में उँगली डाल कर देखने से यदि बालक के श्रोणिद्वय (नितम्ब), उपस्थ (लिङ्ग) आदि बाह्य जननेन्द्रियों का स्पर्श हो तो समझना चाहिए कि बालक का वस्ति भाग आगे को नमकर निकल रहा है।

पार्श्व देश का आगे निकलना—कभी-कभी बालक का ऊर्ध्वाङ्ग अथवा निम्नाङ्ग कोई भी पहले न आकर उसका पार्श्वदेश, स्कन्ध या हाथ की कोहनी बाहर निकलती है।

ऐसा प्रसव अत्यन्त सङ्कटमय होता है। अन्तिम दो प्रसव-विकृतियाँ—वस्ति और पार्श्व-प्रागवतरण—बालक के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई हैं।

नाभि-नाल की रक्षा—यदि शिशु की वस्ति आगे होकर बाहर निकलती हो तो नाभि-नाल के प्रसव-द्वार से निकलते ही उसे हाथ का सहारा देकर सुरक्षित रखना चाहिए। जिस प्रसव में पहले बच्चे का पैर बाहर निकलता है, उसमें प्रसव-मार्ग पूर्णतया प्रशस्त नहीं होने पाता और सारा शरीर निकल जाने के बाद बच्चे का सिर भीतर फँसा हुआ रह जाता है। यह बड़े सङ्कट का समय होता है। इसमें बड़ी सावधानी के साथ नाभि-नाल की रक्षा करने की आवश्यकता होती है। जब बच्चा नाभिपर्यन्त बाहर निकल आवे, तब नाभि को वस्ति के सबसे अधिक विस्तृत भाग में रख कर बचाना चाहिए।

हस्तद्वय—नाभिस्थल के बाहर निकलने के बाद प्रायः दोनों हाथ बाहर निकलते हुए देखे जाते हैं। यदि ऐसा न हो और दोनों हाथ बालक के शिर के ऊपर उठे हुए हों तो उनको शीघ्र ही बालक के सामने की ओर झुकाना चाहिए। दोनों हाथों को एक साथ ही झुकाना असम्भव हो तो पहले जो हाथ शिशु के पीछे की ओर हो, उसको आगे की ओर लाना चाहिए और बाद को सामने का हाथ नीचे की ओर झुकाना चाहिए।

मस्तक निर्गमन—यदि दोनों हाथों के निकल जाने के बाद कण्ठ के ऊपर का भाग और सिर अटक जाय तो शीघ्र ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे बालक के मुख में वायु का प्रवेश होता रहे। योनि के पीछे की तरफ़ उँगली द्वारा कुछ योनिरन्ध्र को फैला कर मुख बाहर कर देना चाहिए और उदर-प्राचीर में हाथ रख कर जरायु को दबाए रखना चाहिए। यदि ऐसा करने पर भी बालक का मस्तक बाहर न होता हो तो गर्भाशय को दूसरे मनुष्य से दबवाता हुआ चिकित्सक अपनी उँगली द्वारा बालक के ऑक्सिपट को दबावे। इस क्रिया से शीघ्र ही मस्तक बाहर निकल आता है।

पार्श्वप्रागवतरण—पार्श्वप्रागवतरण अर्थात् जहाँ पर बालक का एक हाथ आगे झुक कर निकल आवे वहाँ पर वाह्य कर-कौशल से शिशु के मस्तक या वस्ति को प्रसव-मार्ग में घुमाकर लाना आवश्यक है। इतने पर भी यदि कोई फल न हो तो चिकित्सक गर्भाशय के भीतर अपना एक हाथ प्रवेश करके शिशु के पैरों को नीचे लाने की चेष्टा करे। यदि इससे भी गर्भ बाहर न हो सके तो अन्त में शस्त्र द्वारा गर्भ-देह का छेदन कर प्रसव-कार्य करना चाहिए।

प्रसव में बाधा

पूर्व-लिखित कठिनाइयों के अतिरिक्त भी प्रसव में

अन्य कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती हैं। जरायु-ग्रीवा के किसी कारण-विशेष से कठिन हो जाने या उसमें अर्वुद होने के कारण जरायु का मुख अच्छी तरह फैलने नहीं पाता। इससे सन्तान के अपत्य-मार्ग में आ जाने के बाद नीचे झुकने में बाधा पड़ती है और गर्भिणी तथा गर्भ दोनों का जीवन सङ्कट में पड़ जाता है।

यदि जरायु में किसी प्रकार की विकृति न हुई तो शिशु उसके मुख द्वारा सुगमता-पूर्वक बाहर निकल आता है और योनि में प्रवेश करता है। यदि योनि भी निर्दोष हुई तब तो सहज में प्रसव हो जाता है, अन्यथा कई प्रकार की प्रसव-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। योनि के अन्यान्य दोषों की अपेक्षा उसकी दृढ़ता अधिक आपत्तिजनक होती है।

इन कारणों के अतिरिक्त वस्ति की विकृति, सङ्कीर्णता और वक्रता तथा वस्ति-तट में अर्वुद के होने से भी प्रसव में बाधा पड़ती है। कभी-कभी मूत्राशय तथा मलाशय में मूत्र और मल का रहना भी प्रसव-बाधा का कारण होता है। परन्तु अन्तिम दो कारण बहुत सामान्य हैं और इनका प्रतिकार आसानी से हो सकता है। गर्भ के शिर में बहुत अधिक जल भर जाने से कहीं-कहीं वह इतना बढ़ जाता है कि उसका वज़न तीन-चार सेर तक हो जाता है। इस प्रकार का भारी सिर प्रसव-मार्ग में थोड़ा भी प्रवेश नहीं करता। ऐसे समय शीघ्रतापूर्वक

पेट चीर कर अथवा बच्चे का सिर छेद कर पानी न निकाला जाय तो गर्भिणी की मृत्यु हो जाती है।

योनि-नाड़ी में कठिनता हो तो किसी तेज़ चाक़ू से उसे काट देना चाहिए। अर्बुद हों तो उन्हें ऊपर की ओर उठाकर बालक को निकालने की चेष्टा करनी चाहिए। इस उपाय से सफलता प्राप्त न हो तो शस्त्र की सहायता से बालक को बाहर करना चाहिए। यदि इससे भी कार्य सिद्ध न हो तो बालक का छेदन कर स्त्री की रक्षा करनी चाहिए।

वस्ति की विकृति या सङ्कीर्णता भी शस्त्र के द्वारा दूर की जाती है। शीषाम्बु दोष में, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, शस्त्र-प्रयोग के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।

अकाल-प्रसव—जिन स्त्रियों की वस्ति विकृत अथवा सङ्कीर्ण होती है, उनको प्रसव-काल में बहुत ही कष्ट होता है। इसलिए ऐसी स्त्रियों के गर्भ होने पर अकाल में प्रसव करा देना चाहिए (७ मास के बाद, पहले नहीं; इससे पहले बच्चा जीवित नहीं रह सकता), क्योंकि काल-प्रसव में गर्भ शरीर परिपुष्ट होने के कारण बाहर निकलने में असमर्थ हो जाता है। इस क्रिया से माता तथा बालक दोनों की जीवन-रक्षा हो सकती है। यदि अकाल-प्रसव भी असाध्य हो तो गर्भ की तरुणावस्था में ही उसको नष्ट करा देना चाहिए।

प्रसवकारक योग

प्रसव की पीड़ा उत्पन्न हो जाने के वाद यदि प्रसव में विलम्ब होवे तो निम्नलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए। इससे शीघ्र प्रसव हो जाता है। इनमें से कुछ योग तो ऐसे अनुभव-सिद्ध हैं कि इनके उपयोग से साधारण प्रसव तो क्या, मूढ़गर्भ के वाहर आने में भी विलम्ब नहीं लगता।

(१) कलिहारी की जड़ या पञ्चाङ्ग को पानी में महीन पीस कर हाथ-पैरों के तलुवों में लेप करने से वालक शीघ्र उत्पन्न हो जाता है। इसके उपयोग से मूढ़गर्भ भी वाहर आ जाता है, परन्तु प्रसव होने के वाद ही लेप छुड़ा देना चाहिए, नहीं तो गर्भाशय वाहर निकल आने की शङ्का रहती है।

(२) अपामार्ग की जड़ को जल में महीन पीस कर नाभि के नीचे, योनि के आस-पास और जाँघों पर लेप करने से शीघ्र प्रसव होता है। यह लेप भी वालक उत्पन्न होने के वाद तुरन्त छुड़ा देना चाहिए।

(३) पञ्चाङ्ग सहित अपामार्ग को उखाड़ कर कोई दूसरी स्त्री उसको हाथ में लेकर प्रसूता को दिखाती रहे तो प्रसव शीघ्र होता है।

(४) मदार की जड़ को उसी के पाँच पत्तों में लपेट कर प्रसूता के शिर के वालों में वाँध दे, इससे तत्क्षण

बालक उत्पन्न हो जाता है। बालकोत्पत्ति के अनन्तर इसको शीघ्र खोल कर फेंक देना चाहिए।

(५) मैनफल और काले साँप की केंचुली, दोनों को कराडे की निर्धूम अग्नि में डाल कर जननेन्द्रिय में धूनी देने से बालक शीघ्र उत्पन्न हो जाता है।

(६) काले साँप की केंचुली १ तोला और घोड़े या गधे का नाखून ४ तोले, दोनों को कूट कर कराडे की निर्धूम अग्नि में डालकर योनि में धूनी देने से बालक शीघ्र उत्पन्न होता है।

(७) प्रसव-वेदना उत्पन्न होने पर जिस घर में प्रसूता का निवास हो उसकी छत पर मरी हुई गाय के शिर की सूखी हड्डी रख देने से बिना कष्ट के शीघ्र प्रसव हो जाता है।

(८) सत्यानाशी के पञ्चाङ्ग को जल में बारीक पीस कर प्रसूता के हाथ-पैर तथा शिर में लेप करने से बालक शीघ्र उत्पन्न होता है।

(९) ऊँटकटीले की जड़ को पानी में महीन पीस कर प्रसूता के शिर में लेप करने से मृत-गर्भ भी तुरन्त बाहर निकल आता है।

निम्नलिखित यन्त्र को बाँस के नवीन पट्ठे पर खड़िया मिट्टी से लिख कर प्रसूता स्त्री को उसके ऊपर बैठाने से तत्काल सुखपूर्वक प्रसव होता है। यदि समय पर खड़िया

मिट्टी न मिल सके तो किसी भी स्वच्छ श्वेत मिट्टी से काम ले सकते हैं :—

१२	५	१०
७	६	११
८	१३	६

(२) निम्नलिखित यन्त्र को अनार की लेखनी से रक्त चन्दन द्वारा भोजपत्र पर लिख कर गर्भिणी स्त्री को दिखाते रहने से प्रसव हो जाता है :—

समुद्रस्योत्तरेतीरे

६	१६	५	४
७	२	११	१४
१२	१३	८	१
६	३	१०	१५

अस्मता नाम गाविणी

तस्याः स्मरण मात्रेण

प्रसूता भवति गर्भिणी

(३) एक काँसे की थाली के उलटे पेंदे पर किसी तान्त्रिक या ज्योतिषी द्वारा रोली से चक्रव्यूह लिखवा कर पहले गर्भिणी को दिखावे, फिर आधा धोकर पिला दे। इससे शीघ्र प्रसव होता है ।

उत्तर वेदना

बालक तथा फूल के बाहर निकल आने पर गर्भाशय सङ्कुचित होने लगता है। इससे प्रसूता को रुक-रुक कर वेदना होती है। इसे उत्तर वेदना कहते हैं। यह प्रसव के कुछ घण्टों बाद बन्द हो जाती है, परन्तु कहीं-कहीं लगातार दो दिनों तक रहती है। इसका परिणाम प्रसूता के लिए मङ्गलकारी है, क्योंकि बालकोत्पत्ति के उपरान्त गर्भाशय स्वभावतः सिकुड़ कर गेंद की भाँति कठिन पड़ जाता है। इससे यह लाभ होता है कि उसके भीतर का सब दूषित रक्त और विकृति पदार्थ बाहर निकल आते हैं।

प्रसव के पश्चात् का रक्तस्राव

गर्भाशय के भीतर नाड़ियों का एक जाल है, जिसकी शाखाएँ खेड़ी में फैली रहती हैं। प्रकृति ने इस जाल को ऐसे कौशल से बनाया है कि गर्भाशय के खुलने और फैलने पर इस जाल की नाड़ियाँ भी खुलती और फैलती हैं। बालक के जन्म लेते ही गर्भाशय की रक्त-नाड़ियों का मुख खुल जाता है। परन्तु जब गर्भाशय बलपूर्वक सङ्कु-

चित होने लगता है तो ये नाड़ियाँ दब कर बन्द हो जाती हैं। यदि प्रसव के अनन्तर गर्भाशय न सिकुड़े या अधूरा ही सिकुड़ कर रह जाय तो उक्त नाड़ियाँ बन्द नहीं होतीं और रक्तस्राव होने लगता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गर्भाशय पहले सिकुड़ कर फिर ढीला पड़ जाता है और कभी-कभी तो इतना ढीला हो जाता है कि फिर सिकुड़ता ही नहीं। किन्तु इन दोनों दशाओं में रक्तस्राव नहीं होता। इसका कारण यह है कि गर्भाशय बालक के निकलते ही एक बार बड़े ज़ोर से सिकुड़ता है। इससे रक्त-नाड़ियाँ दब जाती हैं और उनके मुखों पर रक्त जम कर स्राव को बन्द कर देता है। गर्भाशय का न सिकुड़ना ही रक्तस्राव का एकमात्र मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारणों से भी रक्तस्राव होता है:—

(१) कठिन प्रसव में प्रसूता और गर्भाशय दोनों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है। बच्चे के शीघ्र बाहर न निकलने के कारण स्त्री कूँथ-कूँथ कर और गर्भाशय अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ सिकुड़ कर उसे बाहर ढकेलने की चेष्टा करता है। इस प्रकार दोनों का असीम बल नष्ट होता है और प्रसव के बाद गर्भाशय में पुनः सिकुड़ने की शक्ति शेष नहीं रह जाती। रक्त-नाड़ियों का मुख खुला हुआ रह जाता है और उनसे रक्त की धारा बहने लगती है।

(२) गर्भ की थैली में अधिक जल भर जाने या गर्भाशय में एक ही साथ एक से अधिक बालकों के होने पर गर्भाशय फूल जाता है। इससे प्रसव के पश्चात् रक्तस्राव होता है।

(३) कभी-कभी बच्चा स्वयं या शङ्कुयन्त्र के द्वारा निकाले जाने पर शीघ्र गर्भाशय से बाहर आ जाता है। इससे एकाएक गर्भाशय ख़ाली हो जाता है और खेड़ी उसके भीतर रुक जाती है। इससे रक्तस्राव होने लगता है।

(४) प्रथम बार गर्भधारण करने वाली स्त्रियों को उत्तर वेदना कम होती है, और उनका मन आत्म-विश्वास से पूर्ण रहता है। परन्तु कई बार गर्भधारण और सन्तान-प्रसव कर चुकने पर यह आत्म-विश्वास क्षीण हो जाता है। ऐसी स्त्रियों को प्रसव के समय वेदना और रक्तस्राव का भय पहले से ही सताता रहता है। इस मानसिक दौर्बल्य का फल यह होता है कि उनका गर्भाशय वास्तव में अपना काम करना छोड़ देता है और रक्तस्राव होने लगता है।

(५) बालक के भूमिष्ठ हो जाने पर कभी-कभी खेड़ी गर्भाशय के भीतर रुकी रह जाती है। इसे शीघ्र निकालने की इच्छा से मूर्ख दाइयाँ नाल को पकड कर खींचती हैं। खींचने पर गर्भाशय में झटका लगता है और वह सिकुड़ने लगता है। पर उसके पेंदे में किसी प्रकार का आघात

नहीं लगता और वह ज्यों का त्यों फैला हुआ ही रहता है। इससे गर्भाशय का अनियमित या आंशिक सङ्कोच होता है। वह घड़ी के शीशे की तरह छिछला हो जाता है और जो भाग शिथिल पड़ा रहता है, उससे रक्त निकल कर बहने लगता है।

(६) यदि खेड़ी गर्भ-प्राचीर से सटी हुई रह जाय तब भी रक्तस्राव होता है। उसका कुछ अंश गर्भ-प्राचीर से संयुक्त और कुछ विभिन्न हो तब तो स्राव की और भी अधिक आशङ्का होती है। यह दशा एक बार होने पर बाद को सभी गर्भों में हुआ करती है।

बालक के जन्म लेने के बाद और खेड़ी के निकलने के पहले रक्तस्राव का समय होता है। खेड़ी निकलने के बाद गर्भाशय के सिकुड़ कर फिर ढीले पड़ जाने पर भी रक्त-स्राव होता है। उस समय रक्त या तो ठहर-ठहर कर या लगातार निकलता है। लगातार निकलने से सारे प्रसूतागार में रक्त ही रक्त बहता दिखाई देता है। परीक्षा करने पर विदित होता है कि गर्भाशय विस्तृत और शिथिल है तथा बार-बार फैलने और सिकुड़ने की चेष्टा कर रहा है। कभी-कभी रक्त ऐसी गुप्त रीति से निकलता है कि रोगिणी को उसकी कोई चिन्ता नहीं होती। पर उसके घातक परिणाम अवश्य प्रगट होते हैं। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और कानों में अनेक

प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। उसे ऐसा मालूम होता है मानों वह शय्या से गिरी जा रही हो। यदि श्वास-क्रिया नियमित, नाड़ियों की गति स्वस्थ, शरीर में शक्ति और त्वचा में गर्मी विद्यमान हो तो समझना चाहिए कि अभी रोगिणी के जीवन की आशा शेष है।

इसकी चिकित्सा के दो भाग हैं। प्रथम भाग में ऐसी चेष्टा की जाती है, जिससे रक्तस्राव होने ही न पावे। दूसरे भाग में यदि रक्तस्राव आरम्भ होगया हो तो उसे बन्द करने की चेष्टा की जाती है। निम्न-लिखित उपायों को काम में लाने से रक्तस्राव कदापि नहीं हो सकता:—

(१) बालक के जन्म लेते समय दाई को ख़ूब सावधान हो जाना चाहिए। ज्योंही बालक धरती पर गिरे त्योंही गर्भाशय को हाथों से पकड़ कर गेंद की तरह हथेली और उँगलियों के बीच में दबा लेना चाहिए। इस प्रकार उसे कम से कम आध घण्टे तक पकड़े रहने से वह सिकुड़ जाता है और फिर ढीला नहीं होने पाता। रक्तस्राव का भय जाता रहता है तथा गर्भाशय से खेड़ी और गर्भ-झिल्लियाँ भी निकल जाती हैं।

(२) गूलर के पत्तों का रस या शराब में घोटे हुए अफ़ीम का फ़ाया योनि में रखने से रुधिर-स्राव रुक जाता है।

(३) यदि प्रसूता अधिक शिथिल हो तो एक रत्ती

मकरध्वज मधु से चटा कर तीन-चार मुनक्का खिला देने से शरीर में गर्मी आ जायगी और निर्बलता, मूर्च्छा आदि सब विकृतियाँ दूर हो जायँगी।

(४) खेड़ी गिर जाने पर शीघ्र ही एक ड्राम "लिक्विड एक्सट्रेक्ट ऑफ़ अरगट" (Liquid extract of Argot) में थोड़ा जल मिला कर पिला देने से रही-सही झिल्लियाँ और रक्त के टुकड़े तो निकल ही जाते हैं, रक्त की नाड़ियों का मुख भी सिकुड़ कर बन्द हो जाता है।

(५) यदि उक्त औषधि को खिलाने में कुछ कठिनाई हो या उसके प्रयोग से वमन होने का भय हो तो उसी का सत "अरगोटीन" (Ergotin) १० बूँद लेकर भुजा या किसी अन्य स्थान में त्वचा की पिचकारी देनी चाहिए। सुभीते के हिसाब से पूर्वोक्त औषधि ही अच्छी है, क्योंकि उसे शिक्षित और अशिक्षित दोनों पिला सकते हैं, परन्तु लाभ की दृष्टि से पिचकारी देना अधिक अच्छा है, इससे रक्तस्राव शीघ्र बन्द हो जाता है।

(६) यदि पूर्व-गर्भों में स्राव हो चुका हो वा नवीन प्रसव के समय होने का भय हो तो उक्त औषधि उस समय देना चाहिए जब बालक का शिर भग के द्वार पर या उससे कुछ बाहर निकल आया हो। प्रथम गर्भिणी तथा अनेक बार की प्रसूता—दोनों को उक्त औषधि पिलाई जा सकती है। प्रथम गर्भिणी को औषधि गर्भशिर के

प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। उसे ऐसा मालूम होता है मानों वह शय्या से गिरी जा रही हो। यदि श्वास-क्रिया नियमित, नाड़ियों की गति स्वस्थ, शरीर में शक्ति और त्वचा में गर्मी विद्यमान हो तो समझना चाहिए कि अभी रोगिणी के जीवन की आशा शेष है।

इसकी चिकित्सा के दो भाग हैं। प्रथम भाग में ऐसी चेष्टा की जाती है, जिससे रक्तस्राव होने ही न पावे। दूसरे भाग में यदि रक्तस्राव आरम्भ होगया हो तो उसे बन्द करने की चेष्टा की जाती है। निम्न-लिखित उपायों को काम में लाने से रक्तस्राव कदापि नहीं हो सकता :—

(१) बालक के जन्म लेते समय दाई को ख़ूब सावधान हो जाना चाहिए। ज्योंही बालक धरती पर गिरे त्योंही गर्भाशय को हाथों से पकड़ कर गेंद की तरह हथेली और उँगलियों के बीच में दबा लेना चाहिए। इस प्रकार उसे कम से कम आध घण्टे तक पकड़े रहने से वह सिकुड़ जाता है और फिर ढीला नहीं होने पाता। रक्तस्राव का भय जाता रहता है तथा गर्भाशय से खेड़ी और गर्भ-झिल्लियाँ भी निकल जाती हैं।

(२) गूलर के पत्तों का रस या शराब में घोटे हुए अफ़ीम का फ़ाया योनि में रखने से रुधिर-स्राव रुक जाता है।

(३) यदि प्रसूता अधिक शिथिल हो तो एक रत्ती

मकरध्वज मधु से चटा कर तीन-चार मुनक्का खिला देने से शरीर में गर्मी आ जायगी और निर्बलता, मूर्च्छा आदि सब विकृतियाँ दूर हो जायँगी।

(४) खेड़ी गिर जाने पर शीघ्र ही एक ड्राम "लिक्विड एक्सट्रेक्ट ऑफ़ अरगट" (Liquid extract of Argot) में थोड़ा जल मिला कर पिला देने से रही-सही झिल्लियाँ और रक्त के टुकड़े तो निकल ही जाते हैं, रक्त की नाड़ियों का मुख भी सिकुड़ कर बन्द हो जाता है।

(५) यदि उक्त औषधि को खिलाने में कुछ कठिनाई हो या उसके प्रयोग से वमन होने का भय हो तो उसी का सत "अरगोटीन" (Ergotin) १० बूँद लेकर भुजा या किसी अन्य स्थान में त्वचा की पिचकारी देनी चाहिए। सुभीते के हिसाब से पूर्वोक्त औषधि ही अच्छी है, क्योंकि उसे शिक्षित और अशिक्षित दोनों पिला सकते हैं, परन्तु लाभ की दृष्टि से पिचकारी देना अधिक अच्छा है, इससे रक्तस्राव शीघ्र बन्द हो जाता है।

(६) यदि पूर्व-गर्भों में स्राव हो चुका हो वा नवीन प्रसव के समय होने का भय हो तो उक्त औषधि उस समय देना चाहिए जब बालक का शिर भग के द्वार पर या उससे कुछ बाहर निकल आया हो। प्रथम गर्भिणी तथा अनेक बार की प्रसूता—दोनों को उक्त औषधि पिलाई जा सकती है। प्रथम गर्भिणी को औषधि गर्भशिर के

भग से बाहर होने पर और अनेक वार की प्रसूता को गर्भ के भग-द्वार पर पहुँचने पर देनी चाहिए। औषधिपान के अनन्तर पूर्व-लिखित प्रकार से आध घण्टे तक गर्भाशय को पकड़े रह कर खेड़ी आदि निकल जाने पर उसे छोड़ देना चाहिए। गर्भाशय को दबा कर रखने के लिए पेट के ऊपर एक चौड़ी पट्टी बाँध देनी चाहिए और इसे आठ-दस दिन तक बँधी हुई रखना चाहिए। बीच-बीच में ढीली हो जाने पर उसे पुनः अच्छी तरह कस कर बाँध देना चाहिए और इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि गर्भाशय का गोला उसके ठीक नीचे पड़े। यदि यह गोला भलीभाँति न दबता हो तो कपड़े की एक मोटी सी गद्दी बना कर उसे गोले के ऊपर रख कर पट्टी बाँधनी चाहिए। इससे गर्भाशय दब कर सिकुड़ जाता है और रक्तस्राव का भय नहीं रहता।

(७) बालकोत्पत्ति के अनन्तर गर्भाशय ढीला होता हुआ जान पड़े तो बरफ़ का एक टुकड़ा योनि या गर्भाशय में रखना चाहिए। गर्भाशय में जमा हुआ रक्त इकट्ठा हो गया हो तो गर्भाशय के पेंदे को दबाने से वह शीघ्र निकल जायगा। एक हाथ से गर्भाशय को ऊपर से दबाए हुए दूसरे हाथ की उँगलियों को भग-मार्ग में प्रविष्ट कर देखना चाहिए कि रक्त का कोई लोथड़ा गर्भाशय के मुख या भग में अटकना तो नहीं चाहता। यदि कोई टुकड़ा अटकता

हुआ मिले तो उसे बाहर निकाल देना चाहिए ; क्योंकि इससे हानि होती है।

बालकोत्पत्ति के अनन्तर नाड़ी की गति स्वभावतः कम पड़ जाती है। यदि नाड़ी की गति कम न हो, वरन तीव्र हो जाय और नाड़ी का आघात प्रति मिनट १०० या इससे भी अधिक हो तो स्राव का अधिक भय रहता है। ऐसी अवस्था में विशेष सावधानी रखनी चाहिए। ऊपर के उपचारों से होने वाला स्राव रुक जाता है। अब ऐसी चिकित्सा का वर्णन किया जायगा, जिससे प्रारम्भ हुए स्राव बन्द किए जा सकते हैं। इसके लिए दो ही उपाय हैं—गर्भाशय को सङ्कुचित करना और खुली हुई नाड़ियों को बन्द करना।

(१) ढीले गर्भाशय को दबाने से उसमें सिकुड़ने की शक्ति आ जाती है। रक्त के लोथड़े बाहर निकल जाते हैं और स्राव बन्द हो जाता है। किन्तु केवल दबाने से काम नहीं चलेगा। उसे धीरे-धीरे मलना भी चाहिए। मलने से उसके ढीले पड़ने का भय नहीं रहता और सङ्कोचन शक्ति बढ़ जाती है। अधिक मलने से गर्भाशय में रगड़ के कारण छाले पड़ सकते हैं, इसलिए बहुतों का मत है कि उसे कसकर दबाना ही अच्छा है। इसके दबाने की द्वितीय रीति इस प्रकार है कि दाई अपने बाएँ हाथ की उँगली से भग द्वारा गर्भाशय को भीतर से दबावे और दाहिने हाथ

से गर्भाशय को ऊपर से पकड़े। जब दोनों हाथों के बीच वह आ जाय तो सब तरफ़ से पूरा दब जाता है।

(२) "लिक्विड एक्सट्रेक्ट ऑफ़ अरगट" (Liquid extract of Argot) १ ड्राम और पानी एक औन्स, दोनों मिला कर पिला दे। या अरगट का ताज़ा चूर्ण ३० ग्रेन और खौलता हुआ पानी १ औन्स लेकर खौलते हुए पानी में अरगट का चूर्ण डालकर उसे एक बन्द बरतन में भिगो दे। इसे अरगट का काढ़ा (Infusion) भी कहते हैं। प्रसव के समय अरगट दे चुके हों तो भी दुबारा यह काढ़ा पिला सकते हैं।

जैसा पहले बताया गया है, औषधि पीने की अपेक्षा इसकी पिचकारी लगाने से शीघ्र लाभ होता है। अतः पहले पिचकारी देने का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो चूर्ण से काम लेना चाहिए। अरगट से इस रोग में बहुत शीघ्र लाभ होता है।

(३) सरदी पहुँचाने से गर्भाशय की शक्ति बढ़ती है। परन्तु यह उपाय उस समय काम में लाना चाहिए, जब प्रसूता शिथिल हो गई हो और सरदी पहुँचाने से लाभ की सम्भावना हो। इसके लिए भग या गर्भाशय में बरफ़ रखते हैं अथवा बरफ़ को एक थैली में भर कर या बरफ़ के पानी में तौलिया भिगो कर उसे पेड़ू पर रखते हैं और बरफ़ के जल से गर्भाशय में पिचकारी देते हैं। भग या

गर्भाशय में बहुत देर तक लगातार बरफ़ का टुकड़ा न रखना चाहिए। यह उपाय रक्त को रोकने में अद्वितीय है।

(४) उपरोक्त उपायों द्वारा यदि रक्त बन्द न हो और गर्भाशय में थोड़ी भी सङ्कोचन शक्ति विद्यमान हो तो १०० से १२० दर्जे फ़र्नहाइट तक गरम जल से पिचकारी देनी चाहिए। इससे बहुत लाभ होता है।

(५) मूत्राशय में यदि मूत्र भरा हो तो उसे एक रबड़ की सलाई से निकाल देना चाहिए, क्योंकि वह गर्भाशय की शक्ति को शिथिल करता है।

रक्त की कमी के कारण, प्रसूता के शिथिल होने पर गर्भाशय सिकुड़ कर रक्त बन्द करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी दशा में उपरोक्त पिचकारी की औषधियों (परक्लो-राइड ऑफ़ आयरन) का लोशन (जल) गर्भाशय के भीतर खुली हुई नाड़ियों के मुँह पर लगाना चाहिए। पिचकारी से उस समय लाभ होता है जब कि प्रसूता के शरीर में कुछ शक्ति हो और सरदी पहुँचाने से गर्भाशय सिकुड़ रहा हो।

उपर्युक्त प्रयत्नों में से कोई न कोई रक्त को बन्द कर देने में अवश्य ही सफल हो जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि रक्त बन्द होने से ही स्त्री का जीवन सुरक्षित हो गया। अधिक रक्त बह जाने के कारण उसकी मृत्यु भी हो सकती है। मृत्यु का भय उस समय सबसे अधिक

रहता है जब स्त्री के मस्तिष्क का रुधिर जाता है। इसे मूर्च्छा कहते हैं।

(६) शिर के तले से तकिया निकाल कर शिर को नीचा और पैरों को ऊँचा कर देने से रक्त मस्तिष्क की ओर लौट आता है। यदि ऐसा करने पर भी रक्त न लौटे तो पेट के नीचे की चौड़ी धमनी या नाभिनाल चुटकी से पकड़ रखना चाहिए। इससे रक्त ऊपर चढ़ता है और मूर्च्छा दूर हो जाती है। शरीर को गरम रखने के लिए गरम जल से भरे हुए बोतलों को उस पर फेरना चाहिए। एक रत्ती मकरध्वज शहद के साथ चटा कर दो-चार मुनक्का खिलाने से शरीर की शिथिलता दूर हो जाती है।

(७) स्पिरिट एमोनिया एरोमेटिक २० बूँद, स्पिरिट क्लोरोफ़ार्म २० बूँद, स्पिरिट ईथर कम्पौण्ड २० बूँद, स्पिरिट ब्राण्डी एक ड्राम, स्पिरिट कैम्फर वाटर १ औन्स सबकी एक मात्रा बनावे। दो-तीन घण्टे के अन्तर से ऐसी पाँच या छः मात्राएँ पिला देने से हृदय यथोचित रूप से अपना कार्य करने लगता है।

(८) कूल्हों की त्वचा में आधे ड्राम ईथर की पिच-कारी देने से भी हृदय की क्रिया शुद्ध हो जाती है। प्रसूता के हृदय की गति ठीक हो जाने पर उसको थोड़ी सी गरम दूध की चाय और ब्राण्डी या गरम जल और ब्राण्डी पिलानी चाहिए। जी मिचलाता हो तो इसे थोड़ी देर

अनेक प्रकार के फरसेप्स
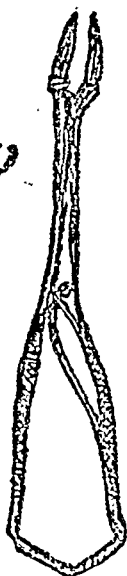
ठहर कर देना चाहिए। मांस-रस का उपयोग किया जा सकता है।

(६) लायकर एमोनिया एसिटेटिस १ ड्राम, लायकर मॉर्फ़िया हैड्रोक्लोरेट्स ५ बूँद, टिञ्चर डेजिटेलिस ५ बूँद, एक्वा कैम्फ़र १ औन्स, सबको मिला कर एक मात्रा बनावे। प्रत्येक ३-४ घण्टे बाद ऐसी एक मात्रा देने से मस्तक की पीड़ा आदि अनेक रोग शान्त होते हैं।

रक्तस्राव की अवस्था में रोगिणी को बिस्तर से न उठने देना चाहिए। उसे एक साफ़-सुथरे बिछावन पर सुलाए रखना चाहिए और मल-मूत्र भी पड़े-पड़े ही कराना चाहिए। मूत्र में अवरोध हो तो दोनों समय सलाई से मूत्र को निकाल देना चाहिए।

(१०) निम्नलिखित योग के सेवन से एक बार बन्द हुआ रक्तस्राव पुनः आरम्भ नहीं होता। यह छूत वाले रोगों से भी बचाता है।

कुनाइन सलफ़ास ३ ग्रेन, एसिड सलफ्युरिक डाय-ल्यूट १० मिनिम, लिक्विड एक्सट्रेक्ट ऑफ़ अरगट २० मिनिम, स्पिरिट क्लोरोफ़ार्म ५ मिनिम, पानी १ औन्स, सबको मिला कर एक मात्रा बनावे। ऐसी तीन मात्राएँ तीन बार सेवन करे।

प्रसवानन्तर रक्तस्राव

यह स्राव प्रसव के बाद दो-तीन घण्टे से लेकर दो-

तीन सप्ताह के भीतर हुआ करता है और प्रायः प्रसव के सातवें या आठवें दिन बढ़ जाता है। इसके शारीरिक और स्थानिक दो कारण हैं। चिन्ता, भय, शोक, क्रोध, लोभ, द्वेष, प्रसव के पश्चात् एकाएक सीधा खड़ा होना, परिश्रम या ज़ोर करना, गरम औषधियों का अधिक व्यवहार, क़ब्ज़, वृक (गुरदा) के रोग, शरीर में रक्त की कमी आदि शारीरिक कारण हैं और गर्भाशय का अनियमित वा अधूरा सिकुड़ना, गर्भाशय में रक्त के ढेलों का इकट्ठा होना, खेड़ी व अन्य पदार्थ (झिल्लियों के टुकड़े) का गर्भाशय में रह जाना, गर्भाशय-ग्रीवा का फटना या उसमें शोथ का होना, भग व गर्भाशय में किसी मांस की ग्रन्थि या लोथड़े का अटकना, गर्भाशय का उलट जाना, गर्भाशय में मांस की ग्रन्थियों का होना आदि स्थानिक कारण कहे जाते हैं। रक्त-स्राव के अतिरिक्त गर्भाशय बड़ा हो जाता है और उसमें दबाने से पीड़ा होती है। जिस समय रक्तस्राव बन्द रहता है, उस समय एक प्रकार की दुर्गन्धित पीब निकलती है। परीक्षा करने से गर्भाशय का मुख इतना खुला हुआ मिलता है कि उसमें दो उँगलियाँ प्रवेश कर जाती हैं और उँगलियों के निकालने पर उनमें दुर्गन्धित पीब लगी हुई मिलती है।

यदि रोग शारीरिक कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो प्रसूता को शय्या पर ही सुलाए रखना चाहिए और उसे परिश्रम करने व हिलने-डोलने से रोक देना चाहिए।

(१) दशमूल के क्वाथ के साथ आधी रत्ती मकरध्वज सेवन करने से शीघ्र स्राव बन्द होता है। पथ्य—दूध के साथ मुनक्का।

(२) लिक्विड एक्सट्रेक्ट ऑफ़ अरगट ३० बूँद, टिङ्क्चर केनेवस इण्डिका १० बूँद, पानी १ औन्स। यह एक मात्रा है। ऐसी दो-तीन मात्राएँ प्रतिदिन देने से स्राव बन्द हो जाता है।

यदि भीतर खेड़ी हो तो उसे निकाल देना चाहिए। गर्भाशय को छूतनाशक औषधियों से धोना चाहिए। इस कार्य में 'लाइकर फेरी परक्लोराइड' का व्यवहार कर सकते हैं। पथ्यादि प्रसवानन्तर रक्तस्राव के समान।

प्रसूता की सेवा

प्रसूता स्त्री की सेवा करने के लिए सर्व-प्रथम एक उपयुक्त सूतिका-गृह या प्रसूतागार की आवश्यकता होती है। यह गृह प्रशस्त, स्वच्छ और सुन्दर होना चाहिए। इसमें रोशनदान और खिड़कियों का यथोचित प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे घर में प्रकाश और शुद्ध वायु निरन्तर आता रहे।

प्रसूतागार कम से कम सात हाथ लम्बा और पाँच हाथ चौड़ा होना चाहिए। उसकी दीवारें चूने से पुती हुई और ज़मीन गोबर से लीप कर सुखा देना चाहिए। आस-

शय्या पर सीधी लिटा देना चाहिए। ऐसा न करने से, ख़ून अधिक बहता है, प्रसूता कमज़ोर हो जाती है और उसे मूर्च्छा आने लगती है। ऐसी नाज़ुक स्थिति में भी शुद्धता का ढोंग रचने वाली कुछ स्त्रियाँ तत्काल ही प्रसूता के कपड़े बदलवाने का झञ्झट खड़ा करती हैं और उसे बैठा-उठा कर हर प्रकार का कष्ट देती हैं। सेवा करने वाली स्त्रियों को अच्छा तरह समझ लेना चाहिए कि प्रसूता को जिस प्रकार कष्ट न मिले, उसी प्रकार कपड़े बदलवाना बुद्धिमत्ता का काम है। प्रसूता को कपड़े देकर उससे स्वयं बदलने का आग्रह कभी नहीं करना चाहिए। यदि साड़ी या लहँगा ख़ून से इतना तर हो गया हो कि उसे बदले बिना काम न चल सकता तो उसकी गाँठ खोल कर दो स्त्रियों को प्रसूता की कमर और टाँगों के नीचे हाथ लगा कर उसे ऊपर उठा लेना चाहिए और इसी बीच किसी अन्य स्त्री को नीचे से उसका वस्त्र खींच कर नूतन, स्वच्छ वस्त्र उसके स्थान पर रख देना चाहिए। इसीलिए सुश्रुत ने कहा है कि सौरी में चार सेवा-पटु स्त्रियों का रहना उचित है।

यदि शरीर के ऊपरी भाग का वस्त्र बदलना हो तो दो स्त्रियों को प्रसूता के दोनों हाथ अपने कन्धों पर रख कर अपना एक-एक हाथ क्रमशः ज़च्चा के शिर और पीठ के नीचे लगाकर उसे थोड़ा सा ऊपर उठा लेना चाहिए। इसके

पास कहीं कूड़ा-करकट या सड़ी-गली वस्तुएँ न रखनी चाहिए। घर में पहले से ही एक पलँग पर स्वच्छ, नरम और श्वेत बिछौना बिछा कर तथा उन सब वस्तुओं को, जिनकी प्रसव और उसके पीछे आवश्यकता हुआ करती हैं इकट्ठा करके रख लेना चाहिए। देहातों में सूतिकागृह का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता है जो सबसे अधिक अन्धकारमय, गन्दे और भयङ्कर होते हैं। इनमें मकड़ी के जाल, धुएँ के झोले और चूहे तथा छिपकलियों का अड्डा होता है। ऐसे घरों का बालक और जननी दोनों के स्वास्थ्य पर बड़ा विषैला प्रभाव पड़ता है। बहुत से बच्चे तो सौरी में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चले जाते हैं, और सेवा-शुश्रूषा की गड़बड़ी के कारण उनके पीछे सिधार जाने वाली माताओं की संख्या भी कम नहीं है। सेवा के लिए सूतिकागृह में ऐसी स्त्रियों को रखना चाहिए जिनके दो-तीन बालक पैदा हो चुके हों और जो दो-तीन बार प्रसव का काम अपने हाथों निबटा चुकी हों। प्रसूता के साथ इन स्त्रियों का पूर्व-सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए कि प्रसव-काल में उसे किसी प्रकार भी लज्जा या सङ्कोच न हो।

बालक पैदा होने के बाद शीघ्र ही या कुछ देर पीछे योनिद्वार से दूषित रक्त, झिल्ली और छीछड़े गिरा करते हैं। इनके निकल जाने पर स्त्री को विश्राम देने के लिए बिछी हुई

शय्या पर सीधी लिटा देना चाहिए। ऐसा न करने से ख़ून अधिक बहता है, प्रसूता कमज़ोर हो जाती है और उसे मूर्च्छा आने लगती है। ऐसी नाज़ुक स्थिति में भी शुद्धता का ढोंग रचने वाली कुछ स्त्रियाँ तत्काल ही प्रसूता के कपड़े बदलवाने का झञ्झट खड़ा करती हैं और उसे बैठा-उठा कर हर प्रकार का कष्ट देती हैं। सेवा करने वाली स्त्रियों को अच्छा तरह समझ लेना चाहिए कि प्रसूता को जिस प्रकार कष्ट न मिले, उसी प्रकार कपड़े बदलवाना बुद्धिमत्ता का काम है। प्रसूता को कपड़े देकर उससे स्वयं बदलने का आग्रह कभी नहीं करना चाहिए। यदि साड़ी या लहँगा ख़ून से इतना तर हो गया हो कि उसे बदले बिना काम न चल सकता तो उसकी गाँठ खोल कर दो स्त्रियों को प्रसूता की कमर और टाँगों के नीचे हाथ लगा कर उसे ऊपर उठा लेना चाहिए और इसी बीच किसी अन्य स्त्री को नीचे से उसका वस्त्र खींच कर नूतन, स्वच्छ वस्त्र उसके स्थान पर रख देना चाहिए। इसीलिए सुश्रुत ने कहा है कि सौरी में चार सेवा-पटु स्त्रियों का रहना उचित है।

यदि शरीर के ऊपरी भाग का वस्त्र बदलना हो तो दो स्त्रियों को प्रसूता के दोनों हाथ अपने कन्धों पर रख कर अपना एक-एक हाथ क्रमशः ज़च्चा के शिर और पीठ के नीचे लगाकर उसे थोड़ा सा ऊपर उठा लेना चाहिए। इसके

बाद धीरे-धीरे वस्त्र निकाल कर दूसरा वस्त्र ठीक उलटे क्रम से पहना देना चाहिए। यह वस्त्र इतना ढीला होना चाहिए कि इससे प्रसूता का गला और छातियाँ किसी प्रकार कसने न पावें।

कपड़े बदलने के बाद गरम जल में कोई स्वच्छ कपड़ा या रूई भिगो कर योनि के उपरी भाग और इधर-उधर लगे हुए रक्त को साफ़ कर देना चाहिए। फिर खाट के बिछौने के ऊपर एक साफ़ चादर बिछा कर ऊपर से एक लम्बा टुवाल, जो कमर और पुट्ठों के नीचे एकहरा और पेट पर दोहरा आ सके, बिछा देना चाहिए। पेड़ू के ऊपरी भाग में नाभि के नीचे और आस-पास कोमल रूई या चौतह किया हुआ कोमल कपड़ा रखकर टुवाल को इस तरह लपेट देना चाहिए, जिसमें पेट और पेड़ू की रक्षा हो, पर पेट के ऊपर व्यर्थ दवाव न पड़े।

यदि टुवाल न मिल सके तो एक डेढ़ गज़ लम्बे और एक हाथ चौड़े किसी खद्दर या गज़ी के टुकड़े से यह काम निकाला जा सकता है। कपड़े का जो भाग कमर और कूल्हों के नीचे आता है, उसकी चौड़ाई को ज्यों का त्यों छोड़ कर दोनों किनारों को क़ैंची से काट लेना चाहिए और उन्हें केवल इतना चौड़ा रखना चाहिए जिससे आधा पेट और पेड़ू ढका जा सके। इसे इतना थोड़ा सा कसना चाहिए जिससे गर्भाशय के ऊपर हलका सा दवाव पड़े

और उसे सिकुड़ने में सहायता मिल सके। कुछ स्त्रियाँ इस पट्टी को बेरहमी से कस कर या पेट पर कोई भारी वस्तु रख कर गाँठ बाँध देती हैं। ये दोनों बातें हानिकारक हैं। ज़च्चा को कम से कम दो-तीन दिन तक सीधे लेटे रहना चाहिए। ऐसी अवस्था में, पट्टी के खुल जाने का अधिक भय नहीं रहता। बहुत ही आवश्यक समझा जाय तो पट्टी के पिछले छोर पर दो सेफ्टी पिन लगा कर बाँध देना चाहिए। पेट पर कपड़ा बाँधने का मुख्य तात्पर्य यह है कि गर्भाशय को सुव्यवस्थित किया जाय और उसकी शोथयुक्त गाँठ को कोमल बनाकर बैठा दिया जाय। ऐसी दशा में कस कर बाँधने या किसी भारी चीज़ को पेट पर रख देने से गर्भाशय की सुव्यवस्थिति में बाधा पड़ने और प्रसूता को व्यर्थ कष्ट मिलने के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ नहीं हो सकता।

प्रसव के पीछे पेड़ू पर हाथ फेरने से गर्भाशय की गाँठ कड़े गेंद की तरह पेड़ू के ऊपर मालूम पड़ती है। यही गाँठ गर्भाशय की सुव्यवस्थिति से धीरे-धीरे पिघल कर दस-बारह दिनों में कोमल बन जाती है। फिर वहाँ हाथ फेरने से कूल्हे के अग्रभाग की अस्थि के सिवाय और कोई उँचाई नहीं मालूम होती। प्रसूता को खाट पर सीधी लेटा कर एक ऊनी चद्दरा, कम्बल या विशेष शीत का समय हो तो रज़ाई ओढ़ा देना चाहिए। अधिक बोझ

लादने की आवश्यकता नहीं। ओढ़ाने की चीज़ें गले या छाती तक रखनी चाहिए, जिससे मुँह खुला रहे और श्वास-प्रश्वास में कठिनाई न हो। इसके बाद ज़च्चा के आहार की फ़िक्र करनी चाहिए।

भारत एक बड़ा देश है। इसमें अनेक प्रान्त हैं और उन सब में ज़च्चा के आहार की भिन्न-भिन्न प्रथाएं प्रचलित हैं। नैपाल में अब भी बच्चा पैदा होने के बाद शीघ्र ज़च्चा को बकरा मार कर उसका ताज़ा रक्त पिलाते हैं। इसी तरह बङ्गाल में मछली का व्यवहार होता है। परन्तु यहाँ इन सबका विस्तृत विवरण न देकर केवल तात्विक रूप से भोजन के गुणावगुण का विवेचन किया जायगा। सुश्रुत का मत है कि खरेंटी आदि के तैल की मालिश करनी चाहिए और वातघ्न औषधियों के क्वाथ से प्रसूता के अङ्ग धोना चाहिए। यदि रक्त अच्छी तरह गिर कर ठीक न हुआ हो तो ज़च्चा को पीपल, पीपरामूल, गजपीपल, चित्रक अथवा सोंठ के चूर्ण को गरम-गरम गुड़ के काढ़े के साथ पिलाना चाहिए। जब तक गर्भाशय शुद्ध न हो तब तक दो या तीन दिन तक इसी प्रकार करता रहे। गर्भाशय के शुद्ध हो जाने पर बिदारीकन्द आदि पौष्टिक द्रव्यों और घी-दूध से मिली हुई यवागू (एक प्रकार का मीठा पतला दलिया) तीन दिन तक पिलानी चाहिए। यह तो हुई सुश्रुत की बात, किन्तु नवीन चिकित्सक लोग कुछ

और ही कहते हैं। उनकी आज्ञा है कि प्रसूता को चाय, गरम दूध, चिऊड़ा, भात, खिचड़ी, शोरवा आदि खिलाना चाहिए। नवीन चिकित्सकों ने यह व्यवस्था देते समय, ऐसा प्रतीत होता है, दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। प्राचीन आचार्यों ने तैल या घृतयुक्त पथ्य देने का कारण बताया है। शरीर के स्नेह-शून्य होने से वायु का प्रकोप होने का भय रहता है और शरीर की रुक्षता के कारण रक्त न गिरने से गर्भाशय में रोग होने का भय रहता है। इसी कारण उन्होंने घृत या घृत मिली चीज़ों के खिलाने की विशेष आज्ञा दी है। मांस-रस के विषय में वे स्पष्ट कहते हैं कि—जब तक १२ दिन न बीत जाँय तब तक मांस का उपयोग न करना चाहिए। वे जब तक मांस खाना उचित नहीं समझते तब तक भात देना भी स्वीकार नहीं करते। हमारी सम्मति भी यही है कि प्रसूता को तत्काल मांस-रस, भात, चाय आदि रुक्ष पदार्थ कभी नहीं देना चाहिए।

कुछ विषय-लोलुप लोग शीघ्र योनि-सङ्कोचन, अपरा-यातन और प्रगाढ़ निद्रा के लिए पीने और योनि को धोने में शराब का उपयोग करते हैं। यह वास्तव में प्रसूता के ऊपर भीषण अत्याचार करना है। शराब का गुण रुक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण होने के कारण वह प्रसूता के लिए सर्वथा विपरीत है। प्रसूता के लिए सबसे अच्छी भोजन व्यवस्था यह है— दो या तीन दिनों तक शुण्ठीपाक, बादामपाक, बादाम

लादने की आवश्यकता नहीं। ओढ़ाने की चीज़ें गले या छाती तक रखनी चाहिए, जिससे मुँह खुला रहे और श्वास-प्रश्वास में कठिनाई न हो। इसके बाद ज़च्चा के आहार की फ़िकर करनी चाहिए।

भारत एक बड़ा देश है। इसमें अनेक प्रान्त हैं और उन सब में ज़च्चा के आहार की भिन्न-भिन्न प्रथाएं प्रचलित हैं। नैपाल में अब भी बच्चा पैदा होने के बाद शीघ्र ज़च्चा को बकरा मार कर उसका ताज़ा रक्त पिलाते हैं। इसी तरह बङ्गाल में मछली का व्यवहार होता है। परन्तु यहाँ इन सबका विस्तृत विवरण न देकर केवल तात्विक रूप से भोजन के गुणावगुण का विवेचन किया जायगा। सुश्रुत का मत है कि खरेंटी आदि के तैल की मालिश करनी चाहिए और वातघ्न औषधियों के क्काथ से प्रसूता के अङ्ग धोना चाहिए। यदि रक्त अच्छी तरह गिर कर ठीक न हुआ हो तो ज़च्चा को पीपल, पीपरामूल, गजपीपल, चित्रक अथवा सोंठ के चूर्ण को गरम-गरम गुड़ के काढ़े के साथ पिलाना चाहिए। जब तक गर्भाशय शुद्ध न हो तब तक दो या तीन दिन तक इसी प्रकार करता रहे। गर्भाशय के शुद्ध हो जाने पर विदारीकन्द आदि पौष्टिक द्रव्यों और घी-दूध से मिली हुई यवागू (एक प्रकार का मीठा पतला दलिया) तीन दिन तक पिलानी चाहिए। यह तो हुई सुश्रुत की बात, किन्तु नवीन चिकित्सक लोग कुछ

और ही कहते हैं। उनकी आज्ञा है कि प्रसूता को चाय, गरम दूध, चिऊड़ा, भात, खिचड़ी, शोरवा आदि खिलाना चाहिए। नवीन चिकित्सकों ने यह व्यवस्था देते समय, ऐसा प्रतीत होता है, दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। प्राचीन आचार्यों ने तैल या घृतयुक्त पथ्य देने का कारण बताया है। शरीर के स्नेह-शून्य होने से वायु का प्रकोप होने का भय रहता है और शरीर की रुक्षता के कारण रक्त न गिरने से गर्भाशय में रोग होने का भय रहता है। इसी कारण उन्होंने घृत या घृत मिली चीज़ों के खिलाने की विशेष आज्ञा दी है। मांस-रस के विषय में वे स्पष्ट कहते हैं कि—जब तक १२ दिन न बीत जाँय तब तक मांस का उपयोग न करना चाहिए। वे जब तक मांस खाना उचित नहीं समझते तब तक भात देना भी स्वीकार नहीं करते। हमारी सम्मति भी यही है कि प्रसूता को तत्काल मांस-रस, भात, चाय आदि रुक्ष पदार्थ कभी नहीं देना चाहिए।

कुछ विषय-लोलुप लोग शीघ्र योनि-सङ्कोचन, अपरा-पातन और प्रगाढ़ निद्रा के लिए पीने और योनि को धोने में शराब का उपयोग करते हैं। यह वास्तव में प्रसूता के ऊपर भीषण अत्याचार करना है। शराब का गुण रुक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण होने के कारण वह प्रसूता के लिए सर्वथा विपरीत है। प्रसूता के लिए सबसे अच्छी भोजन व्यवस्था यह है—दो या तीन दिनों तक शुण्ठीपाक, बादामपाक, बादाम

का हलुवा और यवानी (अजवायन) पाक, फिर दलिया और दूध तथा दस-बारह दिन बाद रोटी-दाल का सेवन करना चाहिए। साधारणतः स्वस्थ अवस्था में इसी क्रम का अनुसरण करना चाहिए। विशेष अवस्था में व्याधि और रोगिणी की प्रकृति पर ध्यान रखते हुए विशेष प्रबन्ध किया जा सकता है। परन्तु इस विशेष प्रबन्ध में भी कोई रूक्ष पदार्थ नहीं दिया जा सकता। पीने के लिए १० दिनों तक ठण्ढा पानी न देना चाहिए। पानी को उबाल कर देना चाहिए। यदि यह पानी रुचिकर न प्रतीत हो तो इसमें उबालते समय पीपलामूल या अजवायन डाल सकते हैं।

आहार के बाद प्रसूता की दूसरी बड़ी आवश्यकता है गाढ़ी नींद। जिस घर में वह रहती हो वहाँ किसी प्रकार का कोलाहल और भीड़भाड़ न होनी चाहिए। इस देश में जब पहले-पहल किसी के लड़का होता है तो वहाँ आनन्द की सीमा नहीं रहती। स्त्रियाँ रोज़ गान करती हैं। द्वार पर बाजे बजते हैं। हित-मित्रों के यहाँ से बधाइयाँ आती हैं और अच्छी ख़ासी भीड़ लगी रहती है। हम आनन्द और उत्सवों के विरुद्ध नहीं हैं, पर प्रसूता का मङ्गल चाहने वालों को उसकी नींद में किसी भी प्रकार का ख़लल नहीं डालना चाहिए। हमारे यहाँ प्रसव के चार-पाँच दिन बाद तक प्रसूता और बच्चे को अन्धकारपूर्ण घर में रखने की प्रथा है। इसे आजकल के शिक्षित लोग एक जङ्गली प्रथा

समझते हैं। परन्तु वास्तव में इससे बड़ा लाभ है। अँधेरे में ज़च्चा को गाढ़ी नींद आती है और बच्चे के नेत्र शनैः-शनैः बल लाभ करते हैं। जाड़े के दिन हों और ठण्ढक अधिक पड़ रही हो तो कमरे को गरम रखने के लिए दरवाज़े के बाहर कोयले की अँगीठी रख सकते हैं। भीतर अँगीठी रखने से कमरे के भीतर दूषित वायु फैलकर स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाता है।

कभी-कभी पहली या दूसरी बार बच्चा होने के पीछे भी रुक-रुक कर पेड़ू में दर्द हुआ करता है। यह दर्द लगभग एक सप्ताह तक होता है। अशुद्ध रक्त की गाँठें बनकर जब गर्भाशय-मुख से निकलने लगती हैं तब यह दर्द पैदा होता है। इसमें नाभि, पेड़ू और पेट में शूल हुआ करता है, सुई सी चुभती है, पेट में फटने और चीरने के समान पीड़ा होती है, पेट में अफरा होता है और मूत्र रुक जाता है। ये सब लक्षण मक्कल शूल के हैं। इसी की व्याख्या में डल्लन ने लिखा है कि प्रसूति के दूषित रक्त द्वारा जो शूल पैदा होता है उसे मक्कल कहते हैं।

इसके दो भेद हैं। पहला साधारण जोकि थोड़ी देर कष्ट देता है और रक्त-ग्रन्थि निकल जाने पर शान्त हो जाता है; दूसरा असाधारण जोकि बहुत समय तक रह कर और रोगों को पैदा करता है।

नवीन चिकित्सक साधारण शूल की उपेक्षा करते हैं,

और कहते हैं कि गर्भाशय-गाँठ के सङ्कोच के कारण यह शूल उत्पन्न होता है। इसमें डरने की कोई बात नहीं, इसका परिणाम लाभप्रद है। इस दर्द के साथ रक्त निकलता है जिससे गर्भाशय की शुद्धि होती है। परन्तु गाँठों के न निकलने पर पीड़ा अधिक होती है और वे गाँठें भीतर फूट कर रोगों की उत्पत्ति करती हैं। पीड़ा चिरस्थायी होकर बढ़ने के लक्षण दिखाई दें तो किसी योग्य चिकित्सक को दिखाना चाहिए।

नालच्छेदन कर्म

साधारणतः बालक के बाहर आने के १५-२० मिनट बाद तक आँवल (खेड़ी) की प्रतीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि गर्भ में यदि दूसरा बालक होता है तो वह थोड़ी ही देर बाद बाहर आ जाता है। परन्तु इसके लिए किसी भी हालत में बीस मिनट से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। अब बालक के नाल को नाभि से लगभग ३ अङ्गुल दूर किसी सूत या फीते से कस कर बाँध देना चाहिए, जिससे रक्त का आना-जाना बन्द होजाय। इसी प्रकार इस बन्धन से दो अङ्गुल आगे हट कर अर्थात् बालक की नाभि से पाँच अङ्गुल पर एक और बन्धन बाँधना चाहिए और दोनों बन्धनों के बीच में नाल को शीघ्रतापूर्वक किसी तेज़ शस्त्र से काट देना चाहिए। बन्धन मज़बूत डोरे से ठीक-ठीक बँधे रहने के कारण बालक या प्रसूति किसी की ओर से भी

अधिक रक्त नहीं निकलने पाता। दूसरे बन्धन से यह भी एक लाभ है कि यदि गर्भ में दूसरा बालक हो तो उसे हानि पहुँचने की आशङ्का नहीं रहती। नालच्छेदन कर्म में इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए कि काटने का शस्त्र तीक्ष्ण और काटने वाली चुस्त तथा चालाक हो। हम लोगों के यहाँ रिवाज़ सा चल पड़ा है कि नाल काटने के लिए बूढ़ी चमारिन बुलाई जाती है। ये अशिक्षिता और मूर्खा तो होती ही हैं, बुढ़ापे के कारण इनकी आँखें भी कम देखती हैं और हाथ काँपते हैं; काटने वाला शस्त्र भोथड़ा होता है। फल यह होता है कि नाल काटने में देर लगती है और अधिक ख़ून निकल जाता है, जिसके कारण अनेक बच्चे जन्मते ही परलोक सिधार जाते हैं।

यदि उत्पन्न हुआ बालक अधिक दुर्बल मालूम पड़े तो बन्धनों के बाँधने के पहले प्रसूता की योनि के पास नाल को बाएँ हाथ से पकड़ कर दाहिने हाथ से, जैसे दूध दुहते हैं उसे धीरे-धीरे सूथते हुए उसी प्रकार बालक की नाभि के पास लाना चाहिए और उसी तरह पकड़े हुए उचित स्थानों पर बन्धन बाँध देना चाहिए। ऐसा करने से नाल का समस्त रक्त बालक के शरीर में आ जाता है और उसकी सुस्ती और क्षीणता कम हो जाती है। बहुत लोगों का विचार है कि आँवल निकलने के पहले नाल काट देने से बालक और माता दोनों के प्राणों

का भय रहता है। परन्तु इस भय का कोई कारण नहीं दीखता। यदि आँवल १५-२० मिनट में निकल गया तो अच्छा है। उस दशा में केवल बालक की ओर का एक बन्धन बाँध कर ही उसके आगे नाल को काट सकते हैं। यदि आँवल न निकले तो काटने के स्थान के आगे माता की ओर का दूसरा बन्धन भी बाँध देना चाहिए। ऐसा करने से बालक या प्रसूता किसी को भी कोई हानि नहीं पहुँच सकती। परन्तु जब तक बालक भलीभाँति श्वास न लेने लगे, तब तक नाल कदापि नहीं काटना चाहिए। यह भूल भयङ्कर है। बालक के कटे हुए नाल पर घी में हल्दी घोट कर दिन में दो-तीन बार लेप करने से नाल न तो पकता है, न पीड़ा करता है, वरन् शीघ्र ही सूख जाता है।

जब तक गर्भ माता के पेट में रहता है, तब तक इसी नाल के द्वारा माता का शोणित जाकर भ्रूण का पोषण करता है। उस रक्त की शुद्धि माता के फुफ्फुसों में होती है। मातृगर्भ से निकल कर सांसारिक वायुमण्डल में प्रवेश करते ही बालक के श्वास-यन्त्र अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं और यदि मुख, नासिका आदि से सञ्चित कफ हटा दिया जाय, जिसे शीघ्र हटा देना बहुत ही आवश्यक है, तो वह भली-भाँति श्वास लेने और छोड़ने लग जाता है। इस प्रकार जब बालक के फुफ्फुसों में ही रक्त-शुद्धि

होने लगती है तब माता के शरीर से रक्त-सञ्चार का सम्बन्ध रहना व्यर्थ और हानिकारक हो जाता है। गर्भ के आधार-स्वरूप इस नाल को काटने में बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

आँवल-अवरोध

बालक उत्पन्न होने के आध घण्टे से लेकर एक दिन बाद तक आँवल बाहर निकलता है। यदि वह स्वयं बाहर न निकले तो उसको निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके विलम्ब तक गर्भाशय में लगे रहने से प्रसूता का पेट फूल जाता है और नाना प्रकार के उपद्रव उठ खड़े होते हैं। इन उपद्रवों से स्त्री की मृत्यु तक सम्भव है। स्त्री के मरने पर बच्चा भी जीवित नहीं रह सकता। आँवल गर्भाशय के ऊपरी भाग में लगा रहता है और बालक की उत्पत्ति के थोड़ी देर पीछे बाहर आ जाता है। यदि उसके निकलने में अधिक विलम्ब होने लगे तो समझना चाहिए कि किसी कारण से वह रुक गया है। प्रसव-कारक प्रयोगों तथा निम्नलिखित योगों के देने से वह बाहर निकल जाता है। यदि इनके द्वारा सफलता प्राप्त न हो तो योनि में हाथ डाल कर आँवल को धीरे-धीरे खींच कर बाहर निकालना चाहिए। ज़ोर से खींचने से उसका कोई अंश टूट कर गर्भाशय में रह जा सकता है। इस अवशिष्ट अंश से प्रासेराटा नामक रोग उत्पन्न होता है, जिससे प्रसूता

स्त्री की मृत्यु हो जाती है। बालकोत्पत्ति के १०-१५ मिनट पीछे स्वभावतः प्रसूता के पेट में पीड़ा उठती है और आँवल छूट कर गर्भाशय से बाहर आ जाता है। कभी-कभी गर्भाशय से छूट कर योनि के मुख पर भी आ रुकता है। इस दशा में हाथ डाल कर उसे सरलता-पूर्वक बाहर निकाल सकते हैं। यदि न निकले तो निम्नलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए :—

(१) काले साँप की केंचुली, सरसों, तिक्तलौकी के बीज और तिक्त नेनुआँ के बीजों को बराबर भाग में कूट कर तैयार करे। उसमें थोड़ा कड़ुवा तेल मसल कर निर्धूम अग्नि में डाल कर योनि में धूप देवे, इससे तुरन्त आँवल गिर जाता है।

(२) तर्जनी उँगली में बाल लपेट कर उससे प्रसूता स्त्री के गले के भीतर धीरे-धीरे रगड़ने से उसे उबकाई आती है। इससे पेट के ऊपर ज़ोर पड़ता है और आँवल तुरन्त बाहर निकल आता है।

(३) बिना चेतावनी दिए कान के पास बन्दूक़ का शब्द करने से आँवल बाहर आ जाता है।

प्रसूति के पीछे तीन सप्ताह तक योनि से रक्तस्राव होता रहता है। इस रक्त का रङ्ग और परिमाण क्रमशः बदलता रहता है। प्रथम दो-तीन दिनों तक लाल रङ्ग का रक्त अधिक मात्रा में आता है, जिससे कपड़े बार-बार तर हो जाते हैं
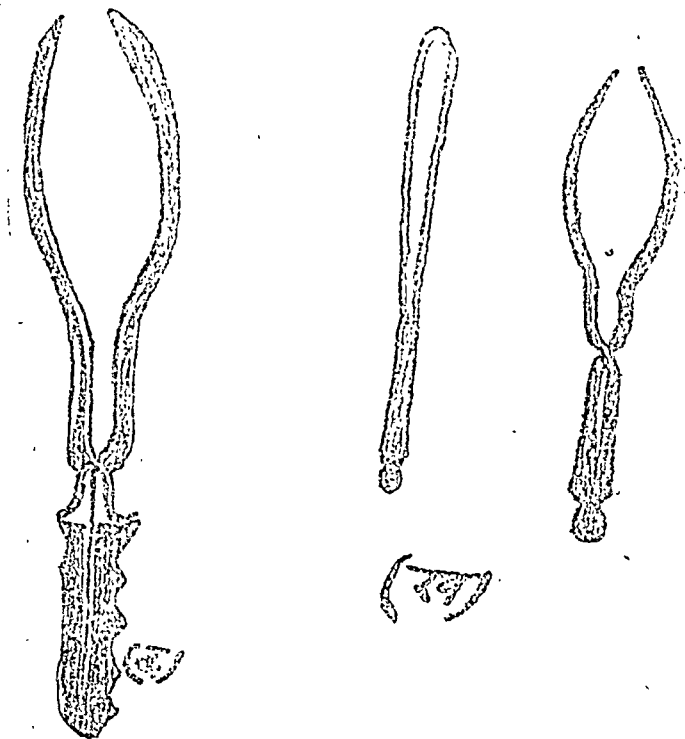
फ़सेंप्स या शङ्कुयन्त्र

(क) डॉक्टर सिमसन द्वारा आविष्कृत फ़सेंप्स

(ख) डॉक्टर जिगलार द्वारा आविष्कृत फ़सेंप्स

और १०-१५ बार तक मैला कपड़ा बदलना पड़ता है। फिर उसका रङ्ग हलका पड़ता है। पर तरलता अधिक होती है। पाँचवें-छठे दिन केवल दो बार मैला कपड़ा बदलना पड़ता है। नवें दिन रक्त का रङ्ग नीला हो जाता है और उसमें जी मिचलाने वाली खट्टी गन्ध आती है। इसके बाद हलका गुलाबी रङ्ग आते-आते ख़ून बन्द हो जाता है।

इस क्रिया में कभी-कभी तीन सप्ताह से न्यूनाधिक समय भी लगता है। मृतवत्सा स्त्रियों को (जिन्हें मरा हुआ बालक उत्पन्न हुआ हो या होते ही तत्काल मर गया हो) कम समय लगता है। यदि रक्त एकाएक बन्द हो जाय तो इसे अशुभ का लक्षण समझना चाहिए और शीघ्र किसी वैद्य से परामर्श लेना चाहिए।

रक्तस्राव की अवस्था में शुद्धता पर अधिक ध्यान देना चाहिए। कपड़ा बदलते समय रक्त से भीगे हुए स्थान को गरम जल में कपड़ा या स्पञ्ज भिगा कर उससे धो देना चाहिए और सूखे कपड़े से जल पोंछ कर अच्छी तरह सुखा देना चाहिए। सफ़ाई करते समय जिस रुई या कपड़े से काम लिया जाय उसे सफ़ाई कर चुकने के बाद फेंक देना चाहिए। उसको धोकर दुबारा काम में लाना उचित नहीं है। सफ़ाई करने वाली को भी तुरन्त साबुन से अपना हाथ अच्छी तरह धो लेना चाहिए।

धोए जाने वाले स्थान पर यदि पीड़ा मालूम हो तो उसे एरण्ड के पत्ते या ख़स की डोडी से उबाले हुए जल से धीरे-धीरे धोना चाहिए और सुखा कर उसके ऊपर थोड़ा सा नारायण तैल लगा देना चाहिए।

योनि के भीतरी भागों की गन्दगी और प्रसूति के बाद होने वाले रक्तस्राव के वात-दूषित होने के कारण योनि में पीड़ा होती है। इस पीड़ा को दूर करने के लिए एक टोंटीदार जलपात्र में हलका गरम जल लेकर उसमें थोड़ा सा परमैंगनेट पुटाश डालकर उसे हलके गुलाबी रङ्ग का बना लेना चाहिए और इस जल से योनि-मार्ग को धोना चाहिए। इसके स्थान में हलका दशमूल का क्वाथ (चौथाई बाक़ी रक्खा हुआ) भी बरता जा सकता है। इस जलपात्र की नलिका का मुख गर्भ-द्वार के बग़ल में किसी योनि-पटल के भीतर लगा कर धोते हैं। इससे जो जल गिरता है, वह योनि को धोकर शीघ्र ही बाहर निकल आता है। धोने में रबर की हिगिन्सन्स पिचकारी कभी काम में नहीं लानी चाहिए।

बालक पैदा होने के अधिक से अधिक छः घण्टे बाद प्रसूता को स्वयं पेशाब होता है। यदि पेशाब न हो और मूत्राशय में भार मालूम पड़े तो प्रसूता को अपनी हथेली पेड़ू के नीचे रख कर धीरे-धीरे दबाना चाहिए। इससे प्रायः पेशाब हो जाया करता है। इस रीति से भी पेशाब

न उतरे और उसका वेग मालूम होता रहे तो दो उपचारिकाओं को प्रसूता को सहारा देकर किसी करवट लिटाकर वस्ति-स्थान को सुघराते हुए उसे पेशाब करने को कहना चाहिए। इतने पर भी मूत्र न निकले तो सलाई (कैथेटर) डालकर निकालना चाहिए।

बालकोत्पत्ति के दूसरे दिन प्रसूताओं को स्वयं दस्त आता है। यदि दस्त न आवे तो गरम दूध के साथ थोड़ा सा अरण्डी का तेल अथवा घी के साथ दशमूल का गरम-गरम क्वाथ पिलाने से विना कष्ट के दस्त खुल कर आ जाता है।

स्त्री और बच्चे का स्वास्थ्य कैसा है, इस पर दृष्टिपात किए बिना ही हम लोग आँख मूँद कर पाँचवें, सातवें या ग्यारहवें दिन उन्हें स्नान करा देते हैं। ऐसा करना किसी भी हालत में उचित नहीं कहा जा सकता। स्नान कराने के पहले उनके शरीर की दशा अच्छी तरह देख लेनी चाहिए। यदि वे रोगग्रस्त और निर्बल हों तो स्नान न करा कर केवल मलिनता दूर करने के लिए गरम पानी में तौलिया निचोड़ कर शरीर को पोंछना और वस्त्र बदल देना चाहिए। यदि उनका स्वास्थ्य अच्छा हो और वे शीतोष्ण सहन करने के योग्य हों तो पाँचवें दिन के बाद उन्हें नित्य स्नान करा सकते हैं। स्नान अधिकतर गरम जल से ही कराना उचित है। प्रसव-काल में विलम्ब या

प्रथम बार प्रसव होने के कारण प्रसूता की जननेन्द्रिय में कुछ शोथ, दर्द और भारीपन मालूम पड़ता हो तो उसे टब में नाभि-पर्यन्त दशमूल का कुनकुना क्वाथ भर कर बैठाना चाहिए। कुछ लोग उक्त क्वाथ के बदले गरम जल में शराब मिला कर काम में लाते हैं। इससे दर्द, शोथ और भारीपन दूर होकर योनि शीघ्र सङ्कुचित हो जाती है। प्रसूता की बलरक्षा के लिए उसे निम्न-लिखित रीति से दूध पकाकर पिला सकते हैं :—

(१) पीपल, सोंठ, छोटी इलायची और बड़ा गोखुरू, प्रत्येक एक-एक माशा, छुहारे और बादाम के बीज दो-दो माशे, गाय का दूध और पानी एक-एक सेर। बादाम के बीज के सिवाय अन्य सब औषधियों को बिना कूटे ही एक वस्त्र में पोटली बाँध कर दूध और पानी में पका ले। दूध मात्र शेष रहने पर उतार कर पोटली को अलग करके छान ले और बादाम को बारीक पीस कर उसमें घोल दे। यह दूध प्रसूता को थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए।

(२) दो तोले अजवायन जल में महीन पीस कर घी में भून ले। गोदुग्ध में उक्त अजवायन और पुराना गुड़ मिलाकर पकावे। इस दूध को थोड़ा-थोड़ा करके प्रसूता को पिलाना चाहिए।

जब बालक गर्भ से बाहर आता है, तब बाहरी वायु के स्पर्श से उसके शरीर की गरमी घटने लगती है। इस

गरमी के अकस्मात् घट जाने से वात-जन्य रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए गर्भ से बाहर होते ही बालक को एक साफ़ वस्त्र में लपेट देना चाहिए। इससे शरीर की गरमी बाहर नहीं निकलने पाती। स्वच्छ रूई को गरम जल में भिगो कर बालक की पलकों को पोंछ देना चाहिए और उसके मुख में मधु, घृत और ब्राह्मी डालकर उसे सुला देना चाहिए। थोड़ी देर सो जाने से शीत लगने का भय जाता रहता है और गर्भवास-सम्बन्धी तथा प्रसव-कालीन कष्ट भी दूर हो जाते हैं। फिर उसे घुटने पर लिटा कर उसके सम्पूर्ण शरीर में धीरे-धीरे तेल की मालिश कर बराबर भाग में मिले हुए दूध और गुनगुने पानी से उसे स्नान कराना चाहिए। स्नान कराते समय यह ध्यान रहे कि उसकी नाभी न भीगने पावे, नहीं तो वह पक जायगी।

बालक की रक्षा के निमित्त सूतिकागृह के द्वार पर बेल, बबूर, ख़ैर, बेर, सेंहुड़, नीम आदि वृक्षों की टहनी टाँग देनी चाहिए। धरती पर चावल, बच और पीली सरसों छिड़क देनी चाहिए। सूतिकागार की शुद्धि के निमित्त हवन कराना चाहिए। सूतिकागार के उत्तर भाग में या प्रसूता की चारपाई से बच, कूट, हींग, सरसों, राई, हलदी, नमक, प्याज़ आदि की पोटलियाँ लटका देनी चाहिए। बालक तथा सूतिका की रक्षा के लिए उसके आत्मीय

जनों को बारह दिनों तक रात्रि में जागरण, मङ्गल गान, स्तोत्र-पाठ तथा मधुर बाजा आदि बजाना चाहिए।

बालक को दूध पिलाने के पहले दूध पिलाने वाली स्त्री की परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्येक स्त्री के स्तनों की बनावट एक जैसी नहीं होती। जिनके स्तन छोटे, हलके, लम्बे और आँचरदार होते हैं, उन्हें बच्चों को दूध पिलाने में कोई असुविधा नहीं होती। परन्तु जिन स्त्रियों के स्तन भारी, ढीले, छोटे आँचर वाले और दूध रहित होते हैं उन्हें बच्चे को दूध पिलाने में बड़ा कष्ट होता है। बच्चे को दूध पिलाते समय उसका शिर अपनी बाँह, किसी गुदगुदे कपड़े या रूई के पतले तकिए पर रखना चाहिए। इस बात पर भी ध्यान रहे कि स्तन का आँचर बालक के मुख में अच्छी तरह आता है या नहीं और स्तन के भार से बालक की नासिका और मुख पर दबाव तो नहीं पड़ता। या कौमार भृत्य के नियम (बालकों के पालन-पोषण करने का कर्म) विरुद्ध तो बालक को न्यूनाधिक दूध नहीं पिलाया जा रहा है।

तीन-चार मास के किसी बालक को थोड़ी देर स्तन-पान कराने या आँचर को पकड़ कर धीरे-धीरे खींचने से छोटे आँचर बढ़ कर बड़े हो जाते हैं। आँचर को बढ़ाने का एक और भी उपाय है, परन्तु यह कुछ लोगों को असुविधाजनक प्रतीत होगा। एक काँच के बोतल में

खौलता हुआ गरम पानी भर कर बोतल को उलट देना चाहिए। जब बोतल का पानी निकल जाय तब उसके मुख में स्तन के आँचर को लगा कर उसे ठण्ढा होने देना चाहिए। ज्यों-ज्यों बोतल ठण्ढी होगी त्यों-त्यों आँचर का मुँह बोतल के भीतर की ओर खिंचेगा। इस खिंचाव से आँचर बढ़ कर बालक के पीने योग्य हो जायगा। बालक को स्तनपान कराना एक स्वाभाविक कृत्य है। इससे प्रसूता के स्तन हलके पड़ जाते हैं और उसका मन प्रसन्न होता है। इस प्रसन्नता का स्वास्थ्य के ऊपर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। बच्चे को दूध न पिलाने से स्तनों में दूध भरा रहता है, जिससे बहुत-सी बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

बालक को स्तनपान कराने के पूर्व और पश्चात् आँचर को गरम जल से धो लेना चाहिए। भोजन के पात्रों तथा खाद्य पदार्थों की मलिनता जिस प्रकार मनुष्यों का स्वास्थ्य नष्ट कर देती है उसी प्रकार स्तन को मैला रखकर दूध पिलाने से बालकों का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। बालक को स्तनपान कराते समय माता का मन शान्त और विचार शुद्ध रहना चाहिए। इससे दूध पवित्र और सात्विक होता और उचित मात्रा में बहता है। जो माताएँ ऐसा नहीं करतीं वे अज्ञानवश अपने बच्चों का भयङ्कर अनिष्ट करती हैं। माता की मानसिक अवस्था का असर

उसके दूध पर पड़ता है और दूध का असर बच्चे के जीवन पर।

प्रसूता को किसी कारणवश दूध कम आता हो तो निम्न-लिखित उपायों से वह बढ़ाया जा सकता है। परन्तु ये उपाय उसी समय सफल होते हैं जब माता के मन में किसी प्रकार की वेदना या चिन्ता का वास न हो।

(१) एरण्ड के पत्तों पर एरण्ड का ही तैल चुपड़ कर गरम करके उसे स्तनों पर बाँधना चाहिए।

(२) एरण्ड के पत्तों की पुल्टिस को थोड़ा-थोड़ा गरम करके उसे स्तनों पर बाँधनी चाहिए।

(३) सतावरी का ताज़ा रस दो तोले अथवा उसी का काढ़ा पाँच तोले और गरम दूध १० तोले दोनों को मिला कर पिलाना चाहिए।

(४) सफ़ेद ज़ीरा पीस कर डेढ़ या २ माशे की मात्रा में खिला कर ऊपर से कच्चा दूध पिलाना चाहिए।

प्रसूता को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने बालक को, उसके स्वास्थ्य और पाचन के अनुसार दूध पिलावे। हमारे देश के दुर्भाग्य से, हमारी माताओं को इन नियमों का ज्ञान नहीं होता और वे समय-असमय का कुछ भी ख़याल न रख जब चाहती हैं तभी थोड़ी-थोड़ी देर में अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं। उन्हें पता नहीं रहता कि बालक कितना दूध पी सकता है और कितना

दूध कितनी देर में पचा सकता है। इसका फल यह होता है कि बहुत से बालक कफ, खाँसी, दस्त, वमन, अजीर्ण, पेट-दर्द, पसुली (डिब्बा) और यकृत् के रोगों से सदैव पीड़ित रहते हैं। बालक की प्रकृति जितनी कोमल होती है उतनी ही आसानी से वह बीमार भी पड़ सकता है।

बहुत सी माताओं को प्रसवकष्ट-जनित दुर्बलता के कारण क्षय का रोग हो जाता है। परन्तु इसके लक्षण ऐसे गुप्त होते हैं कि सर्वसाधारण को रोग का पता भी नहीं लगता और बच्चे तथा माँ का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। क्षय वाली स्त्री को पतला और अधिक परिमाण में दूध उतरता है। दूध की अधिकता देखकर स्त्रियाँ अपना सौभाग्य समझती हैं और बालकों को ख़ूब दूध पिलाती हैं। ऐसी अवस्था का दूध पिलाना बालक और प्रसूता दोनों के हक़ में बहुत बुरा होता है। जब साधारण आहार करते-करते प्रसूता को अधिक दूध आने लगे तो उसके दूध की अणुवीक्षण यन्त्र से या साधारण दृष्टि से अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। क्षयांश-वाली प्रसूता का दूध अधिक पतला होता है और थोड़ी देर शीशी में पड़ा रहने से हलके नीले रङ्ग के पानी सा दिखाई देता है। ऐसे दूध में कोई पौष्टिक पदार्थ नहीं रहता, इसलिए उस दूध से बालक पुष्ट न होकर रोगी होता चला जाता है। क्षय में जब रस-धातु दूषित होता है तब रस का मल दूध भी दूषित और तरल हो जाता है।

क्षय के कारण दुग्धाशय के दूषित होने से वह तरल दूध अधिक देर तक रोके नहीं रुकता, अतः बालक को स्तन-पान कराने के पहले दूध की परीक्षा कर लेनी चाहिए।

बालकोत्पत्ति के उपरान्त जब तक पुनः मासिक स्राव आरम्भ न हो तब तक स्त्री को प्रसूता कहते हैं। प्रसव के पश्चात् १½ मास से लेकर ४ मास तक प्रसूता का समय रहता है। पर जिन स्त्रियों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता अथवा जिनके स्तनों में अधिक दूध उत्पन्न होता है, उन्हें एक-एक साल के बाद मासिक स्राव आरम्भ होता है। साधारणतः प्रसूता का काल ४ मास तक माना गया है। इस अवधि में निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए :—

प्रसूता स्त्री को साठी अथवा पुराने चावलों का भात, गेहूँ की रोटी, ऊड़द और चने का पानी, गाय और बकरी का दूध, सोंठ, गुड़, प्याज़, कोमल बैंगन तथा उष्ण और कफ-वातनाशक पदार्थों का सेवन करना चाहिए। दीपन और पाचन औषधियों का सेवन, शरीर में प्रतिदिन वात-नाशक तेल का मर्दन और बफ़ारा लेना भी हितकारक है। अधिक परिश्रम, शीतल पदार्थों का सेवन, ठण्ढ में रहना या काम करना, गरिष्ठ भोजन, मैथुन, शोक, चिन्ता आदि करना और मल-मूत्र आदि वेगों का रोकना हानिकारक है।

प्रसूता के रोग

काले रक्त की नाड़ियों में रक्त का जमना और लोथड़े का अटकना

यह रोग प्रायः प्रसव के चार-पाँच दिनों बाद गर्भाशय, पेड़ू या जाँघों की नाड़ियों में उत्पन्न होता है। रक्त-स्राव के कारण शरीर से अधिक रक्त निकल जाने पर नाड़ियों में रक्त-प्रवाह का वेग बहुत मन्द हो जाता है। इससे रक्त जम कर उसके लोथड़े नाड़ियों में अटक जाते हैं। विशेष प्रकार के ज्वर, प्रसूता-विष और छूतदार विष के भी रुधिर में प्रवेश करने पर लोथड़े उत्पन्न हो जाते हैं। छूतदार विष वाले लोथड़े कई टुकड़ों में विभक्त

होकर छोटी-छोटी नाड़ियों में चले जाते हैं और उनमें रक्त-का आना-जाना बन्द कर देते हैं।

कई प्रसूता स्त्रियों को बच्चे के सुगमतापूर्वक उत्पन्न हो जाने और उनका स्वास्थ्य अच्छा रहने पर भी, प्रसव के चार-पाँच दिनों बाद एक प्रकार का ज्वर होता है। इससे उनके रुधिर में प्रसूता-विष प्रविष्ट होकर उक्त रोग की उत्पत्ति कर देता है। जब अधिक रक्त-स्राव के कारण यह रोग उत्पन्न होता है तो प्रसूता मुख खोल कर जल्दी-जल्दी हाँफने लगती है, मुख के ऊपर श्यामता या फीकापन आ जाता है, हृदय की गति तेज़ हो जाती है और घबराहट के साथ मूर्च्छा आती है, नाड़ी निर्बल और अनियमित रूप से चलती है तथा श्वास-प्रश्वास की क्रिया बढ़ जाने के कारण फेफड़ों में वायु स्पष्ट आता-जाता हुआ दिखाई देता है। यदि यही रोग लाल रक्त की नाड़ियों में उत्पन्न हो तो शीघ्र ही शोथ उत्पन्न होता है और रोगिणी सदा के लिए आँखें बन्द कर लेती है। काले रक्त की नाड़ी में लोथड़े अटकने से मृत्यु इतनी शीघ्र होती है कि कभी-कभी चिकित्सा करने के लिए समय तक नहीं मिलता।

यदि प्रसूता का मुख नीला पड़ गया हो और लक्षण कठिन दिखाई देते हों, तो शीघ्र ही शिरावेध (फ़स्द) खोल देनी चाहिए अथवा रोगी की छाती पर जोंक लगाना चाहिए। खाने के लिए शहद और अदरख के रस के

साथ एक रत्ती मकरध्वज देकर पन्द्रह मिनट बाद मृत सञ्जीवनी सुरा, द्राक्षारिष्ट वा ब्राण्डी पिलानी चाहिए। त्वचा में बीस बूँद ईथर की पिचकारी देने से भी लाभ होता है। यदि प्रसूता पी सके तो उसे एक औन्स "एमोनिया मिक्श्चर" पहली बार एक घण्टे, दूसरी बार १½ घण्टे, तीसरी बार १½ घण्टे, इस प्रकार समय बढ़ाते हुए पिलाना चाहिए। इस प्रकार चिकित्सा करने पर यदि श्वास-कष्ट में कमी और स्वास्थ्य में वृद्धि जान पड़े तो रोगिणी को एक बिस्तर पर लेटा कर पतला दूध-साबूदाना या मुनक्का दूध आदि हलका पथ्य देना चाहिए। काले रक्त की भाँति लाल रक्त की नाड़ियों में भी ख़ून जम कर लोथड़े अटक जाते हैं। यह रोग विशेषतः हृदय की निर्बलता के कारण होता है। जाँघ, भुजा और मस्तक की नाड़ियों में अधिकतर लोथड़े अटकते हैं। जिस स्थान पर लोथड़े अटक जाते हैं उसके आगे रक्त का जाना बन्द हो जाता है और उसके ऊपर नाड़ी तड़पती हुई नज़र आती है। कष्ट भी उसी स्थान-विशेष पर होता है। जिस अङ्ग में यह रोग होता है वह शीतल और शून्य हो जाता है, उसका कार्य बन्द हो जाता है और वह कभी-कभी सूज भी जाता है। रोगिणी के तरुण और बलवती होने पर सम्भव है रुग्ण स्थान मुरदार न हो। यदि प्रसूता के शरीर का कोई भाग शून्य (मुरदार) हो जाय या उसमें सड़न उत्पन्न होने

लगे तो समझ लेना चाहिए कि किसी लाल या काले रक्त की नाड़ी में रक्त जम गया है या लोथड़ा अटक गया है। इसका अन्त बहुत दुखदाई होता है। अतः उस इन्द्रिय को काट कर निकाल दिया जाय तो अच्छा है।

यदि रोग हाथ या पाँव में हो तो उसे ऊँचा उठा कर रखना चाहिए। रुग्ण अङ्ग को सदा गरम जल या फ़लालैन के द्वारा गरम रखना चाहिए। दर्द को दूर करने के लिए अफ़ीम दे सकते हैं। पौष्टिक औषधियों और बलवर्द्धक लघु पथ्य के द्वारा शरीर में बल बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। स्वास्थ्य के नियमों के पालने पर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिए।

श्वेतपद रोग

इस रोग में कभी एक और कभी दोनों पैर सफ़ेद और चमकदार होकर सूज जाते हैं। त्वचा में इतना तनाव होता है कि उँगली से दबाने पर उसमें थोड़ा भी गढ़ा नहीं होता।

यह रोग रक्त में प्रसूता-विष के प्रवेश करने या लोथड़ा अटकने, रक्त के जम जाने, गर्भाशय में अर्वुद पैदा होने या क्षय-रोग के कारण उत्पन्न होता है। इसमें बहुत भयानक पीड़ा होती है, जो कभी पिण्डली से लेकर पेड़ू तक और कभी कूल्हों से आरम्भ होकर जाँघों और पिण्डलियों तक

फैल जाती है। पीड़ा आरम्भ होने के २४ घण्टे बाद रुग्ण स्थानों के सूज जाने पर दर्द कुछ कम होता है। पीड़ा के अतिरिक्त इसमें बेचैनी, अनिद्रा और घबराहट भी होती है। आरम्भ में कभी-कभी जाड़े के साथ ज्वर आता है। स्त्री का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। रोग के कठिन होने पर नाड़ी निर्बल, तेज तथा अनियमित हो जाती है। उसकी गति प्रति मिनट १०० वा १२० तक होती है। शरीर का तापमान् साधारणतः १०२ से १०३ तक रहता है और सन्ध्या के समय वह और भी अधिक हो जाता है। जीभ मैली, श्वेत तथा चिकनी होती है। प्यास की अधिकता, भूख की कमी और क़ब्ज़ की शिकायत रहती है।

पैर की सूजन प्रायः जाँघों से आरम्भ होकर नीचे की ओर फैलती है। साधारणतया सम्पूर्ण पैर सूजता है, पर कभी-कभी केवल जाँघ ही सूज कर रह जाते हैं। सूजन कभी-कभी पिण्डलियों के बीच से भी आरम्भ होती है और ऊपर जाँघ तथा नीचे पाँव की ओर फैलती है। जाँघ की नाड़ियों में रक्त जम जाता है, जिससे काले रक्त की नाड़ियाँ फूली हुई दिखाई पड़ती हैं। उनके आस-पास का स्थान लाल हो जाता है और उनको छूने या दबाने से दर्द होता है। रोग अधिकतर दाहिने पैर में होता है। कभी एक टाँग के कुछ आरोग्य होते ही ज्वर और गर्मी प्रकट होती है जिससे शीघ्र ही दूसरी टाँग रोगग्रसित हो जाती है।

एक-दो सप्ताह में ये लक्षण धीरे-धीरे कम होने लगते हैं। सूजन के पूर्णतः चले जाने में कई सप्ताह या महीने लग जाते हैं। रोग के अच्छा होते ही यदि चलना-फिरना आरम्भ कर दें या पहले से ही चलते-फिरते रहें, तो यह रोग बार-बार लौटता है। कभी-कभी आरोग्य होने पर शरीर के जोड़ों, जालीदार झिल्लियों तथा गिलटियों में पीव पड़ जाती है। फिर स्त्री क्रमशः दुर्वल और शक्तिहीन होकर मर जाती है। पीड़ा और तनाव को दूर करने के लिए गर्मी पहुँचाना, वातनाशक औषधियों से वफ़ारा देना और गरम-गरम अलसी की पुलटिस बाँधनी चाहिए। पुलटिस को जल्दी-जल्दी बदलना चाहिए और यदि इससे पीड़ा हो तो फ़लालैन को गरम करके ढाँकना चाहिए। गरम जल में पोस्त की डोंडी डालकर उसमें फलालैन को भिगो कर निचोड़ ले और बार-बार सेंकता रहे तो बड़ा लाभ होता है। टाँग को सुखा कर आराम के साथ रखना चाहिए। रोगी का हृदय निर्बल हो तो शक्ति-सञ्चारक औषधियाँ देनी चाहिए। सूतिका-रोग प्रकरण में ऐसी कुछ औष-धियों का वर्णन किया जा चुका है। नित्य-प्रति दशमूल का क्वाथ देना भी लाभदायक है। पथ्य पतला, हलका और स्वादिष्ट होना चाहिए।

प्रसूतोन्माद

यह प्रसव के पीछे स्त्रियों के होने वाला एक प्रकार

एक-दो सप्ताह में ये लक्षण धीरे-धीरे क
हैं। सूजन के पूर्णतः चले जाने में कई सप्त
लग जाते हैं। रोग के अच्छा होते ही यदि च
आरम्भ कर दें या पहले से ही चलते-फिरते
रोग बार-बार लौटता है। कभी-कभी आरो
शरीर के जोड़ों, जालीदार झिल्लियों तथा गिल
पड़ जाती है। फिर स्त्री क्रमशः दुर्बल और
होकर मर जाती है। पीड़ा और तनाव को दूर
गर्मी पहुँचाना, वातनाशक औषधियों से बफ़ार
गरम-गरम अलसी की पुलटिस बाँधनी चाहिए
को जल्दी-जल्दी बदलना चाहिए और यदि
हो तो फ़लालैन को गरम करके ढाँकना चाहिए।
में पोस्त की डोंडी डालकर उसमें फलालैन को
निचोड़ ले और बार-बार सेंकता रहे तो बड़ा
है। टाँग को सुखा कर आराम के साथ रखना
रोगी का हृदय निर्बल हो तो शक्ति-सञ्चारक
देनी चाहिए। सूतिका-रोग प्रकरण में ऐसी
धियों का वर्णन किया जा चुका है। नित्य-प्रति
का क्वाथ देना भी लाभदायक है। पथ्य पतल
और स्वादिष्ट होना चाहिए।

प्रसूतोन्माद

यह प्रसव के पीछे स्त्रियों के होने वाला एक

स्त्री को किसी न किसी उपाय से भोजन अवश्य कराना चाहिए, नहीं तो वह अतीव दुर्बल हो जायगी। यदि वह स्वयं भोजन न करे तो उसकी नाकों में एक रबर की नली लगाकर उसे ज़बरदस्ती दूध, साबूदाना आदि पथ्य खिलाना चाहिए। नींद लाने के लिए शिर में आँवले, धनिया, कद्दू के बीज, बादाम आदि के तेलों की मालिश करनी चाहिए। खोए को घी में भून कर गुनगुना सुहाता हुआ शिर में बाँधने से भी नींद आती है। विरेचन देकर शरीर को ढीला कर देना चाहिए अथवा क्लोरल हैड्रेट १० ग्रेन, ब्रोमाइड ऑफ़ पुटाश २० ग्रेन, पानी १ औन्स, सबकी एक मात्रा बनाकर पिलानी चाहिए। यदि स्त्री इसे मुख से न पी सके तो गुदा द्वारा पेट के भीतर पहुँचाना चाहिए। लोह मिला हुआ मकरध्वज शहद और अदरख के साथ, मालती वसन्त और अभ्रक मक्खन के साथ अथवा च्यवनप्राश और अभ्रक दूध के साथ देने से शरीर में बल आता है और बल आने से रोग स्वतः दूर हो जाता है। रोगिणी को उसकी सन्तान और कुटुम्बियों से दूर रखना चाहिए। यदि हो सके तो दूसरे मनुष्यों को उसकी सेवा करने के लिए नियुक्त करना चाहिए।

प्रसूत ज्वर

यह प्रसूताओं को होने वाला एक भयानक ज्वर है। डॉक्टरों ने सिद्ध किया है कि यह एक संक्रामक रोग है

करने पर बहुत बुरा मानती है। उसके प्रसव सम्बन्धो जल तथा स्तन से दुग्ध आना बन्द हो जाता है। मल कम निकलता है, मूत्र में सफ़ेदी (फ़ास्फ़ेट) अधिक होती है तथा शरीर बहुत दुर्बल होता है।

(२) यह धीरे-धीरे आरम्भ होता है। स्त्री को अकारण शोक और चिन्ता घेर लेती है। धीरे-धीरे क़ब्ज़, शिर में पीड़ा, बेचैनी, अनिद्रा आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। जो स्त्रियाँ अधिक दिनों से बच्चे को दूध पिला रही हों, जो बिना किसी कारण के निर्बल हो गई हों या जिनमें उपरोक्त लक्षण पाए जायँ उन पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। कुछ समय बीत जाने पर हृदय शून्य सा मालूम पड़ता है। स्त्री के मन में अनेक प्रकार के सन्देह और चिन्ताएँ उठती हैं। वह कभी धार्मिक विचारों में मग्न रहती है तो कभी उसे भूत-प्रेतों का भय सताता है। वह कभी एकटक बाँध कर मूर्ति के समान देखती रहती है, न हिलती-डोलती है, न कुछ कहती है। इस उन्माद में उछलना-कूदना, नोचना-खसोटना नहीं होता, किन्तु आत्मघात करने की इच्छा हरदम बनी रहती है। मौक़ा मिलने पर वह आत्मघात करने से नहीं चूकती। भोजन, निद्रा आदि सम्बन्धी लक्षण प्रायः प्रथम प्रकार के लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। ऐसी स्त्री को आँखों से ओझल न होने देना चाहिए, क्योंकि ज़रा सी असावधानी में वह आत्मघात कर ले सकती है।

स्त्री को किसी न किसी उपाय से भोजन अवश्य कराना चाहिए, नहीं तो वह अतीव दुर्बल हो जायगी। यदि वह स्वयं भोजन न करे तो उसकी नाकों में एक रबर की नली लगाकर उसे ज़बरदस्ती दूध, साबूदाना आदि पथ्य खिलाना चाहिए। नींद लाने के लिए शिर में आँवले, धनिया, कद्दू के बीज, बादाम आदि के तेलों की मालिश करनी चाहिए। खोए को घी में भून कर गुनगुना सुहाता हुआ शिर में बाँधने से भी नींद आती है। विरेचन देकर शरीर को ढीला कर देना चाहिए अथवा क्लोरल हैड्रेट १० ग्रेन, ब्रोमाइड ऑफ़ पुटाश २० ग्रेन, पानी १ औन्स, सबकी एक मात्रा बनाकर पिलानी चाहिए। यदि स्त्री इसे मुख से न पी सके तो गुदा द्वारा पेट के भीतर पहुँचाना चाहिए। लोह मिला हुआ मकरध्वज शहत और अदरख के साथ, मालती वसन्त और अभ्रक मक्खन के साथ अथवा च्यवनप्राश और अभ्रक दूध के साथ देने से शरीर में बल आता है और बल आने से रोग स्वतः दूर हो जाता है। रोगिणी को उसकी सन्तान और कुटुम्बियों से दूर रखना चाहिए। यदि हो सके तो दूसरे मनुष्यों को उसकी सेवा करने के लिए नियुक्त करना चाहिए।

प्रसूत ज्वर

यह प्रसूताओं को होने वाला एक भयानक ज्वर है। डॉक्टरों ने सिद्ध किया है कि यह एक संक्रामक रोग है

और इसका विष वैद्यों, सेवकों तथा अन्य लोगों के द्वारा एक स्त्री से दूसरी स्त्री के शरीर में चला जाता है। यह विष गर्भाशय, भीतरी भग, बाहरी भग आदि से होकर रक्त में प्रवेश करता है। इस विष में एक प्रकार के सूक्ष्म कीटाणु पाए जाते हैं, जो डॉक्टरों के अस्त्रों से होकर एक प्रसूता से दूसरी प्रसूता के पास चले जाते हैं। ये विन्दुओं की भाँति होते हैं और परस्पर इस प्रकार मिले रहते हैं मानो ज़ञ्जीर या बाल के गुच्छे हों। ये संख्या में इतना शीघ्र बढ़ कर सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं कि इन्हें रक्त-बीज कहना अनुचित न होगा। ये कीटाणु तीन प्रकार से शरीर को हानि पहुँचाते हैं:—

(१) अपने पालन के लिए रोगी के शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न करते हैं।

(२) जिन शक्तियों से नीरोग शरीर का पोषण होता है उनका ये नाश करते हैं।

(३) नाड़ियों के किसी एक ही भाग में बहुतों की संख्या में इकट्ठे होकर उनमें रक्त और गिल्टियों का बहना रोक देते हैं।

आधुनिक चिकित्सालयों में देखा गया है कि वहाँ एक भी "इरिसिपेलस" का रोगी आने से वहाँ रहने वाली सब प्रसूताओं को प्रसूत ज्वर का रोग हो जाता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन दोनों रोगों में परस्पर कोई

घना सम्बन्ध है। प्रसूत-ज्वर और सेप्टिसीमियाँ रोगों में बहुत कम भेद है। छूत चाहे जिस जगह से लगे, प्रसूत-ज्वर में ९० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु निश्चित होती है। कुछ लोगों का कथन है कि डिफ़थीरिया, शीतला, ख़सरा आदि रोगों की छूत से भी प्रसूत-ज्वर उत्पन्न होता है। यदि यह बात सर्वथा असत्य भी हो तो भी हमें प्रसूता स्त्रियों को इन रोगों से बचाना चाहिए।

(१) इस रोग के दो मुख्य भेद हैं। पहला वह जिसमें रोग का विष प्रसूता के ही शरीर में उत्पन्न होता है और दूसरा वह जिसमें विष बाहर से आता है। आजकल प्रथम भेद की रोगिणियों की संख्या घट रही है, किन्तु दूसरे भेद वाली रोगिणियों की संख्या में वृद्धि हो रहा है। प्रसूता के शरीर में विष उत्पन्न होने के निम्न-लिखित पाँच कारण हैं :—

(१) प्रसव के पश्चात् गर्भाशय का छोटा होना।

(२) प्रसव में किसी प्रकार की रुकावट का होना।

(३) खेड़ी या झिल्ली के किसी टुकड़े अथवा रक्त के थक्कों का गर्भाशय में रह कर सड़ जाना और प्रसव के बाद निकलने वाले जल का अन्य पदार्थों में परिवर्तित होना या सड़ना।

(४) सरदी, वायु आदि का लगना या अधिक परिश्रम करना।

(५) शोक, चिन्ता अथवा किसी अन्य प्रकार से हृदय पर आघात पहुँचना।

नीचे हरेक कारण का अलग-अलग विस्तृत वर्णन किया जायगा।

(१) गर्भाशय का सङ्कोच—जब गर्भाशय से बालक निकल जाता है तो गर्भाशय स्वभावतः बड़े ज़ोर से सिकुड़ता है। इससे यह लाभ होता है कि गर्भाशय की खुली हुई नाड़ियों का मुख बन्द हो जाता है, अतएव झिल्ली, लाल रक्त के टुकड़े, खेड़ी वा उसका कोई अंश जो गर्भाशय में रह जाता है, वह सब बाहर निकल जाता है। गर्भाशय अपना यह स्वाभाविक कार्य प्रसव के पश्चात् बराबर करता रहता है और चार-पाँच दिन में अपनी पहली अवस्था में आ जाता है। जिस समय यह सङ्कोच आरम्भ होता है उस समय रक्त के बहुत से बुरे पदार्थ प्रसूता के रक्त में प्रवेश कर जाते हैं। यदि शरीर की वह शक्ति, जो शरीर में घुसे हुए हर प्रकार के दूषित, विषैले और हानिकारक पदार्थों को नष्ट करती है, रक्त के दोषों को दूर करने में असमर्थ हो जाय तो उक्त दूषित, विषैले और हानिकारक पदार्थ रक्त में मिल कर विष का प्रभाव प्रकट करते हैं और प्रसूत-ज्वर उत्पन्न होता है।

(२) प्रसव में रुकावट—यह भी कीटाणुओं के लिए रोग उत्पन्न करने का अच्छा अवसर है। कठिन प्रसव में

बालक के सिर आदि से रगड़ खाकर जननेन्द्रियों में कई स्थान पर क्षत या घाव हो जाते हैं। इन स्थानों से उक्त कीटाणु सहज ही रक्त में प्रवेश कर जाते हैं। कुचले हुए स्थानों के रक्त में वह शक्ति शेष नहीं रह जाती जिससे वह बीमारी के कीड़ों को मार भगाता है। अतः ये कीटाणु सहज में रक्त में प्रवेश कर रक्तबीज की भाँति दिन दूने, रात चौगुने होते चले जाते हैं। इन कीड़ों को केवल एक बार स्थान मिलना चाहिए, फिर ये शारीरिक शक्ति द्वारा निकाले नहीं निकलते।

(३) झिल्ली आदि का गर्भाशय में सड़ना—शरीर में प्रसूत-ज्वर का विष उत्पन्न करने वाला यह सर्व-प्रधान कारण है। यदि भग द्वारा निकलने वाला प्रसव-जल बदबू करने लगे तो पूरा विश्वास कर लेना चाहिए कि कोई वस्तु, चाहे वह रक्त का थक्का हो या खेड़ी का टुकड़ा अथवा झिल्ली का कोई अंश, गर्भाशय के भीतर अवश्य सड़ गई है। ऐसी दशा में भग वा गर्भाशय को "छूतनाशक अर्कों" द्वारा धोने से बड़ा लाभ होता है।

(४) ठण्डे वायु आदि के लगने और प्रसव के पश्चात् परिश्रम करने से प्रसूता को ज्वर का भय रहता है।

(५) शोक, चिन्ता वा चित्त में किसी प्रकार की अनियन्त्रित उमङ्ग होने से भी यह रोग उत्पन्न होता है।

प्रसूता के शरीर में चार कारणों से बाहर का छूत प्रवेश कर सकता है :—

(१) छूत वाले ज्वरों से छूत का लगना, (२) प्रसत-ज्वर की रोगिणी से छूत का लगना, (३) भाँति-भाँति के छूत वाले रोगों की छूत से रोगी होना और (४) स्वास्थ्य-रक्षण के नियमों का पालन न करना। नीचे हरेक कारण का वर्णन अलग-अलग किया जायगा :—

(१) रक्तज्वर (लाल बुख़ार या Scarlet Fever), चेचक, सान्निपातिक ज्वर (Typhoid fever), इरिसिपेलिस (Erysipelas) आदि रोगों की छूत लगने से यह रोग हो सकता है। यह रोग इनकी छूतों से कम होता है, परन्तु यदि हो जाय तो बहुत भयानक होता है।

(२) इस रोग की छूत दूसरी प्रसूता स्त्रियों को लग जाती है। इस छूत का प्रभाव हृदय-विदारक होता है। और इससे बहुत शीघ्र फैलने वाला छूत उत्पन्न होता है।

(३) घाव या सूज़ाक की पीब लगने और सब प्रकार की सड़नों से यह रोग पैदा होता है। छूत वाले रोगियों के मृतक शव में भी कुछ देर तक छूत का असर रहता है। यदि ऐसी लाश परीक्षा के लिए आवे और वैद्य उसे चीरने के बाद शीघ्र ही किसी प्रसूता को देखने जाय तो वह प्रसूता निश्चय ही प्रसूत ज्वर से ग्रसित हो जावेगी। शव की छूत बड़ी भयङ्कर होती है।

(४) स्वास्थ्य-नियमों का पालन न करना भी इस रोग को निमन्त्रण देकर बुलाना है। सूतिका घर के चारों तरफ़ दुर्गन्धि का होना, उसमें स्त्रियों की भीड़ के कारण वायु का दूषित होना, प्रसूता गृह के निर्माण-दोष से उसमें वायु का यथोचित सञ्चार न होना, घर के आस-पास गन्दे तालाब, हौज़, नाली, पनाले, पायख़ाने आदि का सड़ना, सूतिका घर का गन्दा रहना, उसमें धुवाँ होना या किरॉसिन तेल के चिराग़ का जलाया जाना आदि ऐसे कारण हैं जिनसे बलवान् मनुष्य का भी स्वास्थ्य नष्ट हो सकता है, प्रसूता की तो बात ही क्या है।

प्रसव के बाद पाँच दिनों के भीतर यह रोग पैदा होता है। परन्तु किसी दूसरी रोगिणी की छूत से उत्पन्न होने पर तीसरे ही दिन यह प्रकट हो जाता है। यदि विलम्ब-प्रसव, यन्त्रों के व्यवहार अथवा खेड़ी के हाथ से निकाले जाने के कारण उत्पन्न हुआ हो तो यह दूसरे ही दिन आरम्भ हो जाता है। जब रक्त के थक्के या खेड़ी के टुकड़े सड़ कर प्रसव से कुछ दिन बाद निकलते हैं तो ज्वर नियमित समय की अपेक्षा देर में आरम्भ होता है। कभी तो प्रसव से पहले ही इसका दौरा होता है और कभी एक सप्ताह के उपरान्त भी होता हुआ देखा गया है। इसमें ज्वर सब समय रहता है, पर अन्य लक्षण शारीरिक स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।

प्रसूता के शरीर में चार कारणों से बाहर का प्रवेश कर सकता है :—

(१) छूत वाले ज्वरों से छूत का लगना, (२) प्र ज्वर की रोगिणी से छूत का लगना, (३) भाँति-भाँति छूत वाले रोगों की छूत से रोगी होना और (४) स्वास्थ रक्षण के नियमों का पालन न करना। नीचे हरेक कार का वर्णन अलग-अलग किया जायगा :—

(१) रक्तज्वर (लाल बुख़ार या Scarlet Fever) चेचक, सान्निपातिक ज्वर (Typhoid fever), इरिसिपेलिस (Erysipelas) आदि रोगों की छूत लगने से यह रोग हो सकता है। यह रोग इनकी छूतों से कम होता है, परन्तु यदि हो जाय तो बहुत भयानक होता है।

(२) इस रोग की छूत दूसरी प्रसूता स्त्रियों को लग जाती है। इस छूत का प्रभाव हृदय-विदारक होता है। और इससे बहुत शीघ्र फैलने वाला छूत उत्पन्न होता है।

(३) घाव या सूज़ाक की पीव लगने और सब प्रकार की सड़नों से यह रोग पैदा होता है। छूत वाले रोगियों के मृतक शव में भी कुछ देर तक छूत का असर रहता है। यदि ऐसी लाश परीक्षा के लिए आवे और वैद्य उसे चीरने के बाद शीघ्र ही किसी प्रसूता को देखने जाय तो वह प्रसूता निश्चय ही प्रसूत ज्वर से ग्रसित हो जावेगी। शव की छूत बड़ी भयङ्कर होती है।

(४) स्वास्थ्य-नियमों का पालन न करना भी इस रोग को निमन्त्रण देकर बुलाना है। सूतिका घर के चारों तरफ़ दुर्गन्धि का होना, उसमें स्त्रियों की भीड़ के कारण वायु का दूषित होना, प्रसूता गृह के निर्माण-दोष से उसमें वायु का यथोचित सञ्चार न होना, घर के आस-पास गन्दे तालाब, हौज़, नाली, पनाले, पायख़ाने आदि का सड़ना, सूतिका घर का गन्दा रहना, उसमें धुवाँ होना या किरॉसिन तेल के चिराग़ का जलाया जाना आदि ऐसे कारण हैं जिनसे बलवान् मनुष्य का भी स्वास्थ्य नष्ट हो सकता है, प्रसूता की तो बात ही क्या है।

प्रसव के बाद पाँच दिनों के भीतर यह रोग पैदा होता है। परन्तु किसी दूसरी रोगिणी की छूत से उत्पन्न होने पर तीसरे ही दिन यह प्रकट हो जाता है। यदि विलम्ब-प्रसव, यन्त्रों के व्यवहार अथवा खेड़ी के हाथ से निकाले जाने के कारण उत्पन्न हुआ हो तो यह दूसरे ही दिन आरम्भ हो जाता है। जब रक्त के थक्के या खेड़ी के टुकड़े सड़ कर प्रसव से कुछ दिन बाद निकलते हैं तो ज्वर नियमित समय की अपेक्षा देर में आरम्भ होता है। कभी तो प्रसव से पहले ही इसका दौरा होता है और कभी एक सप्ताह के उपरान्त भी होता हुआ देखा गया है। इसमें ज्वर सब समय रहता है, पर अन्य लक्षण शारीरिक स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।

प्रसूता के शरीर में चार कारणों से बाहर का छूत प्रवेश कर सकता है :—

(१) छूत वाले ज्वरों से छूत का लगना, (२) प्रसूत-ज्वर की रोगिणी से छूत का लगना, (३) भाँति-भाँति के छूत वाले रोगों की छूत से रोगी होना और (४) स्वास्थ्य-रक्षण के नियमों का पालन न करना। नीचे हरेक कारण का वर्णन अलग-अलग किया जायगा :—

(१) रक्तज्वर (लाल बुख़ार या Scarlet Fever), चेचक, सान्निपातिक ज्वर (Typhoid fever), इरिसिपेलिस (Erysipelas) आदि रोगों की छूत लगने से यह रोग हो सकता है। यह रोग इनकी छूतों से कम होता है, परन्तु यदि हो जाय तो बहुत भयानक होता है।

(२) इस रोग की छूत दूसरी प्रसूता स्त्रियों को लग जाती है। इस छूत का प्रभाव हृदय-विदारक होता है। और इससे बहुत शीघ्र फैलने वाला छूत उत्पन्न होता है।

(३) घाव या सूज़ाक की पीब लगने और सब प्रकार की सड़नों से यह रोग पैदा होता है। छूत वाले रोगियों के मृतक शव में भी कुछ देर तक छूत का असर रहता है। यदि ऐसी लाश परीक्षा के लिए आवे और वैद्य उसे चीरने के बाद शीघ्र ही किसी प्रसूता को देखने जाय तो वह प्रसूता निश्चय ही प्रसूत ज्वर से ग्रसित हो जावेगी। शव की छूत बड़ी भयङ्कर होती है।

(४) स्वास्थ्य-नियमों का पालन न करना भी इस रोग को निमन्त्रण देकर बुलाना है। सूतिका घर के चारों तरफ़ दुर्गन्धि का होना, उसमें स्त्रियों की भीड़ के कारण वायु का दूषित होना, प्रसूता गृह के निर्माण-दोष से उसमें वायु का यथोचित सञ्चार न होना, घर के आस-पास गन्दे तालाब, हौज़, नाली, पनाले, पायख़ाने आदि का सड़ना, सूतिका घर का गन्दा रहना, उसमें धुवाँ होना या किरॉसिन तेल के चिराग़ का जलाया जाना आदि ऐसे कारण हैं जिनसे बलवान् मनुष्य का भी स्वास्थ्य नष्ट हो सकता है, प्रसूता की तो बात ही क्या है।

प्रसव के बाद पाँच दिनों के भीतर यह रोग पैदा होता है। परन्तु किसी दूसरी रोगिणी की छूत से उत्पन्न होने पर तीसरे ही दिन यह प्रकट हो जाता है। यदि विलम्ब-प्रसव, यन्त्रों के व्यवहार अथवा खेड़ी के हाथ से निकाले जाने के कारण उत्पन्न हुआ हो तो यह दूसरे ही दिन आरम्भ हो जाता है। जब रक्त के थक्के या खेड़ी के टुकड़े सड़ कर प्रसव से कुछ दिन बाद निकलते हैं तो ज्वर नियमित समय की अपेक्षा देर में आरम्भ होता है। कभी तो प्रसव से पहले ही इसका दौरा होता है और कभी एक सप्ताह के उपरान्त भी होता हुआ देखा गया है। इसमें ज्वर सब समय रहता है, पर अन्य लक्षण शारीरिक स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।

(१) ज्वर—एकाएक ज्वर आरम्भ होता है और शारीरिक गर्मी १०२ दर्जे तक या इससे भी अधिक हो जाती है।

(२) ज्वर के साथ जाड़ा—कभी-कभी पहले जाड़ा लगता है, पीछे ज्वर आता है और कभी ज्वर चढ़ने के बाद जाड़ा लगता है। कठिन और भयानक दशाओं में शारीरिक गर्मी १०३-१०४ या इससे भी अधिक १०५-१०६ डिग्री तक पहुँच जाती है।

(३) नाड़ी—नाड़ी की गति ज्वर की गर्मी के अनुसार बदलती है। ज्यों-ज्यों ज्वर की गर्मी बढ़ती है, त्यों-त्यों नाड़ी की गति भी बढ़ती जाती है। रोग साधारण हो तो नाड़ी की गति प्रति मिनट १२० होगी और कठिन हो तो १४०। मृत्यु के पहले वह १६० से १७० तक पहुँच जाती है, अर्थात् ज्यों-ज्यों मृत्यु निकट आती है त्यों-त्यों नाड़ी की गति बढ़ती जाती है। विष की प्रबलता के कारण, रोग के कठिन दशा में पहुँचने पर ज्वर आरम्भ में थोड़ा सा बढ़ कर पीछे घट जाता है, किन्तु अन्य विकृतियाँ उत्त-रोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। अतः रोग की कठिन दशा पहचानने के लिए ज्वर की अपेक्षा नाड़ी पर अधिक ध्यान देना चाहिए। मृत्यु के निकट शारीरिक ताप स्वाभाविक से भी कम हो जाता है। जब रोग अधिक दिनों तक ठहरता है और 'पाइमियाँ' की भाँति का ज्वर होता है, तो गर्मी

समान नहीं होती है, हरदम घटती-बढ़ती रहती है। ज्वर चढ़ने पर जाड़ा जान पड़ता है, किन्तु यदि ज्वर एक सा बना रहे और किसी समय भी न उतरे तो उस अवस्था में जाड़ा नहीं लगता।

(४) गर्भाशय में पीड़ा—इस रोग का सबसे अधिक विश्वास योग्य लक्षण यह है कि गर्भाशय को दबाने से पीड़ा होती है और उसके सिकुड़ने और घटने में भी भेद होता है।

(५) प्लीहा-वृद्धि—इस ज्वर में तिल्ली बढ़ जाती है और उसे छूने या दबाने से पीड़ा होती है।

(६) अन्य ज्वरों से तुलना—यदि प्रसूत-ज्वर को अन्य ज्वरों से तुलना की जाय तो शारीरिक ताप को देखते हुए इसमें सान्निपातिक लक्षण बहुत कम होते हैं, अर्थात् जिस दर्जे का ज्वर इसमें होता है वह यदि अन्य ज्वरों में हो तो रोगी बकने-झकने लगता है, किन्तु इस ज्वर में ताप का मान बढ़ने पर भी उक्त लक्षण प्रकट नहीं होते। कभी-कभी रात में रोगी कुछ प्रलाप करता है, किन्तु जगाने या बुलाने पर वह बन्द हो जाता है। यहाँ तक कि रोगी मृत्यु-पर्यन्त उत्तर देता रहता है।

(७) जीभ की दशा—आरम्भ में जीभ कुछ तर और साफ़ होती है, किन्तु थोड़े ही दिनों में उस पर मैल की तह चढ़ जाती है। कठिन दशा में वह भूरी हो जाती है।

(८) स्वेद—ज्वर में उतार-चढ़ाव होने पर पसीना बहुत निकलता है।

(९) अन्यान्य दुष्ट लक्षण—कठिन अवस्था में प्रसव के पश्चात् रुधिर मिश्रित जल का बहना कम या सर्वथा बन्द हो जाता है। स्तनों में दूध की भी यही दशा होती है। प्रसव के पश्चात् का रुधिर दुर्गन्धित हो जाता है। यदि प्रसव के पूर्व ज्वर आया हो तो पूर्वोक्त रक्त आरम्भ से ही बन्द रहता है। यदि ज्वर प्रसव होते ही आ जाय तो दूध उत्पन्न ही नहीं होता, किन्तु अन्य दशाओं में दूध केवल कम हो जाता है। जैसे-जैसे रोगी की दशा बिगड़ती जाती है वैसे ही वैसे दूध की उत्पत्ति भी बन्द होती जाती है।

(१०) वमन और अतिसार—यह दोनों छूत वाले रोगों के कठिन भेदों के लक्षण हैं। वमन पेट की झिल्ली की सूजन से सम्बन्ध रखता है। मल में दुर्गन्ध होती है और रोग आरम्भ होने के दो दिन बाद दस्त आने लगते हैं।

(११) फुन्सियों की उत्पत्ति—स्वेद की अधिकता के कारण त्वचा में अम्हौरी के सदृश अनेक दाने निकल आते हैं। कभी-कभी "रूबी ओला" (एक प्रकार की माला) "पेप्यूली" (गोल दाने का रोग) या "पिटिकि आई" (एक प्रकार का चर्मरोग) के सदृश दाने उठ आते हैं। किन्तु यह उसी दशा में होगा जब "सेप्टिसीमिया" नामक रोग, जो इसी रोग के फल से होता है, हो जाय।

संयुक्त रोग (जनरल प्रोटोनाइटिस)

प्रसूत-ज्वर में पेट के नीचे अस्तर लगाने वाली झिल्ली में साधारण सूजन का नाम ही "जनरल प्रोटोनाइटिस" है। इसमें प्रथम जाड़ा देकर ज्वर चढ़ता है और शीघ्र ही पेट में पीड़ा उत्पन्न होती है। पीड़ा का प्रधान स्थान गर्भाशय है। वहीं से पीड़ा उठ कर सम्पूर्ण पेट में फैलती है। रोगिणी दोनों घुटने उठाए बिस्तर पर चित पड़ी रहती है। पेट की बड़ी तथा कार्य करने वाली नाड़ियों का कार्य रुक जाने और आँतों में हवा भर जाने से पेट फूल जाता है और नाड़ियाँ उभर जाती हैं। मृत्यु के निकट पेट अधिक फूल जाता है। वमन, जो इस रोग का मुख्य लक्षण है, बार-बार होने लगती है। नाड़ी की गति मन्द और सूक्ष्म होती है और थोड़ी ही देर में वह अत्यन्त निर्बल हो जाती है। मूलरोग (प्रसूत-ज्वर) में जैसे ज्वर की अपेक्षा नाड़ी में अधिक विश्वास करना चाहिए उसी तरह इस रोग में भी नाड़ी पर ही विश्वास करना उचित है। रोग की साधारण दशा में पहले क़ब्ज़ होता है। किन्तु कठिन दशा (असाध्य) में पहले ही से पतले और दुर्गन्धित दस्त आने लगते हैं। श्वास में दुर्गन्धि तथा त्वचा का वर्ण भूरा या पीला होता है। पीड़ा सदा नहीं रहती। शोथ के अनन्तर जब पीब पड़ जाता है तब पीड़ा बिलकुल नहीं होती, यहाँ तक कि पेट को दबाने से भी कुछ नहीं मालूम होता। परन्तु दस्त

संयुक्त रोग (जनरल प्रोटोनाइटिस)

प्रसूत-ज्वर में पेट के नीचे अस्तर लगाने वाली झिल्ली में साधारण सूजन का नाम ही "जनरल प्रोटोनाइटिस" है। इसमें प्रथम जाड़ा देकर ज्वर चढ़ता है और शीघ्र ही पेट में पीड़ा उत्पन्न होती है। पीड़ा का प्रधान स्थान गर्भाशय है। वहीं से पीड़ा उठ कर सम्पूर्ण पेट में फैलती है। रोगिणी दोनों घुटने उठाए बिस्तर पर चित पड़ी रहती है। पेट की बड़ी तथा कार्य करने वाली नाड़ियों का कार्य रुक जाने और आँतों में हवा भर जाने से पेट फूल जाता है और नाड़ियाँ उभर जाती हैं। मृत्यु के निकट पेट अधिक फूल जाता है। वमन, जो इस रोग का मुख्य लक्षण है, बार-बार होने लगती है। नाड़ी की गति मन्द और सूक्ष्म होती है और थोड़ी ही देर में वह अत्यन्त निर्बल हो जाती है। मूलरोग (प्रसूत-ज्वर) में जैसे ज्वर की अपेक्षा नाड़ी में अधिक विश्वास करना चाहिए उसी तरह इस रोग में भी नाड़ी पर ही विश्वास करना उचित है। रोग की साधारण दशा में पहले क़ब्ज़ होता है। किन्तु कठिन दशा (असाध्य) में पहले ही से पतले और दुर्गन्धित दस्त आने लगते हैं। श्वास में दुर्गन्धि तथा त्वचा का वर्ण भूरा या पीला होता है। पीड़ा सदा नहीं रहती। शोथ के अनन्तर जब पीव पड़ जाता है तब पीड़ा बिलकुल नहीं होती, यहाँ तक कि पेट को दबाने से भी कुछ नहीं मालूम होता। परन्तु दस्त

(८) स्वेद—ज्वर में उतार-चढ़ाव होने पर पसीना बहुत निकलता है।

(९) अन्यान्य दुष्ट लक्षण—कठिन अवस्था में प्रसव के पश्चात् रुधिर मिश्रित जल का बहना कम या सर्वथा बन्द हो जाता है। स्तनों में दूध की भी यही दशा होती है। प्रसव के पश्चात् का रुधिर दुर्गन्धित हो जाता है। यदि प्रसव के पूर्व ज्वर आया हो तो पूर्वोक्त रक्त आरम्भ से ही बन्द रहता है। यदि ज्वर प्रसव होते ही आ जाय तो दूध उत्पन्न ही नहीं होता, किन्तु अन्य दशाओं में दूध केवल कम हो जाता है। जैसे-जैसे रोगी की दशा बिगड़ती जाती है वैसे ही वैसे दूध की उत्पत्ति भी बन्द होती जाती है।

(१०) वमन और अतिसार—यह दोनों छूत वाले रोगों के कठिन भेदों के लक्षण हैं। वमन पेट की झिल्ली की सूजन से सम्बन्ध रखता है। मल में दुर्गन्ध होती है और रोग आरम्भ होने के दो दिन बाद दस्त आने लगते हैं।

(११) फुन्सियों की उत्पत्ति—स्वेद की अधिकता के कारण त्वचा में अम्हौरी के सदृश अनेक दाने निकल आते हैं। कभी-कभी "रूबी ओला" (एक प्रकार की माला) "पेप्यूली" (गोल दाने का रोग) या "पिटिकि आई" (एक प्रकार का चर्मरोग) के सदृश दाने उठ आते हैं। किन्तु यह उसी दशा में होगा जब "सेप्टिसीमिया" नामक रोग, जो इसी रोग के फल से होता है, हो जाय।

संयुक्त रोग (जनरल प्रोटोनाइटिस)

प्रसूत-ज्वर में पेट के नीचे अस्तर लगाने वाली झिल्ली में साधारण सूजन का नाम ही "जनरल प्रोटोनाइटिस" है। इसमें प्रथम जाड़ा देकर ज्वर चढ़ता है और शीघ्र ही पेट में पीड़ा उत्पन्न होती है। पीड़ा का प्रधान स्थान गर्भाशय है। वहीं से पीड़ा उठ कर सम्पूर्ण पेट में फैलती है। रोगिणी दोनों घुटने उठाए बिस्तर पर चित पड़ी रहती है। पेट की बड़ी तथा कार्य करने वाली नाड़ियों का कार्य रुक जाने और आँतों में हवा भर जाने से पेट फूल जाता है और नाड़ियाँ उभर जाती हैं। मृत्यु के निकट पेट अधिक फूल जाता है। वमन, जो इस रोग का मुख्य लक्षण है, बार-बार होने लगती है। नाड़ी की गति मन्द और सूक्ष्म होती है और थोड़ी ही देर में वह अत्यन्त निर्बल हो जाती है। मूलरोग (प्रसूत-ज्वर) में जैसे ज्वर की अपेक्षा नाड़ी में अधिक विश्वास करना चाहिए उसी तरह इस रोग में भी नाड़ी पर ही विश्वास करना उचित है। रोग की साधारण दशा में पहले क़ब्ज़ होता है। किन्तु कठिन दशा (असाध्य) में पहले ही से पतले और दुर्गन्धित दस्त आने लगते हैं। श्वास में दुर्गन्धि तथा त्वचा का वर्ण भूरा या पीला होता है। पीड़ा सदा नहीं रहती। शोथ के अनन्तर जब पीब पड़ जाता है तब पीड़ा बिलकुल नहीं होती, यहाँ तक कि पेट को दबाने से भी कुछ नहीं मालूम होता। परन्तु दस्त

(८) स्वेद—ज्वर में उतार-चढ़ाव होने पर पसीना बहुत निकलता है।

(९) अन्यान्य दुष्ट लक्षण—कठिन अवस्था में प्रसव के पश्चात् रुधिर मिश्रित जल का बहना कम या सर्वथा बन्द हो जाता है। स्तनों में दूध की भी यही दशा होती है। प्रसव के पश्चात् का रुधिर दुर्गन्धित हो जाता है। यदि प्रसव के पूर्व ज्वर आया हो तो पूर्वोक्त रक्त आरम्भ से ही बन्द रहता है। यदि ज्वर प्रसव होते ही आ जाय तो दूध उत्पन्न ही नहीं होता, किन्तु अन्य दशाओं में दूध केवल कम हो जाता है। जैसे-जैसे रोगी की दशा बिगड़ती जाती है वैसे ही वैसे दूध की उत्पत्ति भी बन्द होती जाती है।

(१०) वमन और अतिसार—यह दोनों छूत वाले रोगों के कठिन भेदों के लक्षण हैं। वमन पेट की झिल्ली की सूजन से सम्बन्ध रखता है। मल में दुर्गन्ध होती है और रोग आरम्भ होने के दो दिन बाद दस्त आने लगते हैं।

(११) फुन्सियों की उत्पत्ति—स्वेद की अधिकता के कारण त्वचा में अम्हौरी के सदृश अनेक दाने निकल आते हैं। कभी-कभी "रूबी ओला" (एक प्रकार की माला) "पेप्यूली" (गोल दाने का रोग) या "पिटिकि आई" (एक प्रकार का चर्मरोग) के सदृश दाने उठ आते हैं। किन्तु यह उसी दशा में होगा जब "सेप्टिसीमिया" नामक रोग, जो इसी रोग के फल से होता है, हो जाय।

संयुक्त रोग (जनरल प्रोटोनाइटिस)

प्रसूत-ज्वर में पेट के नीचे अस्तर लगाने वाली झिल्ली में साधारण सूजन का नाम ही "जनरल प्रोटोनाइटिस" है। इसमें प्रथम जाड़ा देकर ज्वर चढ़ता है और शीघ्र ही पेट में पीड़ा उत्पन्न होती है। पीड़ा का प्रधान स्थान गर्भाशय है। वहीं से पीड़ा उठ कर सम्पूर्ण पेट में फैलती है। रोगिणी दोनों घुटने उठाए बिस्तर पर चित पड़ी रहती है। पेट की बड़ी तथा कार्य करने वाली नाड़ियों का कार्य रुक जाने और आँतों में हवा भर जाने से पेट फूल जाता है और नाड़ियाँ उभर जाती हैं। मृत्यु के निकट पेट अधिक फूल जाता है। वमन, जो इस रोग का मुख्य लक्षण है, वार-वार होने लगती है। नाड़ी की गति मन्द और सूक्ष्म होती है और थोड़ी ही देर में वह अत्यन्त निर्बल हो जाती है। मूलरोग (प्रसूत-ज्वर) में जैसे ज्वर की अपेक्षा नाड़ी में अधिक विश्वास करना चाहिए उसी तरह इस रोग में भी नाड़ी पर ही विश्वास करना उचित है। रोग की साधारण दशा में पहले क़ब्ज़ होता है। किन्तु कठिन दशा (असाध्य) में पहले ही से पतले और दुर्गन्धित दस्त आने लगते हैं। श्वास में दुर्गन्धि तथा त्वचा का वर्ण भूरा या पीला होता है। पीड़ा सदा नहीं रहती। शोथ के अनन्तर जब पीव पड़ जाता है तब पीड़ा बिलकुल नहीं होती, यहाँ तक कि पेट को दबाने से भी कुछ नहीं मालूम होता। परन्तु दस्त

बन्द होकर पेट अवश्य फूल जाता है। शेष सब लक्षण मूलरोग के समान होते हैं। साधारण अवस्था में पीड़ा एक स्थान पर होती है और वह दबाने से मालूम होती है। पेट अधिक नहीं फूलता। भयानक अवस्था में मृत्यु के निकट हाथ-पाँव टेढ़े पड़ जाते हैं, सान्निपातिक लक्षण उदय होते हैं, नाड़ी का पता नहीं लगता और रोगिणी मूर्च्छित होकर मर जाती है।

सेप्टिसीमियाँ—इसमें और प्रसूत-ज्वर में बहुत ही कम भेद है। इन दोनों के कारण भी एक ही हैं। इसमें भी प्रसूत-ज्वर वाला विष पाया जाता है। किन्तु इसका विष बहुत प्रबल होता है और यह "प्रोटोनाइटिस" के जन्म के पूर्व ही प्रकट होकर रोगिणी को मार डालता है। गर्भाशय में कठिन पीड़ा होती है और भीतरी भग (योनि) की नाली और गर्भाशय के मुख पर घाव हो जाते हैं। इसमें भी आरम्भ में जाड़ा चढ़ता है, ज्वर की गर्मी अधिक होती है और पेट फूल जाता है। प्रायः अतिसार भी होता है और सान्निपातिक लक्षण पाए जाते हैं। बढ़ी हुई प्लीहा में दबाने से पीड़ा होती है। तीन-चार दिनों में रोगिणी मर जाती है। इसे आयुर्वेद में सूतिका-सन्निपात लिखा है।

वास्क्यूलर सेप्टिसीमियाँ—इसमें सड़े और रुके हुए रक्त के लोथड़े का विष रक्त में फैल जाता है। यह साधारणतः प्रसव के दो-तीन दिनों के उपरान्त होता

है। किन्तु कभी-कभी अधिक दिन बीतने पर भी आरम्भ होता है।

इसमें आरम्भ में जाड़ा देकर ज्वर चढ़ता है, फिर नाड़ी की गति तथा ज्वर की गर्मी बढ़ जाती है। ज्वर चढ़ने-उतरने वाला होता है। ज्वर उतरने पर पसीना अधिक निकलता है। गर्भाशय के भीतर शोथ हो जाता है। इस रोग में सूजन से ज्वर का कोई सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु उसका सम्बन्ध विष से होता है। ज्वर तेज़ होने पर शीत मालूम पड़ता है। इससे या तो रोगिणी अच्छी हो जाती है या यह "पाइमियाँ" नामक रोग में परिणत हो जाता है। यदि रोग अच्छा होने वाला होता है तो शोथ के आरम्भिक स्थान से अन्य स्थान में जाने के पहले ही अच्छा हो जाता है।

पाइमियाँ—ज्वर जब अधिक दिनों तक रहता है, तब छूत का विष रक्तसञ्चार के साथ भ्रमण कर अपने आरम्भिक स्थान के अतिरिक्त शरीर के अन्य भागों में भी सूजन उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार का शोथ बाज़ुओं की झिल्ली, जोड़ों की झिल्ली, फुफ्फुस और अन्य भीतरी विभागों की झिल्लियों में अधिक उत्पन्न हो जाता है। फेफड़े और उसकी झिल्ली (प्ल्यूरा) में भी सूजन होने का भय रहता है। हृदयावरक झिल्ली में भी सूजन हो जाती है। भीतरी विभागों में कहीं-कहीं पीब पड़ जाती है। इसी कारण इस रोग का नाम पाइमियाँ रक्खा गया है।

प्रसूत-ज्वर हो जाता है और प्रसूत-ज्वर में इरिसिपेलिस का विष विद्यमान रहता है। इससे ज्ञात होता है कि दोनों रोग एक ही प्रकार की छूत से उत्पन्न होते हैं।

"इरिसिपेलिस" की छूत अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में अधिक होती है। यह ज्वर प्रसव के अनन्तर दूसरे या चौथे दिन प्रकट होता है। यह रोग जब भीतरी अंशों के प्राचीरों में आरम्भ होता है, तो इसके साथ पेड़ू के भीतर की झिल्ली भी रोगग्रसित रहा करती है। ऐसी दशा में "प्रोटोनाइटिस" के लक्षण अन्य दशाओं की अपेक्षा भयानक होते हैं। यदि कहीं "इरिसिपेलिस" के साधारण लक्षण भी न ज्ञात हों तो और भी भय बढ़ जाता है और "प्योरपरल सेप्टीसीमियाँ" नामक रोग का भ्रम होता है। सारांश यह है कि जब यह रोग "इरिसिपेलिस" की छूत से उत्पन्न हो और उसके लक्षण बहुत कम मिलते हों तो मृत्यु का बहुत ही अधिक भय रहता है। इस दशा में सैकड़े पीछे ८० से अधिक फ़ीसदी मृत्यु होती है। यह ऊपरी अङ्गों के "इरिसिपेलिस" की अपेक्षा महा भयङ्कर है। इस रोग में "इरिसिपेलिस" के सिवाय चेचक, खसरा, लालबुख़ार; सान्निपातिक ज्वर आदि भयङ्कर छूत वाले ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं।

पेड़ू और पेड़ू की झिल्ली का शोथ—इसको अङ्गरेज़ी में "पेल्विक सेल्यूलाइटिस" कहते हैं। इसके और "पेल्विक-

प्रोटोनाइटिस" के लक्षण और कारण एक से होते हैं। ये रोग प्रसूताओं के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के भी हो जाते हैं। जब प्रसूताओं के यह रोग होता है तो इसका कारण छूत समझी जाती है। किन्तु जब "सेल्यूलाइटिस" अधिक हो और प्रत्यक्ष में इसी का अधिक प्रभाव हो तो छूत का प्रभाव सारे शरीर में न फैलकर केवल रोग के स्थान में ही सीमाबद्ध रहता है।

पेलिवक प्रोटोनाइटिस—यह प्रसव की अपेक्षा अन्य समयों में अधिक हुआ करता है। सेल्यूलाइटिस केवल गर्भावस्था में होता है। ये दोनों रोग एक साथ ही प्रसूता को ग्रसित करते हैं।

प्रसव के बाद एक सप्ताह में नाड़ियों में विष प्रवेश कर एक बड़ा उभार पैदा करता है। परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि गर्भाशय में पच्चर के आकार का एक शोथ हो गया है। यह शोथ गर्भाशय को एक ओर ढकेल कर उसे कार्य करने के अयोग्य बना देता है। "पेलिवक प्रोटोनाइटिस" वाली स्त्रियों का गर्भाशय बहुत कम काम करता है या काम करने में पूर्णतया असमर्थ हो जाता है। शोथ ऊपर की ओर जाँघ और पेड़ू की नाड़ी से कई इञ्च ऊपर तक फैलता है। पेट पर हाथ लगाने से इसका पता लग सकता है। कभी-कभी तो यह इतना बढ़ जाता है कि आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। आरम्भ में जाड़ा और ज्वर

दोनों एक साथ आते हैं, और शारीरिक ताप १०२ से २०४ दर्जे तक पहुँच जाता है। पेट के निचले भाग (पेड़ू) में किसी एक तरफ़ पीड़ा होती है। इससे झिल्ली में शोथ होने का पता चलता है। कुछ काल में पीड़ा की वेदना जाती रहती है, किन्तु स्पर्श करने से पीड़ा जान पड़ती है। झिल्ली (प्रेटोनियम) में अधिक शोथ होने पर उबकाई और वमन होने लगती है। मुख चिन्ताग्रस्त रहता है और पेट फूल जाता है। शोथ के मूत्राशय और आँतों तक पहुँच जाने पर दस्त और पेशाब करते समय पीड़ा होती है। गर्भाशय के वृहत् बन्धनों में शोथ होने से पैर फैलाने में पीड़ा होती है और रोगिणी सदा अपने पैरों को सिकोड़े रहती है। रक्त की नाड़ियों में दबाव पड़ने से कमर और जाँघ में पीड़ा होने लगती है। ज्वर प्रातःकाल कुछ कम या बिलकुल उतर जाता है और दो-तीन दिनों में एकदम अच्छा हो जाता है। ज्वर में उतार-चढ़ाव होने पर पसीना अधिक निकलता है। कठिन लक्षणों वाला ज्वर एक सप्ताह या इससे अधिक दिनों तक बना रहता है। पीव पड़ने पर बराबर जाड़ा लगता है और ज्वर बढ़ जाता है। पीव न पड़े तो पीड़ा कम होती है और शोथ के धीरे-धीरे सूख जाने पर गर्भाशय अपना काम करने लगता है। साधारणतः शोथ के अच्छे होने में छः से आठ सप्ताह तक लगते हैं, परन्तु कभी-कभी इससे अधिक समय भी लग जाता है।

पेल्विक प्रोटोनाइटिस में पेड़ू का सम्पूर्ण आवरण अत्यन्त कठोर हो जाता है और गर्भाशय उसके केन्द्र में बलपूर्वक स्थित रहता है।

यदि किसी असावधानी से प्रसूता के स्तनों में शोथ हो जाय या उसका शारीरिक ताप अकस्मात् १०० से अधिक हो जाय तो समझना चाहिए कि किसी प्रकार की छूत या छूत का विष शरीर में अवश्य प्रवेश कर चुका है। प्रसव के पश्चात् बहने वाला रक्त वा स्तनों का दूध कम या बन्द हो जाय तो समझना चाहिए कि छूत वाला शोथ उत्पन्न हो गया है। प्रसव के अनन्तर बहने वाले रक्त में दुर्गन्धि का होना इस रोग का सबसे अधिक निश्चयात्मक लक्षण है।

यदि यह रोग छूत के कारण उत्पन्न हुआ हो तो इसका परिणाम भयावह होता है। यह प्रसव के पश्चात् जितना शीघ्र उत्पन्न हो इसे उतना ही बुरा समझना चाहिए। यदि दुर्भाग्यवश प्रसव के पूर्व ही ज्वर उत्पन्न हो जाय तो इससे अवश्य ही अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है।

यदि यह न्यूमोनिया (फेफड़े की सूजन) या हृदया-वरक झिल्ली के शोथ के साथ संयुक्त हो तो इसे महा भय-ङ्कर समझना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रसव के बाद सावधानी

रक्खी जाय तो यह रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। इसकी उत्पत्ति के मूल कारण हैं असावधानी और उपेक्षा। इसे रोकने का थोड़ा भी प्रयत्न किया जाय तो अनेक प्रसूताओं का जीवन नष्ट होने से बच जाय। आजकल बहुत से छूतनाशक उपाय प्रचलित हैं। इससे यह लाभ होता है कि छूत वाले रोग फैलने नहीं पाते। और कुछ न कर यदि आरम्भ में ही इन उपायों को काम में लाया जाय तो भी इस रोग के घातक कीटाणु आरम्भ में ही नष्ट हो जायँ और उनका वह खाद्य, जो रक्त में सञ्चित होता है तथा जिसे खाकर वे पलते और पुष्ट होते हैं, उन्हीं के लिए विष के समान बन जाय।

यदि हमारे पास कोई उपयुक्त साधन होता तो हम यह बात पसन्द करते कि इन कीटाणुओं का जन्म ही न होने दिया जाय। परन्तु इस कार्य में प्रकृति से हमें कोई सहायता नहीं मिलती। प्रसव की कठिनाइयाँ प्रकृति की इच्छानुसार ही पैदा होती हैं। उनमें यदि शस्त्र-प्रयोग न किया जाय तो भी गर्भवती के प्रसवाङ्ग बालक के सिर आदि की रगड़ से कुचल जाते हैं और शस्त्र-प्रयोग करने पर तो अवश्य ही कुचलते हैं। यही कुचले हुए स्थान कीड़ों के प्रवेश-द्वार का काम देते हैं। प्रसव के पश्चात् बहने वाला रक्त सहज ही इन कीड़ों को उत्पन्न कर देता है। इसीसे हम लोग यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं

कि इन कीड़ों की उत्पत्ति रोकी नहीं जा सकती। परन्तु हम दो काम अवश्य कर सकते हैं। पहला काम यह है कि इन कीड़ों को शरीर में घुसने ही न दें और दूसरा यह कि यदि असावधानी से वे घुस भी जायँ तो उन्हें बढ़ने न दें। निम्न-लिखित तीन बातों पर ध्यान देने से इन कीड़ों का शरीर में प्रवेश करना रोका जा सकता है:—

(१) प्रसूता को प्रत्येक छूत वाले रोगों की छूत से बचा कर रखना।

(२) उसके अपने ही शरीर में छूतदार विष उत्पन्न न हो जाय, इस पर विशेष ध्यान रखना।

(३) प्रसूता के स्वास्थ्य को ऐसा रखना जिससे उसके शरीर में विष को घुसने और घर करने का मार्ग न मिले। नीचे इन उपायों का विस्तृत वर्णन किया जायगा : —

(१) प्रथम उपाय में प्रसूतागृह की सफ़ाई मुख्य है। प्रसव से पहले ही इसका प्रबन्ध कर लेना चाहिए। इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने भूविद्या जानने वालों के द्वारा "सूतिकागार" को पृथक् बनवाने की आज्ञा दी है। सूतिकागृह ख़ूब साफ़ रहना चाहिए। उसमें वायु के भली-भाँति आने-जाने का प्रबन्ध होना चाहिए। निकट कोई गन्दी चीज़, नाले-पनाले, तालाब-पोखर आदि न होना चाहिए। प्रसूता की सेवा करने वाली स्त्रियों को साफ़-

सुथरी होना चाहिए। उस घर में मिट्टी के तेल का चिराग़ नहीं जलाना चाहिए। परिवार में कोई छूतवाला रोगी हो तो उससे प्रसूता को बचाना चाहिए या अलग रखना चाहिए। आस-पास या बस्ती में कोई छूत का रोग फैला हुआ हो तो प्रसूता को किसी अन्य स्थान में ले जाना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तो उसे छूत से बचाने का पूरा प्रबन्ध करना चाहिए।

छूत वाले रोगियों को देखने के बाद चिकित्सक को बिना शुद्ध हुए या बिना कपड़े बदले किसी प्रसूता के पास न जाना चाहिए। यदि वैद्य प्रसूत-ज्वर की चिकित्सा करता हो तो उसे इरिसिपेलिस की रोगिणी के पास न जाना चाहिए। यदि जाने की अनिवार्य आवश्यकता उपस्थित हो जाय तो हाथ-पैरों को छूतनाशक औषधियों से धोकर और कपड़े बदल कर जाना चाहिए।

(२) ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे प्रसव की कठिनाइयों से प्रसूता की अधिक शक्ति क्षीण न होने पावे और वह प्रसव-वेदना से थकने न पावे। प्रसव की कठिनाइयों को यन्त्र की सहायता से शीघ्र दूर कर देना चाहिए। परन्तु इस बात को हरदम ध्यान में रखना चाहिए कि यदि यन्त्र-प्रयोग अनुचित समय पर और असावधानी से किया जायगा तो भीतरी भग में दरार होकर कीड़ों के लिए मार्ग खुल जायगा। ऐसी अवस्थाओं में प्रसूता के

शरीर में विष उत्पन्न हो जाता है। यदि कभी दरार पड़ जाय तो उसी समय उसे सी देना चाहिए, जिससे विष तथा कीड़ों का मार्ग बन्द हो जाय।

प्रसव के पश्चात् गर्भाशय के अच्छी तरह सिकुड़ जाने का प्रबन्ध करना चाहिए। बच्चे के बाहर निकलते ही अपना एक हाथ गर्भाशय पर रखकर उसे धीरे-धीरे नीचे को उतारना चाहिए। इस क्रिया से गर्भाशय की अवस्था का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही उसके सिकुड़ने में भी सहायता पहुँचती है। यदि गर्भाशय उचित रीति से न सिकुड़ता हो तो तुरन्त 'मकरध्वज' या 'कुनाइन' अथवा 'अर्गट' नामक औषधि देनी चाहिए। गर्भाशय के कार्य में ढीलापन या रुकावट होने पर इन औषधियों का अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रसूता का करवट बदलता रहे। दो दिन बीतने पर उसे बैठा कर पेशाब कराना चाहिए। इससे गर्भाशय में यदि कोई थक्का या झिल्ली का टुकड़ा होगा तो वह गिर जायगा। भग के भीतर छूतनाशक अर्कों की पिचकारी लगानी चाहिए।

यह सिद्ध हो चुका है कि यह रोग दाइयों के द्वारा अधिक फैलता है, क्योंकि वे रोगिणी और नीरोग दोनों प्रकार की स्त्रियों के पास आया-जाया करती हैं। अतः परिवार वालों को उचित है कि प्रसूतागार की सफ़ाई और प्रसूता की सेवा स्वयं करें। इस नाज़ुक काम को किसी

दायित्व-हीन दाई के ऊपर छोड़ने से अनिष्टकारी परिणाम हो सकता है।

प्रसूता का वस्त्र और बिछावन बिलकुल साफ़ होना चाहिए और रक्त से भीगे हुए कपड़ों को शीघ्र बदल देना चाहिए। यदि एक ही दाई कई प्रसूताओं की सेवा करती हो, तो रुग्णा प्रसूता के पास से किसी नीरोग प्रसूता के पास जाने के पहले उसे अपने हाथ, अस्त्र, धोने के सामान और अन्य आवश्यक वस्तुओं को परक्लोराइड ऑफ़ मर्करी के लोशन (१ भाग पारा, १००० भाग जल) में धो लेना और अपने वस्त्रों को बदल लेना चाहिए। प्रसूता की सेवा करते समय दाई के वस्त्र प्रसूता के वस्त्रों या पलङ्ग से न छू जायँ, इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। सम्भव है उसके वस्त्रों में कीड़े हों और वे सूतिका को लग जायँ। इस शुद्धि को करते हुए भी यदि सम्भव हो तो दाई को किसी एक ही प्रसूता की सेवा करनी चाहिए। इससे रोगों के संक्रमण की कोई आशङ्का शेष नहीं रह जाती।

इस रोग की चिकित्सा करने के पूर्व ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे शरीर की बनावटों में प्रसूत ज्वर के कीड़े या विष प्रवेश न करने पावे। इसके लिए ज्वर-पीड़ित प्रसूता की योनि को प्रत्येक चार घण्टे बाद धोते रहना चाहिए। यदि दुर्गन्धित पीव निकलती हो तो एक गाज (यह वह कपड़ा है जो रसकपूर या मर्करी लोशन में

भिगा कर सुखा लिया जाता है। यह हरेक अङ्गरेज़ी दवा की दूकान में बिकता है) के टुकड़े पर २० ग्रेन "आयडोफ़ार्म" छिड़क कर या "आयडोफ़ार्म" की वत्ती बनाकर भग में रखना चाहिए।

योनि के धोने का कार्य बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। इसमें ज़रा सी भूल होने से विषैले कीड़े गर्भाशय में पहुँच सकते हैं। यदि कोमलता के साथ यह काम न किया जायगा तो गर्भाशय की शोथयुक्त लुआवी झिल्ली हिल जायगी और उसमें घाव भी हो सकता है। यदि खेड़ी का अंश भीतर हो या खेड़ी गर्भाशय से चिपटी हुई हो, सड़ा हुआ गर्भ निकाला गया हो, गर्भाशय के भीतर हाथ डाल कर कार्य किया गया हो, लोहे के अर्क़ की पिचकारी लगाई गई हो, दुर्गन्धित पीव निकलती हो या दो ही तीन दिनों के भीतर प्रसवान्तर बहने वाला रक्तस्राव बन्द हो गया हो तो भग को अवश्य धोना चाहिए। छुतहे कीड़े शरीर के रक्त में प्रवेश करने से पहले इन्हीं बाहरी अङ्गों पर बैठते हैं। अतः छूतनाशक औषधियों से धोने पर ये कीड़े यहीं पर नष्ट किए जा सकते हैं।

धोने के लिए परक्लोराइड ऑफ़ मर्करी सोल्यूशन $\frac{१}{१०००}$ वाला या कार्बोलिक लोशन $\frac{१}{१०००}$ वाला या टिङ्चर आयोडीन लोशन १ ड्राम एक पाइण्ट उपयोगी है। पिचकारी की नली काँच या वल्केनाइट (एक प्रकार की लकड़ी)

की होनी चाहिए। उसकी मोटाई ३/८ इञ्च से अधिक न हो। उसका आकार गर्भाशय-शलाका के समान होना चाहिए। यदि यह नली न मिले तो १२ नम्बर की रबर की मूत्र निकालने वाली सलाई से काम चलाना चाहिए।

गर्भाशय के सम्मुखानमन (झुकना) में यह रबर की सलाई काँच की नली की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होती है, क्योंकि यह कोमल होती है और आसानी से भीतर प्रवेश कर सकती है। धोने के लिए "इरिंगेटर" नामक यन्त्र सबसे अच्छा है।

भगनाली के बाद गर्भाशय को धोना चाहिए। किन्तु इसको धोने से कभी-कभी अपस्मार (मृगी) रोग के सदृश एक प्रकार का आक्षेप उत्पन्न होता है। अतः यदि धोने से लाभ हो और उसमें पीब के कण निकलते हों तो इसे दिन में कई वार धोना चाहिए। यदि गर्भाशय को धोने से उसमें से कुछ न निकलता हो तो बार-बार धोना व्यर्थ है।

यदि ज्वर छूत के कारण उत्पन्न हुआ हो तो धोने से बड़ा लाभ है और यह कार्य उसी समय आरम्भ कर देना चाहिए जब ज्वर आरम्भ हो, क्योंकि प्रसव के एक सप्ताह के उपरान्त इसका कोई फल नहीं होता। धोने के बाद १५-२० ग्रेन "आयडोफ़ार्म" की वत्ती भग में रखना चाहिए। यदि गर्भाशय के भीतर खेड़ी का टुकड़ा होने के कारण अधिक परिमाण में और बार-बार रक्त बहता हो तो बार-

बार परीक्षा करने के लिए भग में उँगली न डालनी चाहिए, पेट को टटोलना और दबाना नहीं चाहिए और शोथयुक्त बनावटों को आराम देना चाहिए।

प्रोटोनाइटिस की चिकित्सा—यदि पेट की झिल्ली में शोथ हो तो इसके लिए सेंक से बढ़कर दूसरी चिकित्सा नहीं है। 'तारपीन' इस रोग की मुख्य औषधि है। अतः शोथ के ऊपर तारपीन लगा कर सेंक करना चाहिए। इसी को मिक्श्चर में मिला कर पिलाना चाहिए और पेट का अफरा दूर करने के लिए गुदा की पिचकारी द्वारा इसी को पेट में पहुँचाना चाहिए।

पेलिवक सेल्यूलाइटिस की चिकित्सा—यदि यह रोग प्रसव के एक सप्ताह के भीतर अन्य रोगों से संयुक्त होकर या अकेले सान्निपातिक ज्वर के साथ प्रकट हो तो पूरे परिमाण में कुनाइन मिक्श्चर पिलाना चाहिए। पीड़ा वन्द करने के लिए अफ़ीम सबसे अच्छी औषधि है। आजकल के वैद्य लोग इसे सब प्रकार की पीड़ा में देते हैं, किन्तु इससे भूख कम हो जाती है और दुर्बलता बढ़ने का भय रहता है। इसमें झिल्ली जितनी सूजी होगी पीड़ा भी उतनी अधिक होगी। जब तक ज्वर और पीड़ा विद्यमान रहे, तब तक पेट में अलसी की गरम-गरम पुलटिस बाँधनी चाहिए। पुलटिस बाँधने के पहले पेट में "ग्लिसरीन बेलेडोना या ओपियम" लगा लेना चाहिए।

"ठलू आइएटमेएट" और वेलेडोना का सत (एक्सट्रेक्ट) दोनों वरावर-वरावर मिला कर पेट में लेप करने से भी लाभ होता है।

रोगिणी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। आरोग्य होने पर शीघ्र ही काम-काज में न लगाना चाहिए। इससे रोग दुबारा उत्पन्न होता है। जब तक ज्वर और पीड़ा को शान्त हुए कुछ समय न बीत जाय, अर्थात् पेट में दवाने से भी पीड़ा न मालूम हो और शोथ अच्छी तरह न सूख जाय, तव तक रोगिणी को शय्या से न उठने देना चाहिए। इन लक्षणों के न होने पर भी रोगिणी से एक या डेढ़ मास तक किसी प्रकार का परिश्रम न कराना चाहिए। नीरोग होने पर भी शीत से बचाना चाहिए। शोथ में टिञ्चर आयोडीन लगाने से लाभ होता है। त्वचा की पीड़ा दूर न होने तक इसे लगाना चाहिए। इस रोग में केवल गरम जल की पिचकारी लगाना उत्तम है। जल इतना गरम हो कि रोगिणी उसे सह सके। जब तक लाभ न हो तव तक वरावर कम से कम दिन में दो वार इसका उपयोग करते रहना चाहिए। पाचक तथा वलदायक पथ्य और वलवर्द्धक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। जब रोग शान्त होने लगे तो ८० मिनिम "लाइकर हाइड्रार्ज परक्लोराइड" पानी में मिलाकर पिलावे। लाइकर हाईड्रार्ज परक्लोराइड ३० मिनिम, आयोडाइड पोटाश ५ ग्रेन, टिञ्चर

सिनकोना कम्पाउण्ड २० मिनिम, एक्वा (जल) १ औन्स, सबको मिला कर एक मात्रा बना ले और तरुण रोगिणी को ऐसी दो-तीन मात्राएँ प्रतिदिन पिलावे।

प्रसूत-ज्वर की शारीरिक चिकित्सा—एलोपैथिक चिकित्सा में कुनाइन इस रोग की प्रधान औषधि है, क्योंकि इसमें छूतनाशक तथा ज्वरनाशक दोनों गुण पाए जाते हैं और इस रोग में छूत तथा ज्वर इन्हीं दो को शान्त करने की आवश्यकता होती है। प्रारम्भ में अवस्था और प्रकृति देख कर १० ग्रेन या कुछ कम-बेश की एक मात्रा देनी चाहिए। फिर तीन-चार घण्टे के अन्तर से पाँच ग्रेन की मात्राएँ पिलानी चाहिए। यदि ज्वर रात-दिन बना रहे और पूर्वोक्त मात्राओं से कुछ लाभ न हो तो उसी औषधि को द्विगुण मात्रा में प्रातः और सायङ्काल खिलाना चाहिए। कुनाइन के साथ ५ या १० ग्रेन "फ़िनासटीन" या "ऐण्टी फिबरिन" मिला कर दें तो और भी अच्छा है। इसके मिलाने से कुनाइन के गुणों में विशेषता आ जाती है और दोनों औषधियाँ मिल कर शीघ्र ही रोग को दूर कर देती हैं। साधारण ज्वर में ५ ग्रेन ऐण्टी फिबरिन या ऐण्टी पायरन दिन में तीन बार और ५ ग्रेन कुनाइन दो बार देना चाहिए। इन औषधियों के देने से नाड़ी की गति घटने की अपेक्षा बढ़ने लगे तो इनका देना व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है। यदि कुनाइन

से कुछ भी लाभ न हो और रोगिणी की शक्ति क्षीण होती जाय तो ब्राण्डी (Brandy) देने से बहुत फ़ायदा होता है। पेट के फूलने पर १५-२० बूँद तारपीन का तेल थोड़ी सी चीनी मिलाकर खिलाना चाहिए।

प्रोटोनाइटिस की शारीरिक चिकित्सा—इस रोग में स्थानिक चिकित्सा के अतिरिक्त अफ़ीम की आधे-आधे ग्रेन की गोलियाँ बनाकर तीन-चार घण्टे बाद तीन-चार गोली खिलानी चाहिए। यदि वमन होती हो तो त्वचा में 'मॉर्फ़िया' (अफ़ीम का सत) की पिचकारी देनी चाहिए। इस रोग में अधिक दस्त होते हैं जिन्हें बन्द करना कठिन होता है। अफ़ीम और विस्मथ मिलाकर या डोवर्स पाउडर १० ग्रेन देने से दस्त में लाभ होता है। यदि रोगिणी पचा सके तो 'लोहे का टिङ्कचर' भी बहुत लाभदायक होता है।

यदि ऐण्टी फिब्ररिन, ऐण्टी पायरन आदि से कोई लाभ न हो तो ज्वर उतारने के लिए रोगिणी के शरीर में गीली चादर लपेट देनी चाहिए अथवा मस्तक पर बरफ़ बाँधना चाहिए। इस क्रिया से ज्वर की तेज़ी घट जाती है।

पथ्य—इसमें रोगिणी का बल बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए अल्प मात्रा में द्रव पथ्य थोड़ी-थोड़ी देर के उपरान्त (दो-दो घण्टे पर) देना चाहिए। दूध सबसे अच्छा पथ्य है, किन्तु वैद्य अवस्था देख कर इसके

सिवाय दूसरा पथ्य भी दे सकता है। इस रोग में भी मदिरा बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। इसको दिन में प्रति दो घण्टे बाद दो-तीन ड्राम की मात्रा में पिलाने से ज्वर घट जाता है और छूत का असर भी नष्ट हो जाता है। रोग की कठिन दशा में जब नाड़ी की गति बहुत तेज़ हो जाय तो एक दिन में ८-१० औन्स तक मदिरा पिला देनी चाहिए। ब्राण्डी की मात्रा को देश, काल, प्रकृति के अनुसार न्यूनाधिक भी कर सकते हैं।

रोगिणी के पीने के लिए शीतल तथा गरम जल दोनों ही समान हितकारक हैं। यदि रोगिणी वमन आदि उपद्रवों के कारण पथ्य का सेवन न कर सके तो गुदा द्वारा उसके पेट में भोजन पहुँचाना चाहिए। किन्तु दस्तों की हालत में गुदा द्वारा अन्न पहुँचाना भी कठिन हो जाता है। इसलिए पहले टिङ्कचर ओपियम २० मिनिम, ऑक्साइड ऑफ़ बिसमथ ४० ग्रेन, गोंद का लुआब १ औन्स, सब को मिला कर गुदा में पिचकारी द्वारा पहुँचावे। यदि यह पचने लगे तो अण्डे की ज़र्दी को दूध या ब्राण्डी में मिला कर देना चाहिए। यदि केवल दूध न पचे तो उसे जौ के यूष (आश) में मिला कर देना चाहिए।

प्रसूतापस्मार (मृगी)

यह मृगी से मिलता-जुलता हुआ एक रोग है, जो

प्रायः प्रसव के पूर्व, किन्तु कभी-कभी प्रसव के समय और प्रसव के पीछे भी प्रसूता को हो जाता है। इसके लक्षण मृगी से मिलते हैं और इसीलिए इसको प्रसूता-पस्मार कहते हैं। यह अकस्मात् प्रकट होता है। इसमें सरल और कठिन दोनों प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं। मस्तक और नाड़ियों में पीड़ा होती है। कभी-कभी दृष्टि, विचार तथा बुद्धि में भी भेद हो जाता है। आरम्भ में शरीर के पट्ठों में तीव्र आक्षेप होता है, इस खिंचाव के कारण रोगिणी का रूप डरावना हो जाता है, आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ जाती हैं, मुख में अधिक खिंचाव होने पर दन्त-पंक्ति और जीभ बाहर निकल आती है। जीभ दोनों दन्त-पंक्तियों के बीच में दब जाती है और रोगिणी ख़ूब ज़ोर से दाँतों को पीसती है इस दशा में यदि साव-धानी न की जाय तो जीभ कट जाती है या उसमें घाव हो जाता है। मुख का वर्ण आरम्भ में फीका होता है, परन्तु थोड़ी देर बाद नीलापन लिए हुए काला दिखाई देने लगता है। गले की नाड़ियाँ फूल जाती हैं, धमनियाँ ज़ोर से चलने लगती हैं, मुख से झागदार थूक निकलता है और मुख का आकार ऐसा बदल जाता है कि पहचानना कठिन हो जाता है। शरीर के सम्पूर्ण पट्ठों में ऐंठन पड़ जाती है। पहले हाथ और भुजाएँ कठोर हो जाती हैं जिससे अँगूठा मुट्ठी में बँध जाता है। पीछे हाथ-पैर थर्राने लगते हैं और कुल शरीर

में जूड़ी की भाँति कम्प तथा ऐंठन होती है। शरीर के स्थिर पट्ठे (Involutury muscle) भी अस्थिरों के साथ काँपने लगते हैं। आरम्भ में श्वास रुक जाता है, किन्तु इसके पश्चात् वह शीघ्र तथा अनियमित रूप से चलने लगता है और कण्ठ से सर्प के फूत्कार के सदृश शब्द निकलता है। रोगिणी मूर्च्छित हो जाती है तथा वेहोशी के समय उसके मल-मूत्र स्वतः निकलने लगते हैं। वेग के शान्त होने पर उसे अपनी पूर्व दशा का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। रोग का वेग कुल तीन-चार मिनट से अधिक नहीं रहता है। कभी-कभी इससे भी कम समय में उतर जाता है। कभी-कभी वेग दुबारा भी लौटता है और दूसरी बार भी पूर्वोक्त सब लक्षण पाए जाते हैं। जितने अधिक वेग आते हों रोग को उतना ही कठिन समझना चाहिए। साधारण रोग के दो-तीन वेग (बारी) होते हैं। वेगों के शान्त होने पर रोगिणी चैतन्य जान पड़ती है, परन्तु उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती। जिस रोगिणी को निरन्तर वेग होता है वह शान्तिकाल में भी वेसुध पाई जाती है। सरल लक्षणों में पूर्ण अज्ञानता नहीं पाई जाती।

यदि गर्भकाल में आक्षेप आरम्भ हो तो प्रसव-काल समीप ही समझना चाहिए। यह नियम है कि यदि प्रसव के समय आक्षेप आरम्भ हो तो प्रसव-पीड़ा बार-बार और अति कष्टदायक होती है। इसका कारण यह बताया

जाता है कि गर्भाशय में भी आक्षेप होता है। रोगिणी को इस बात का पता भी नहीं चलता कि बालकोत्पत्ति हो रही है और बच्चा पैदा हो जाता है। इस रोग का अन्तिम परिणाम भयङ्कर होता है। पहले १०० में २५ स्त्रियाँ मर जाया करती थीं, परन्तु आजकल "क्लोरोफ़ार्म" नामक औषधि सुँघाने से मृत्यु-संख्या बहुत कम हो गई है। वेग के समय श्वास या हृदय की गति बन्द हो जाने से मृत्यु होती है। यह तो हुई माता की दुर्दशा, बालक को भी कम दुःख नहीं होता। उसका श्वास बन्द हो जाता है। उसे गर्भ के दिन पूरे होने के पहले ही पैदा होना पड़ता है। इससे प्रत्येक ३६ में १० बालकों की मृत्यु हो जाती है। गर्भाशय में कठिन आक्षेप तथा सङ्कोच होने के कारण शिशु के ऊपर बहुत दबाव पड़ता है।

आक्षेप-निवारण के लिए अङ्गरेज़ी औषधियों में क्लोरो-फ़ार्म सबसे उत्तम है। इसे सुँघाते ही आक्षेप रुक जाता है। शारीरिक शुद्धि करा कर ½ रत्ती मकरध्वज और कस्तूरी मिला कर शहद या पान के रस के साथ सेवन करने से रोग दूर होकर शरीर बलवान् बनता है।

मस्तक की नाड़ी पर रक्त का दबाव पड़ना

गर्भिणी के रक्त में गर्भ के कारण अनेक परिवर्त्तन होते हैं। इनमें से एक है रक्त का पानी के समान हो जाना।

यदि इसके साथ वृक्क (गुर्दे) का रोग भी संयुक्त हो तो रक्त और भी अधिक पतला पड़ जाता है। ये दोनों विपत्तियाँ प्रायः एक साथ ही पाई जाती हैं। रक्त-विकार के कारण मस्तक की नाड़ियों में तनाव होता है गर्भकाल में हृदय कुछ बढ़ जाता है। इससे तनाव और भी अधिक हो जाता है। इसका अन्तिम फल यह होता है कि मस्तक की ओर रक्त अधिक जाता है और रक्त का जल मस्तिष्क की छोटी-छोटी नाड़ियों में प्रवेश कर उन पर दवाव डालता है। इससे आक्षेप होता है और एनीमिया रोग उत्पन्न हो जाता है।

एक या दो बार आक्षेप उत्पन्न होने पर शीघ्र ही जल के सदृश दस्त लाने वाली औषधि देनी चाहिए। ज्ञान-युक्त स्त्रियों को "जेलप पाउडर" एक ड्राम देने से पतले दस्त होते हैं। रोगिणी ज्ञानशून्य हो तो उसे "कैलोमेल" ५ ग्रेन और "क्रोटन ऑइल" (जमालगोटे का तैल) २ बूँद दोनों को मिला कर सेवन कराना चाहिए। इससे भी पूर्वोक्त प्रकार के दस्त होते हैं। इस रोग में "क्लोरोफ़ार्म" एक अव्यर्थ औषधि है। इससे रोग का बल घट जाता और रोगिणी के ऊपर उसके प्रभाव भी कम पड़ते हैं। यदि आक्षेप के कारण स्त्री अचेत हो गई हो तो इसे सुँघाते ही वह सचेत हो जाती है और नाड़ियों का तनाव भी कम होता है। श्वास की दीर्घता और पुतलियों के सङ्कोच में

कमी होती है। मुखमण्डल की काली नाड़ियों में रक्त का जमाव कम होता है।

यदि वेग बार-बार होता हो, शान्ति के समय भी अचेतनता रहती हो और शारीरिक ताप अधिक होता हो तो शीघ्र क्लोरोफ़ार्म सुँघाना चाहिए। प्रथम बार औषधि को इतनी सुँघाना चाहिए जिससे रोगिणी पूर्ण बेसुध हो जाय और पीछे बार-बार थोड़ी-थोड़ी सुँघाना चाहिए। यदि लक्षण कठिन हों, श्वास में शीघ्रता और बेचैनी हो तो कुछ अधिक मात्रा में सुँघाना चाहिए। शरीर की अवस्था के अनुसार कम प्रमाण में घण्टों तक क्लोरोफ़ार्म सुँघाने से भी हानि नहीं होती।

क्लोरल हाइड्रेट १५ ग्रेन, ब्रोमाइड पोटाश १५ ग्रेन, सिरिपरोज़ २ ड्राम और जल १ औन्स, इन सबको मिला कर एक मात्रा बना ले और ऐसी चार-पाँच मात्राएँ दिन में और रात में भी दे। किन्तु यह औषधि साधारण दशा में उपयोगी है। कठिन दशा में रोगिणी के बेहोश हो जाने पर इसका पिलाना कठिन है। अतः प्रसव के पश्चात् उत्पन्न होने पर रोग साधारण माना जाता है। इसी दशा में "पाइ-लोकार पाइन" नामक औषधि को एक ग्रेन का तीसरा भाग लेकर त्वचा में पिचकारी द्वारा प्रक्षेप (Injection) करने से लाभ होता है। यदि रोगिणी दवा पीने में असमर्थ हो तो गुदा द्वारा पिचकारी देकर पहुँचाना चाहिए।

कठिन दशा में 'मारफ़ाइन एसिटेट १/४ ग्रेन की त्वचा में पिचकारी देनी चाहिए। क्लोरोफ़ार्म के सुँघाते समय भी पूर्वोक्त औषधियों का प्रयोग करने में कोई हानि नहीं है। वेग के समय जीभ की रक्षा करनी चाहिए। जबड़ों के बीच में एक रूमाल कई तह करके तथा बोतल का काग या कोई रबड़ का टुकड़ा दबा देने से दाँत आपस में नहीं मिलने पाते और जीभ कटने से बच जाती है। परन्तु ऐसे समय में अपने हाथ की उँगलियों को बचाए रखना चाहिए।

गर्भ-काल में रोग के उपस्थित होने पर साधारण दशा में, जब कि एक-दो या तीन से अधिक वेग नहीं आते हों और रोगिणी बेसुध न होती हो, दस्त साफ़ कराकर क्लोरल और ब्रोमाइड वाला प्रयोग देना ही अच्छा है। पीने को केवल दूध देना चाहिए।

रोग कठिन हो और प्रसव-काल समीप हो तो बालक पैदा करा देना चाहिए। इससे माता और बालक दोनों की रक्षा होगी। प्रसव होते ही इस रोग के सम्पूर्ण लक्षणों के दूर हो जाने की पूर्ण आशा रहती है। यदि प्रसव हाथों या यन्त्रों द्वारा कराना पड़े तो पहले क्लोरोफ़ार्म सुँघा देना चाहिए। यह सब काम किसी योग्य सर्जन द्वारा कराना अच्छा है।

प्रसव होने के अनन्तर प्रसूता नीरोग ज्ञात होता

और वेग बहुत कम तथा विलम्ब से आते हैं। शारीरिक गर्मी घट जाती है, किन्तु चेतनता दो-एक दिन बाद प्राप्त होती है। यदि वेग (दौरे) बराबर आते रहें तो क्लोरोफ़ार्म सुँघाना बन्द न करना चाहिए और इस समय 'पाइलो-कारपाइन' की त्वचा में पिचकारी देनी चाहिए और क्लोरल ब्रोमाइड मिक्श्चर पिलाना चाहिए। मर्फ़िया की भी त्वचा में पिचकारी देनी चाहिए। इस रोग में ज्वर का अधिक होना बहुत हानिकारक है। यदि ज्वर का मान १०४ दर्जे से अधिक हो तो गीली चद्दर लपेटने वाली क्रिया करनी चाहिए और शिर में बरफ़ बाँधनी तथा शीतल जल में 'स्पञ्ज' भिगो कर शरीर को पोंछना चाहिए।

सूतिका रोग

अब तक पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति के अनुसार प्रसूता के रोगों का वर्णन किया गया। अब आयुर्वेद के मतानुसार इसका वर्णन लिखा जायगा। प्रसूतावस्था में स्त्री में बल तथा मांस की कमी रहती है। सूतिका को कुपथ्य के कारण अरुचि, मन्दाग्नि, ज्वर, कास आदि रोग घेर लेते हैं। प्रसूतावस्था में उपचार के ठीक न होने से वायु विकृत होकर रक्त का सञ्चालन रोक देता है और मल-मूत्र भी खुल कर साफ़ नहीं आने पाता। इससे रक्त-शिराओं का मुख बन्द होकर गर्भाशय के भीतर वायु भर

जाती है। कमर, शिर और सर्वाङ्ग में पीड़ा उत्पन्न होती है, क्षुधा कम हो जाती है तथा ज्वर आने लगता है। इसके सिवाय ज्वर के साथ और भी अनेक प्रकार के उपद्रव प्रकट होते हैं। सूतिका रोग के लक्षण में लिखा है कि—

प्रसूतावस्था में अङ्गों में पीड़ा, ज्वर, कास, तृष्णा, भारीपन, शोथ, शूल और अतिसार रोग होते हैं। इसीलिए इन्हें सूतिका रोग कहते हैं।

आयुर्वेद-शास्त्र में प्रसूता के लिए दशमूल को सर्वोत्तम औषधि बतलाया है। दो तोले दशमूल द्रव्य लेकर ३२ तोले पानी में पका कर ४ तोले अवशेष रहने पर घी मिला कर दोनों समय पीने से प्रसूता की सम्पूर्ण व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। यदि दशमूल के क्वाथ को जल के स्थान में प्रयोग किया जाय तो और भी लाभदायक है। वैद्य लोग इसके टब में बैठा कर स्नान भी कराते हैं। इसके आसव, अरिष्टादि से प्रसूता की पुरातन व्याधियों में भी बहुत लाभ होता है।

देवदार्व्यादि क्वाथ—देवदारु, बच, कूट, पीपल, सोंठ, चिरायता, कायफल, कुटकी, धनिया, हरड़, गजपीपल, अतीस, जवासा, बड़ा गोखुरू, काकड़ासिङ्गी, गिलोय, काला ज़ीरा, छोटी और बड़ी कटेरी की जड़, सबको दो-दो तोले लेकर जौकुट करके २५ मात्रा बना ले। फिर क्वाथ के विधान से अष्टमांश शेष क्वाथ बनाकर उसमें ४ रत्ती

भुनी हुई हींग तथा सेंधानमक का चूर्ण मिलाकर सायं-प्रातः प्रसूता को पान कराने से ज्वर, कास, शूल, शोथ, अतिसार, तृष्णा, कम्प, शिर-पीड़ा, उबकाई आदि वात और कफ से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। यदि यह क्वाथ पहले से ही प्रयोग किया जाय तो सञ्जीवनी के समान लाभ पहुँचाता है।

अश्वगन्धादि पाक (पञ्जीरी)—असगन्ध, सतावर, बड़ा गोखुरू, माजूफल, मोचरस, कमरकस, बबूल की फली, बड़ी इलायची, दालचीनी, गाजर के बीज, उटीङ्गण बीज, चिकनी सुपारी, सेमल की मुसली, श्वेत मुसली, काली मुसली, तेजबल, इन्द्रजौ, ढाक का गोंद, धव के फूल, कौंच के बीज, मजीठ, बीजबन्द, सोंठ, तालमखाना, अजवाइन, बायविडङ्ग, पीपरामूल, समुद्रशोष और झाऊ का फल, सब एक-एक तोला, सङ्गजराहत ३ तोला, चिरौंजी ५ तोला, मुनक्का और पिस्ता दस-दस तोला, बादाम की गिरी एक पाव, गाय का घी तीन पाव, गेहूँ और चीनी डेढ़-डेढ़ सेर लेकर पहले सङ्गजराहत पर्यन्त सब औषधियों का बारीक चूर्ण कर डाले और चिरौंजी, पिस्ता, गिरी तथा मुनक्कों को साफ़ करके बारीक कतर डाले। बादाम की गिरी को पानी में भिगो कर छिलके उतार के सिल पर पीस ले, और आटे में मल दे। बाद में आध सेर घी कढ़ाई में डाल कर मन्द-मन्द आँच से उस आटे को भूने। जब पकते-पकते

पीलापन आ जाय, तो नीचे उतार उसमें औषधियों का चूर्ण और बचा हुआ पाव भर घी मिला कर हाथ से मले; फिर चीनी मेवा आदि मिला कर रख ले। ५ तोले की मात्रा दिन भर में तीन-चार बार एक-एक, दो-दो तोला खाकर गुनगुना गाय का दूध पीने से प्रसूता के ज्वर, खाँसी आदि सब रोग दूर होकर शरीर में बल की वृद्धि होती है। प्रसव के समय अधिक रक्तस्राव से उत्पन्न हुई निर्बलता दूर होकर क्षुधा बढ़ती है और बात-विकार से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग दूर हो जाते है।

सौभाग्य-शुण्ठी मोदक—बालक उत्पन्न होने के अनन्तर प्रसूता स्त्री को अधिक गरम पदार्थ सेवन करना चाहिए। शीत-ऋतु में ऐसा करना लाभदायक है और यदि प्रसूता की प्रकृति भी शीतल हुई तब तो और भी लाभ होता है, किन्तु इससे विपरीत अवस्थाओं में हानि होती है। गरम वस्तुओं का सेवन न करा कर यदि यह मोदक प्रसूता को खिलाया जाय तो प्रत्येक ऋतु में समान लाभ होता है। इससे प्रसूता के सम्पूर्ण रोग दूर होकर शरीर में बल की वृद्धि होती है।

(१) तेजपात, जावित्री, स्याह ज़ीरा, पीपरामूल, वच, चित्रक, पीपल, अगर, सफेद चन्दन और अजमोद, प्रत्येक एक-एक तोला, सौंफ़, विधारा, जायफल, नागकेशर, धनियाँ, श्वेत ज़ीरा, दालचीनी, अकरकरा, कमलगट्टे की

गिरी, नागरमोथा, ख़स, लौंग, कालीमिर्च, शीतल चीनी प्रत्येक डेढ़-डेढ़ तोला, त्रिफला, असगन्ध, छोटी इलायची, सतावर, श्वेत मुसली, सोंठ, सिंघाड़ा और बरियारा की जड़ दो-दो तोला, चिरौंजी ५ तोले, किशमिश, अख़रोट और बादाम की गिरी दश-दश तोले। पिस्ता और गोघृत एक-एक पाव, सोंठ डेढ़ पाव, चीनी २½ सेर, बकरी का दूध ४ सेर, इकट्ठा करके रख ले। पहले मेवों को साफ़ करके कतर ले। सोंठ का चूर्ण अलग और अन्य औषधियों का चूर्ण अलग करके पहले दूध में सोंठ को डाल कर मन्द-मन्द आँच से भून कर मावा बना ले। बाद को चीनी की चाशनी करके उसमें सब चीज़ों को मिलाकर दो-दो तोले के लड्डू बाँध ले। दोनों समय प्रसूता के बलाबल के अनुसार दो या एक लड्डू खाकर गाय का ताज़ा गरम दूध पीने से प्रसूता की खाँसी, शोथ, ज्वर, पाण्डु, शूल, मन्दाग्नि, श्वास आदि सब रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर में बल बढ़ता है। यदि यह मोदक गर्भिणी स्त्री को खिलाया जाय तो गर्भस्थ बालक पुष्ट होता है, गर्भिणी का बल नहीं घटने पाता तथा समय पर सुख से बालक उत्पन्न होता है।

(२) जावित्री, जायफल, श्वेत ज़ीरा, नागरमोथा, सौंफ़, शतावर, कमलगट्टा, सिंघाड़ा, कसेरू, तज, छोटी इलायची, धनियाँ, धवपुष्प, कालीमिर्च और कपूरकचरी दो-दो तोला, लोह तथा अभ्रक चार-चार तोला, गाय का

घी एक पाव, चीनी और गो-दुग्ध दो-दो सेर, इन औषधियों के पूर्वोक्त प्रकार से लड्डू बनाकर छः-छः माशे दोनों समय दूध के साथ सेवन करने से प्रसूता के सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं और शरीर में बल की वृद्धि होती है।

विजयादि अवलेह—साफ़ धुली भाँग और तज छः छः माशे, छोटी इलायची के बीज १ तोला, गिलोय का सत और मूँगाभस्म डेढ़-डेढ़ माशे, दुग्ध में शोधी हुई छोटी पीपल, और वंशलोचन चार-चार तोले, मिश्री और गोघृत आठ-आठ तोले और एक साल का पुराना मधु २४ तोले, सब औषधियों का कपड़छन चूर्ण करके शहद और घी मिलाकर एक काँच के पात्र में रख दे। तीन-तीन माशे प्रातः सायङ्काल खाकर ऊपर से आध पाव बकरी का गुनगुना दूध पीने से प्रसूता की खाँसी, ज्वर आदि सब रोग दूर हो जाते हैं। इस अवलेह को यदि क्षय वाली स्त्री सेवन करे तो उसे भी बहुत लाभ होता है।

सूतिकारि रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रक तथा ताम्रभस्म प्रत्येक समभाग में लेकर सबको पान के रस में घोट कर मटर बराबर गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा ले। इनको अदरक के रस के साथ सेवन करने से प्रसूतावस्था के ज्वर, अरुचि, अग्निमान्द्य तथा शोथ आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

सूतिकाघ्न रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लोह तथा

अभ्रक-भस्म, जावित्री और सौवर्चल लवण, इनको सम-भाग में लेकर चूर्ण करके बकरी के दूध में घोट कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। इनको योग्यानुपान—शहद, बनफ़शा-शर्बत आदि—के साथ सेवन करने से सूतिका के सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं तथा श्वास, कास, ज्वर, ज्वरातिसार आदि में भी बहुत लाभ होता है।

बृहत्सूतिका-वल्लभ रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, अभ्रक, स्वर्ण, हरिताल और रजत-भस्म, कर्पूर, अफ़ीम, जावित्री और जायफल को समभाग में लेकर चूर्ण करके नागर-मोथा, बड़ी इलायची और सेमल की जड़ की छाल, इनके क्वाथ या रस में भावना देकर गोली या शुष्क चूर्ण बना ले। इस रस को २ रत्ती मात्रा में शहत, शर्बत आदि अनुपान के साथ सेवन करने से सूतिका की ग्रहणी, अतिसार, अग्निमान्द्य, दुर्बलता आदि रोग नष्ट होते हैं और शरीर में पुष्टि, कान्ति, मेधा और धारणा की वृद्धि होती है।

धातक्यादि तैल—तिल का तेल ४ सेर, आँवलों का रस १६ सेर, बकरी का दूध १६ सेर और कल्क के लिए धाय के फूल, धव की छाल, धनियाँ, आँवला, धतूरे का फल, धूंना, नील की जड़, कदम्ब, नीम की छाल, तगर, नींबू की जड़, नागरमोथा, सोंठ, हरड़, कमल की जड़, अर्जुन की छाल, तेजपात, श्योनाक (टेंटू) की छाल, करञ्ज-बीज, तुलसी-पत्र, जामुन की छाल, मुलेठी, समुद्रफेन, और रीठा। तथा

इनके अतिरिक्त कैथ का फल, पीपल, घीग्वार तथा केशर, सब मिला कर १ सेर ले। इसे पीस कर पूर्वोक्त द्रव्यों में डाल कर विधान के अनुसार तेल पकाकर तैयार कर ले। इस तेल के शरीर में मर्दन करने से सूतिका के सब रोग नष्ट होते हैं और शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है।

ऊपर लिखी हुई साधारण चिकित्सा करने से यदि कुछ लाभ न हो तो रोग के विशेष लक्षणों को देख कर उनके लिए विशेष चिकित्सा करनी चाहिए। पथ्य-विधान सदा ठीक रखना चाहिए और स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना चाहिए।

सूतिका रोग में पथ्यापथ्य—सूतिका रोग में रोग-विशेष की प्रधानता देख कर उसी रोग के पथ्यापथ्य का पालन करना चाहिए। साधारण सूतिकावस्था में पुराने चावलों का भात, मूँग और मसूर का यूष (रस), छोटे बैंगन, मूली, कच्चे गूलर, परवल आदि चीज़ों के शाक और अनारदाना आदि अग्निवर्द्धक तथा वात-कफ-नाशक द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। इसके सिवाय वात-कफ-नाशक क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

निषिद्ध कर्म—सूतिका रोग में गुरुपाक भोजन, तेज़ मिर्च, और खटाई आदि चीज़ों का भोजन, धूप में घूमना, परिश्रम, ठण्ढी जगह में रहना, मैथुन करना, लङ्घन करना और अधिक खाना विशेष रूप से हानिकारक है। सूतिका

स्त्री को प्रसव के बाद तीन-चार महीने तक बहुत सावधानी से रहना चाहिए।

दूध का कम होना

बहुत सी स्त्रियों के बालकोत्पत्ति के बाद किसी कारण और बहुतों के स्वभाव से ही दूध कम होता है। इन स्त्रियों के बालकों की पुष्टि में यथेष्ट आहार न मिलने के कारण बहुत बाधा पड़ती है। यद्यपि माता के दूध के अभाव में बच्चे को गाय या बकरी का दूध पिलाने का विधान है, तथापि वह दूध बच्चे के लिए कृत्रिम होने के कारण माता के स्वाभाविक दूध की बराबरी नहीं कर सकता। इसलिए जहाँ तक हो सके, चिकित्सक को माता के दूध को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रसूता होने के बाद या पूर्व अधिक शोक करना दूध की कमी का एक मुख्य कारण है। इसके सिवाय अधिक क्रोध, लङ्घन या परिश्रम करने से भी शरीर में वायु और पित्त बढ़कर स्तनवाही स्रोतों के मुखों को सुखा देते हैं। इससे दूध का बढ़ना और बहना दोनों बन्द हो जाते हैं। पूर्वोक्त कारणों के न होते हुए भी यदि स्त्री का बालक में स्नेह न हो तो दूध कम हो जाता है।

रक्त से दूध बनता है। अतः रक्त की कमी से दूध में भी कमी आ सकती है। शिरावेध, रक्तपित्त (नकसीर),

मासिक स्राव या प्रसव के समय अधिक रक्त निकल जाने तथा ऐसी वस्तुओं को, जिनमें रक्तवर्द्धक अंश बहुत कम है, खाने से रक्त में कमी हो सकती है। इन सब कारणों से दूध भी कम हो सकता है। शरीर में वात, पित्त, कफ की वृद्धि और विकृति, या स्तनों में ही तीनों दोषों का प्रकोप भी दूध की कमी का कारण हो सकता है।

रोग के कारणों को दूर करने के बाद स्त्री को ऐसे पदार्थ खिलाना चाहिए जिससे उसके शरीर में रक्त की वृद्धि हो। अङ्गूर, सेब, लीची, अनार आदि फलों से रक्त की उत्पत्ति में बहुत सहायता मिलती है। प्रसूता को सदैव प्रसन्न रख कर उसे गेहूँ, जौ, शालि या साठी चावलों का भात, मांस-रस, सुरा (शराब), काँजी, तिलों का कल्क, लहसुन, मछली, केला, भसीड़ा (कमल-नाल) विदारी-कन्द, मुलेठी, लौकी, पेठा, कद्दू, मीठी तुम्बी, कलमी शाक आदि सेवन कराना चाहिए।

(१) जङ्गली कपास की जड़ और गन्ने की जड़ दोनों को साफ़ कर समभाग में काँजी के साथ पीस कर नित्य एक तोला पिलाने से दूध की वृद्धि होती है।

(२) हल्दी, दारु हल्दी, पृष्टिपर्णी, इन्द्रजौ और मुलेठी, इनका क्वाथ बना कर पिलाने से दूध की कमी दूर होती है।

(३) सौंफ़, सफ़ेद ज़ीरा और सौवर्चल नमक,

इनका समभाग में चूर्ण करके प्रतिदिन तक्र के साथ ६ माशा सेवन करने से दूध की अत्यन्त वृद्धि होती है।

(४) शतावर, चावल और सफ़ेद ज़ीरा, इनका बारीक चूर्ण करके प्रतिदिन ६ माशा चूर्ण गाय के दूध के साथ सेवन करने से दूध की वृद्धि होती है।

प्रसूता-प्रकरण में लिखे हुए ज़ीरकादि मोदक आदि से भी दूध की वृद्धि होती है। वीर्यवर्द्धक जितनी भी औषधियाँ हैं वे सब दूध को बढ़ाती हैं।

दुग्ध की अधिक वृद्धि

जैसे दूध की कमी एक प्रकार का रोग है, वैसे ही दूध की अधिक वृद्धि भी एक प्रकार का रोग ही है। अधिक दूध निकलने का अर्थ है अधिक रक्त का व्यय। इससे स्त्री बहुत कमज़ोर हो जाती है। चिकित्सा करते समय दुग्धवाही स्रोतों के मुखों को सिकोड़ने के लिए गरम और खुश्क औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। दूध को कम करने के लिए कुनैन सबसे अच्छी औषधि है। स्त्री को खाने के लिए भुने हुए चने, सवाँ और बाजरे की रोटी, कोदो, कँगुनी का भात और मेथी, आलू आदि का शाक देना चाहिए। उसे ऐसी वस्तुएँ खिलानी चाहिए जिससे मासिक स्राव होने लगे। लाख और मुरदाशङ्ख दोनों को पीस कर गुलरोग़न में मिला कर छाती में लेप करना

चाहिए। इसी तरह ज़ीरा और मसूर दोनों को सिरके में पका कर छाती में लगाना तथा ईसबगोल के पत्तों को पीस कर स्तनों में लेप करना चाहिए। स्त्री से विशेष परिश्रम, जागरण आदि कराना चाहिए तथा भोजन कम देना चाहिए।

दूषित स्तन्य (दूध)

बालक को पिलाने के पहले माता या धाय के दूध की परीक्षा करके देख लेना चाहिए कि वह विकृत तो नहीं है। बालक को दूध उसी समय पिलाना चाहिए जब वह पूर्णतया शुद्ध हो। यदि दूध को जल में डालने पर वह शीतल, निर्मल, पतला और शङ्ख-वर्ण होता हुआ जल में मिल जावे अर्थात् उसमें झाग न हो, उसे जल में डालने से लकीरें न बनें, वह जल में तैरने न लगे और न नीचे ही बैठ जाय, तो उसे शुद्ध दूध समझना चाहिए। ऐसा ही दूध पीने से बालक के शरीर में बल और वृद्धि होती है और वह सदा नीरोग बना रहता है।

दूध में प्रधान कारणों के सिवाय आवस्थिक कारणों से भी विकृति आ जाती है। यदि माता या धाय गर्भिणी हो, शोक तथा क्षुधा से पीड़ित हो, अत्यन्त थकी हुई हो, विकृत धातु वाली हो, ज्वर से पीड़ित हो, अत्यन्त क्षीण या अधिक मोटी हो, तो उसे बच्चे को दूध नहीं पिलाना चाहिए।

स्त्रियों के मिथ्या आहार-विहार, गुरु असात्म्य (जो अनुकूल न हो) और विपरीत भोजन (जैसे मछली के साथ दूध, दूध के साथ नमक) करने आदि, से वातादि दोष कुपित होकर दूध को बिगाड़ देते हैं। ऐसा दूषित दूध पीने से बालकों को नाना प्रकार के रोगों का और प्रायः मृत्यु का भी शिकार बनना पड़ता है।

वात-दूषित स्तन्य—कषैला, गाढ़ा और झागदार होता है। पानी डालने से ऊपर ही तैरने लगता है।

पित्त-दूषित स्तन्य—चरपरा, खट्टा, नमकीन और पतला होता है। इसका वर्ण पीला रहता है।

कफ-दूषित स्तन्य—गाढ़ा, लसदार, कुछ खट्टा और सफ़ेद रङ्ग का होता है। जल में डालने से वह डूब जाता है। एक ही साथ दो या तीन दोषों के लक्षण मिलने से दूध को द्विदोषज या त्रिदोष-दूषित समझना चाहिए।

वात-दूषित स्तन्य में दशमूल—बेल, गाम्भारी, अरणी, श्योनाक (अरलू), पाढल की छाल, छोटी-बड़ी कटेली, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, गोखुरू—का क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए।

पित्त-दूषित स्तन्य में गिलोय, शतावर, पटोलपत्र, नीम के पत्ते, लाल चन्दन और अनन्तमूल, इन ओषधियों का क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए।

कफ-दूषित स्तन्य में त्रिफला, नागरमोथा, चिरायता,

कुटकी, मजीठ, देवदारु, बच और पाढ़, इन औषधियों का क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए।

द्वन्द्वज और त्रिदोषज स्तन्य में दो या तीन दोषों की मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिए।

स्तन-शोथ

दूध के स्तनों में जम जाने, दूध पिलाते समय स्तन का मुख (मिटनी) बालक के दाँतों से छिल या कट जाने, समय पर बालक को दूध न पिलाने के कारण दूध के रुक जाने, बालक की मृत्यु हो जाने, किसी रोग के कारण बालक के दूध न पीने, प्रसूता की निर्बलता, उसके ऊपर शीत और गर्मी का शीघ्र प्रभाव पड़ने अथवा स्तनों में चोट लगने के कारण स्तनों में शोथ उत्पन्न होता है। यह नूतन और पुरातन भेद से दो प्रकार का होता है तथा कभी एक और कभी दोनों स्तनों में होता है।

स्तनों का आमाशय, जिगर, डिम्ब-ग्रन्थि, गुर्दे और गर्भाशय आदि भीतरी यन्त्रों से घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इन यन्त्रों में कहीं शोथ आदि होने से उसका प्रभाव स्तनों पर अवश्य पड़ता है। नवीन शोथ कठोर तथा उसकी पीड़ा असह्य होती है। हाथों को इधर-उधर हिलाने के समय पीड़ा से प्राण निकल जाते हैं। स्तन स्पर्श में कठोर और मिटनी उभरी हुई होती है। उसमें पीड़ा, दाह और गर्मी

अधिक होती है। लटके हुए स्तनों में पीड़ा और भारीपन ज़्यादा मालूम पड़ता है। स्तनों में दुग्ध हो तो वह कम हो जाता है।

शोथ के कारण शरीर में कँपकँपी देकर ज्वर चढ़ता है और शारीरिक उष्णता बढ़ जाती है। कभी-कभी गर्मी इतनी अधिक हो जाती है कि रोगिणी में सन्निपात के लक्षण दिखाई देते हैं। क्षुधा कम और तृष्णा अधिक हो जाती है।

कभी-कभी नवीन शोथ ही पुरातन का रूप धारण कर लेता है। इसमें पीड़ा मन्द तथा कठिनता अधिक होती है। रोगिणी के अधिक दुर्बल होने के कारण केन्सर का भ्रम होता है। किन्तु केन्सर में मिटनी दब जाती है और बग़ल की गिल्टियों में शोथ होता है जो स्तन-शोथ में नहीं पाया जाता। रोगिणी यदि अधिक निर्बल या अस्वस्थ हो तो शोथयुक्त स्थान में पीव भी पड़ जाती है।

नवीन शोथ में स्तन को गरम जल में अफ़ीम या पोस्ते की डोडी डाल कर कपड़ा भिगा कर या सूखा ही सेंक करना चाहिए अथवा "बेलेडोना प्लास्टर" वा "ऐक्सट्रैक्ट बेलेडोना" को ग्लेसिरीन में मिला कर लेप करना चाहिए तथा रसोत, अफ़ीम और बेलेडोना, तीनों को गरम करके बाँधना चाहिए। छाती को हरदम पट्टी की सहायता से बाँधे रहना चाहिए। उक्त लेप करने के बाद बच्चे को

दूध नहीं पिलाना चाहिए, क्योंकि उसमें विष का अंश है जो बच्चे को हानि पहुँचा सकता है।

पुराने शोथ में स्तन को पट्टी से कस कर या स्टिकिङ्ग प्लास्टर लगाकर बाँधना चाहिए। प्लास्टर को इस तरह चिपकाना चाहिए जिससे स्तन खिंचकर बँध जाय। स्तन पर बेलेडोना को ग्लेसिरीन में मिलाकर वा "ओलियेट ऑफ़ मर्करी ओइन्टमेन्ट" वा "ब्लू ओइन्टमेन्ट" की मालिश करनी चाहिए। पीब पड़ जाय तो स्तन को चीर कर पीब निकाल देना चाहिए। नूतन शोथ में कास्ट्राइल, सनाय, हरड़ आदि रेचक औषधियाँ देकर पश्चात् ज्वर-नाशक औषधियाँ "ज्वर-मिक्श्चर" या मृत्युञ्जय-रस और दन्ती मिलाकर शहद के साथ दे। पीड़ा दूर करने के लिए १० ग्रेन एण्टी पायरिन का प्रयोग करे अथवा पूर्वोक्त केशवादि वटी का प्रयोग करे अथवा टिङ्चर एकोनाइट ५ बूँद, टिङ्चर ओपियम १० बूँद, लाइकोर एमूनिया एसीटेटिस १ ड्राम, स्पिरिट ऑफ़ नाइट्रिक ईथर १५ बूँद, एका कैम्फ़र १ औन्स, सबको मिलाकर एक मात्रा बनावे। ऐसी ३-४ मात्रा प्रत्येक ३-४ घण्टे बाद देनी चाहिए। पुरातन शोथ में बलकारक और शक्तिसञ्चारक औषधियाँ जैसे मकरध्वज, कस्तूरी, अभ्रकभस्म और लोहभस्म आदि का प्रयोग करना चाहिए। इसके साथ-साथ स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों पर भी ध्यान देना चाहिए। पीब को सुखाने के लिए लाइकोर

हैड्रार्ज परक्लोराइड ३० बूँद, पुटास आयोडाइड ५ ग्रेन, टिङ्क्चर सिनकोना कम्पौएड २० बूँद, डिकाकशन हिसीडिसमिस १ औन्स, इन सबको मिलाकर एक मात्रा बना ले। ऐसी ३-४ मात्रा प्रत्येक ४ घण्टे पीछे दिन में दिया करे। इसके प्रयोग से पीव सब सूख जायगी।

स्तन-विद्रधि या थनइल

यह स्तन के शोथ के अनुसार तीन प्रकार का होता है। स्तन की बनावट में पीव पड़ जाय तो इसे स्तन की अन्तः-विद्रधि कहते हैं। त्वचा की तह में पीव पड़ जाने पर उसे स्तन की बाह्य विद्रधि कहते हैं और जब ख़ास गिल्टी और स्तन के पट्टे के बीच में पीव पड़ जाय तो उसे छाती की गम्भीर विद्रधि या फोड़ा कहते हैं।

भीतरी स्तन की विद्रधि—यह विविध दशाओं के अनुसार तीन प्रकार की होती है—(१) (acute), (२) पुराना (chronic) और (३) अपरिमित (difused)। नए प्रकार की विद्रधि प्रायः निर्बल तथा कण्ठमाला-ग्रसित स्त्रियों में प्रसव के पश्चात् देखी जाती है। इसीलिए इसे दुग्ध-स्तन-विद्रधि कहते हैं।

नवीन तथा पुरातन सभी प्रकार के विद्रधि या फोड़ों के लक्षण प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं। स्तन की गम्भीर विद्रधि या मुख्य फोड़े में पीड़ा कठिन होती है, जो हाथ

दूध नहीं पिलाना चाहिए, क्योंकि उसमें विष का अंश है जो बच्चे को हानि पहुँचा सकता है।

पुराने शोथ में स्तन को पट्टी से कस कर या स्टिकिङ्ग प्लास्टर लगाकर बाँधना चाहिए। प्लास्टर को इस तरह चिपकाना चाहिए जिससे स्तन खिंचकर बँध जाय। स्तन पर बेलेडोना को ग्लेसिरीन में मिलाकर वा "ओलियेट ऑफ़ मर्करी ओइन्टमेन्ट" वा "ब्लू ओइन्टमेन्ट" की मालिश करनी चाहिए। पीव पड़ जाय तो स्तन को चीर कर पीव निकाल देना चाहिए। नूतन शोथ में कास्ट्राइल, सनाय, हरड़ आदि रेचक औषधियाँ देकर पश्चात् ज्वर-नाशक औषधियाँ "ज्वर-मिक्श्चर" या मृत्युञ्जय-रस और दन्ती मिलाकर शहद के साथ दे। पीड़ा दूर करने के लिए १० ग्रेन एण्टी पायरिन का प्रयोग करे अथवा पूर्वोक्त केशवादि वटी का प्रयोग करे अथवा टिङ्क्चर एकोनाइट ५ बूँद, टिङ्क्चर ओपियम १० बूँद, लाइकोर एमूनिया एसीटेटिस १ ड्राम, स्पिरिट ऑफ़ नाइट्रिक ईथर १५ बूँद, एका कैम्फ़र १ औन्स, सबको मिलाकर एक मात्रा बनावे। ऐसी ३-४ मात्रा प्रत्येक ३-४ घण्टे बाद देनी चाहिए। पुरातन शोथ में बलकारक और शक्तिसञ्चारक औषधियाँ जैसे मकरध्वज, कस्तूरी, अभ्रकभस्म और लोहभस्म आदि का प्रयोग करना चाहिए। इसके साथ-साथ स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों पर भी ध्यान देना चाहिए। पीव को सुखाने के लिए लाइकोर

हैड्रार्ज परक्लोराइड ३० बूँद, पुटास आयोडाइड ५ ग्रेन, टिंक्चर सिनकोना कम्पौण्ड २० बूँद, डिकाक्शन हिसीडिसमिस १ औन्स, इन सबको मिलाकर एक मात्रा बना ले। ऐसी ३-४ मात्रा प्रत्येक ४ घण्टे पीछे दिन में दिया करे। इसके प्रयोग से पीब सब सूख जायगी।

स्तन-विद्रधि या थनइल

यह स्तन के शोथ के अनुसार तीन प्रकार का होता है। स्तन की बनावट में पीब पड़ जाय तो इसे स्तन की अन्तःविद्रधि कहते हैं। त्वचा की तह में पीब पड़ जाने पर उसे स्तन की बाह्य विद्रधि कहते हैं और जब ख़ास गिल्टी और स्तन के पट्ठे के बीच में पीब पड़ जाय तो उसे छाती की गम्भीर विद्रधि या फोड़ा कहते हैं।

भीतरी स्तन की विद्रधि—यह विविध दशाओं के अनुसार तीन प्रकार की होती है—(१) (acute), (२) पुराना (chronic) और (३) अपरिमित (difused)। नए प्रकार की विद्रधि प्रायः निर्बल तथा कण्ठमाला-ग्रसित स्त्रियों में प्रसव के पश्चात् देखी जाती है। इसीलिए इसे दुग्ध-स्तन-विद्रधि कहते हैं।

नवीन तथा पुरातन सभी प्रकार के विद्रधि या फोड़ों के लक्षण प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं। स्तन की गम्भीर विद्रधि या मुख्य फोड़े में पीड़ा कठिन होती है, जो हाथ

हिलाने से अधिक बढ़ जाती है। रोगस्थान की त्वचा लाल होती है। कभी-कभी उसके वर्ण में विविध परिवर्तन दिखलाई देता है। चमक अधिक होती है और इसमें पिलपिलाहट नहीं पाई जाती।

बाह्य विद्रधि या बाहरी फोड़ा—यदि स्तन में उथला या बाहरी फोड़ा हो तो पीड़ा भी बाहरी जान पड़ती है। इसके साथ त्वचा तथा त्वगावरक झिल्ली में शोथ होने से अधिक जलन होती है और इसमें कहीं पर पिलपिलाहट भी पाई जाती है।

गम्भीर विद्रधि या गहरा फोड़ा—इस फोड़े में पीब भी गहरी होती है। स्तन शोथयुक्त और उभरा हुआ रहता है। इसमें बड़ी कठिनता अथवा पिलपिलाहट ज्ञात होती है और रोग-स्थान में उष्णता अधिक होती है। कभी काँख की शोषक (लिम्फ़ेटिक) ग्रन्थियाँ शोथयुक्त पाई जाती हैं और इसमें ज्वर भी होता है। पुराने प्रकार के फोड़े में पीड़ा नहीं होती है। स्तन में एक कठोर गाँठ पाई जाती है, जिसे देख कर अच्छे अनुभवी जर्राह (शस्त्र-चिकित्सक) भी केन्सर (क्रूर वतौड़ी) के भ्रम में आ जाते हैं, किन्तु फोड़े में मिटनी दबी हुई नहीं होती है और छेद कर परीक्षा करने से उसमें से पीब भी निकलती है। काँख की गिल्टियाँ बहुधा कम शोथयुक्त होती हैं। किन्तु केन्सर में पूर्वोक्त बातें इसके विरुद्ध होती हैं। इन बातों के ज्ञान

के साथ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अपरिमित प्रकार के फोड़े (डिफ्यूज्ड) में भी उक्त लक्षण विद्यमान होते हैं और सम्पूर्ण स्तन में शोथ हो जाता है। यदि फोड़ा नए प्रकार का हो तो उसमें ज्वर भी होता है, किन्तु पुरातन फोड़े में ये बातें नहीं होती हैं।

फोड़े के अपने आप ही फूटने पर नाड़ी-व्रण (नासूर) होने का डर रहता है। पुराने प्रकार का फोड़ा थैलीदार गाठों की भाँति बहुत दिन तक बना रहता है, किन्तु इसमें कोई क्लेश नहीं होता।

इसमें दो प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए, स्थानिक और शारीरिक।

स्थानिक चिकित्सा—आरम्भ में स्तन-शोथ के समान चिकित्सा करे। यदि पीब पड़ गई हो तो उसे चीर कर निकाल दे। बाह्य विद्रधि, विद्रधि या उथले फोड़े में चीरा देने में कोई भय नहीं है। किन्तु भीतरी या मुख्य फोड़े में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चीरा देने से दूध की नाली न कट जाय। इसलिए यदि चीरा देना हो तो दूध की नली के समानान्तर चीरा देवे। चीरा तिरछा नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा चीरा देने से दूध की नली के कट जाने का भय रहता है। इसलिए स्तन में खड़ा चीरा लगावे, विशेष कर मुख्य फोड़े में। गहरे फोड़े में चीरा उस स्थान पर लगाना चाहिए जहाँ पर

हिलाने से अधिक बढ़ जाती है। रोगस्थान की त्वचा लाल होती है। कभी-कभी उसके वर्ण में विविध परिवर्तन दिखलाई देता है। चमक अधिक होती है और इसमें पिलपिलाहट नहीं पाई जाती।

बाह्य विद्रधि या बाहरी फोड़ा—यदि स्तन में उथला या बाहरी फोड़ा हो तो पीड़ा भी बाहरी जान पड़ती है। इसके साथ त्वचा तथा त्वगावरक झिल्ली में शोथ होने से अधिक जलन होती है और इसमें कहीं पर पिलपिलाहट भी पाई जाती है।

गम्भीर विद्रधि या गहरा फोड़ा—इस फोड़े में पीब भी गहरी होती है। स्तन शोथयुक्त और उभरा हुआ रहता है। इसमें बड़ी कठिनता अथवा पिलपिलाहट ज्ञात होती है और रोग-स्थान में उष्णता अधिक होती है। कभी काँख की शोषक (लिम्फ़ेटिक) ग्रन्थियाँ शोथयुक्त पाई जाती हैं और इसमें ज्वर भी होता है। पुराने प्रकार के फोड़े में पीड़ा नहीं होती है। स्तन में एक कठोर गाँठ पाई जाती है, जिसे देख कर अच्छे अनुभवी जर्राह (शस्त्र-चिकित्सक) भी केन्सर (क्रूर वतौड़ी) के भ्रम में आ जाते हैं, किन्तु फोड़े में मिटनी दबी हुई नहीं होती है और छेद कर परीक्षा करने से उसमें से पीव भी निकलती है। काँख की गिल्टियाँ बहुधा कम शोथयुक्त होती हैं। किन्तु केन्सर में पूर्वोक्त बातें इसके विरुद्ध होती हैं। इन बातों के ज्ञान

के साथ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अपरिमित प्रकार के फोड़े (डिफ्यूज़्ड) में भी उक्त लक्षण विद्यमान होते हैं और सम्पूर्ण स्तन में शोथ हो जाता है। यदि फोड़ा नए प्रकार का हो तो उसमें ज्वर भी होता है, किन्तु पुरातन फोड़े में ये बातें नहीं होती हैं।

फोड़े के अपने आप ही फूटने पर नाड़ी-व्रण (नासूर) होने का डर रहता है। पुराने प्रकार का फोड़ा थैलीदार गाठों की भाँति बहुत दिन तक बना रहता है, किन्तु इसमें कोई क्लेश नहीं होता।

इसमें दो प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए, स्थानिक और शारीरिक।

स्थानिक चिकित्सा—आरम्भ में स्तन-शोथ के समान चिकित्सा करे। यदि पीब पड़ गई हो तो उसे चीर कर निकाल दे। ब्राह्य विद्रधि, विद्रधि या उथले फोड़े में चीरा देने में कोई भय नहीं है। किन्तु भीतरी या मुख्य फोड़े में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चीरा देने से दूध की नाली न कट जाय। इसलिए यदि चीरा देना हो तो दूध की नली के समानान्तर चीरा देवे। चीरा तिरछा नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा चीरा देने से दूध की नली के कट जाने का भय रहता है। इसलिए स्तन में खड़ा चीरा लगावे, विशेष कर मुख्य फोड़े में। गहरे फोड़े में चीरा उस स्थान पर लगाना चाहिए जहाँ पर

पिलपिलाहट पाई जाय। चीरा देने के बाद घाव को छूत-नाशक अर्कों से या नीम के पत्तों के जल से धोकर उसमें 'आइडोफ़ार्म' और 'बोरिक' डाल कर बाँध दे अथवा 'कार्बोलिक ऑयल' लगा कर भी बाँध सकते हैं।

यदि फोड़ा स्वयं ही फूट गया हो तो उसे कुछ और चीर देना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से नासूर होने का डर नहीं रहता है। घाव को नित्य-प्रति तूतिए के अर्क़ (कॉपर लोशन) अथवा सफ़ेद तूतिए के अर्क़ (सल्फ़ेट ऑफ़ जिङ्क) से धोकर कस कर बाँध देने से नासूर नहीं होने पाता है। इसके साथ सफ़ाई आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

शारीरिक चिकित्सा—घाव को मक्खी वा छूत आदि से बचा कर स्वास्थ्य के नियमों को पूर्णरूप से पालन करना चाहिए। यदि ज्वर हो तो रोगिणी को ज्वर-नाशक पटोलादि क्वाथ, मृत्युञ्जय-रस अथवा कुनाइन आदि दे। यदि निर्बलता अधिक हो तो बलकारक मकरध्वज, कस्तूरी, लोह-भस्म आदि का प्रयोग करे। कण्ठमाला रोग वाली स्त्रियों के लिए काञ्चनार गूगल, अथवा मछली का तैल लाभदायक है।

आयुर्वेद से स्तन की विद्रधि का वर्णन

बासी, अधिक गरम, तेज़, रूक्ष, सूखे और विदाही

(जलन पैदा करने वाले) पदार्थों के खाने से अथवा विषम शय्या (ऊँचा-नीचा बिछौना) में सोने या विपरीत चेष्टा (हाथ-पैरों का चलाना) करने से, शरीर के वातादि दोषों के कुपित होने या स्तन की बनावट के ख़राब होने के कारण गर्भिणी तथा प्रसूता स्त्रियों के स्तनों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह शोथ जब बहुत गहरा और भयानक होता है, तो इसे स्तन-विद्रधि कहते हैं। यह शोथ कालान्तर में पक कर फूट भी जाता है। इसमें अधिकतर वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले फोड़े या विद्रधि के लक्षण मिलते हैं, अर्थात् किसी में विशेष पीड़ा, बेडोल आकार, काला-लाल रङ्ग, बींधने या काटने के समान पीड़ा होती है और किसी में तृष्णा, मूर्च्छा, दाह, पाक और जलन के साथ लाल ताँबे का रङ्ग अथवा पीला-लाल रङ्ग पाया जाता है और किसी में पीलापन, खुजली, भारीपन अरुचि, देर में तथा गहिरा पाक होने के साथ स्तन में जकड़ाहट और शीतलता रहती है। पूर्वोक्त कारणों के सिवाय कभी-कभी स्तन-विद्रधि बाहरी चोट आदि के लगने या स्तन के दबने या मिचने के कारण भी पैदा हो जाती है। इसे आगन्तु विद्रधि कहते हैं।

स्तनों में शोथ पैदा होने पर विद्रधि के अनुसार उसकी चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थात् उसकी आम पच्यमान और पक्वावस्था में स्वेद और सेंक न करके उसके बैठाने

की चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए पित्तनाशक शीत द्रव्यों का प्रलेप करना चाहिए और जोंक लगा कर रक्त निकाल देना चाहिए। किन्तु विद्रधि के समान स्तनों में पुलटिस नहीं बाँधनी चाहिए। इसलिए जिन योगों से स्तन का फोड़ा या विद्रधि बिना पके ही बैठ जाता है, उनका वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(१) इन्द्रायण की जड़ का लेप करने से स्तन का फोड़ा बिना पके ही बैठ जाता है और पीड़ा भी शान्त हो जाती है।

(२) स्तन में अल्प शोथ और पीड़ा उत्पन्न होने पर हल्दी और धतूरे का पत्ता समान भाग में लेकर पानी में पीस कर स्तन पर लेप करने से स्तन-पीड़ा बन्द हो जाती है और शोथ भी घट जाता है और शोथ पकने भी नहीं पाता है।

(३) बाँझककोड़े की जड़ का लेप करने से स्तन का शोथ और पीड़ा दोनों शान्त हो जाते हैं।

(४) कुकरौंधे को पीस कर टिकिया बना कर स्तन पर बाँधने से स्तन का फोड़ा दब जाता है।

(५) भूसी रहित भुना हुआ जौ, छिलके रहित अरहर की दाल और आम की गुठली, सबको बराबर भाग में लेकर जल के साथ पीस कर दिन में तीन-चार बार लेप करने से स्तन-पीड़ा दूर हो जाती है और शोथ बैठ जाता है।

(६) हल्दी, दारुहल्दी, तगर, लाल चन्दन, नेत्रबाला, बड़ी इलायची, मुलेठी, कूट, जटामासी और सिरस की छाल, प्रत्येक एक-एक तोला लेकर जल के साथ पीस कर घी मिला कर लेप करने से पीड़ा नष्ट होती है और सब तरह का स्तन-फोड़ा बैठ जाता है।

(७) तपाए हुए लोहे को जल में बुझा कर स्तन-रोग वाली स्त्री को वह बुझा हुआ जल पिलाने से स्तन-पीड़ा और शोथ बन्द हो जाते हैं, और इसी पानी से स्तन के शोथ को धोते रहना भी लाभकारी है।

(८) पलास के कोमल पत्तों पर घी चुपड़ कर शोथ में कई एक पत्ते लगा कर कपड़े से बाँधने पर भी अत्यन्त उपकार होता है।

स्तन-विद्रधि के पक जाने पर अत्यन्त सोच-विचार के साथ स्तन की प्रधान शिरा, स्नायु तथा नाड़ियों को बचा कर चीरा देना चाहिए और इसके पश्चात् इसकी व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिए। यदि पाक होने के पूर्व ही उसके दुष्ट रक्त को जोंकों से निकाल दिया जाय तो विद्रधि में विकृति ही नहीं उत्पन्न हो सकती है और न वह पकने पाती है। इसके साथ ही स्तन में शोथ होने पर उसके दूध को स्तन्य-चूषण यन्त्र (Beast pump) से निकाल देना चाहिए, क्योंकि दूध के जम जाने से विद्रधि में अधिक पीड़ा होती है और गम्भीर पाक हो जाता है।

इसलिए स्तन-विद्रधि में दूध का निकालना बहुत आवश्यक है।

स्तन-रोग में विद्रधि-रोग के सदृश पथ्यापथ्य का प्रतिपालन करना चाहिए। अर्थात् दिन में पुराने चावलों का भात, मूँग और मसूर की दाल, परवल, छोटे बैंगन, कच्चे गूलर के फल, सहिजने की फली आदि शाकों को घी में पका कर सेवन करना चाहिए। यदि स्त्री क्षीणबल हो गई हो तो उसे बकरी आदि के लघु मांस-रस के साथ भोजन कराना चाहिए। इसी तरह रात्रि में भी रोटी और पूर्वोक्त शाकों का व्यवहार रखना चाहिए और गरम जल को ठण्ढा करके पीना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो उसी से स्नान भी कराना चाहिए।

निषिद्ध कर्म—स्तन-रोग में सब प्रकार के कफवर्द्धक और गुरु द्रव्यों का प्रयोग—दूध, दही, मछली, पिठी और सब प्रकार की मीठी चीज़ों का भोजन करना तथा दिन में सोना, रात्रि में जागरण, स्नान करना, अधिक घूमना और मैथुन तथा व्यायाम आदि करना हानिकारक है।

स्तनों में पूर्वोक्त रोगों के सिवाय स्तन-वृद्धि, स्तन-शोष, स्तन-ग्रन्थि-अर्बुद, स्तन-चूचक, क्षत व शोथ स्फोटक, छाला आदि अनेक रोग हो जाते हैं। इन रोगों के उत्पन्न होने पर उनके वातादि दोषों को अच्छी तरह विचार कर अवस्थानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

स्तनों की वृद्धि में अलसी से पुते हुए सूखे कपड़े को माजूफल के जल में ठण्ढा करके स्तनों में बाँधे अथवा छुईमुई, शहद, अफ़ीम को सिरके में घोल कर स्तनों पर लगावे या जैतून का तेल और बारीक पिसी हुई फिटकरी, दोनों का धूप देना चाहिए अथवा छाछ और जौ का आटा पुराने सिरके में घोट कर स्तनों पर तीन दिन तक लेप करे।

स्तनों के सूख जाने या न बढ़ने पर कालीमिर्च, पीपल, तगर, सेंधा नमक, कटेली के फल, अपामार्ग की जड़, काला तिल, कूट, जौ, उड़द, सरसों और असगन्ध, सबको समान भाग में उबटन के समान पीस कर प्रतिदिन स्तनों पर मर्दन करने से स्तन बढ़ने लग जाते हैं।

स्तन-चूचक, क्षत वा शोथ में व्रणों के समान चिकित्सा करे। स्तन-ग्रन्थि और अर्बुद में भी इन्हीं रोगों के समान चिकित्सा करे।

परिशिष्ट

पुस्तक में आए हुए आयुर्वेद के कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या नीचे दी जाती है। आशा है, इससे पाठकों को पुस्तक का आशय समझने में कोई कठिनाई नहीं रह जायगी।

वमन—मैनफल आदि उलटी करने वाली औषधियों को खिला कर उलटी कराना या दोषों को बाहर निकालना।

विरेचन—दस्त ले आने वाली औषधियाँ, जुलाब। पहले रोगी को घृत आदि चिकनाई खिला कर (जिसको यूनानी वाले मुञ्जिश पिलाना कहते हैं) जुल्लाब की औषधियाँ देकर मल बाहर निकाला जाता है।

स्नेहपान—रोगी के शारीरिक आशयों और धातुओं को चिकना करने के लिए घी आदि चिकनी चीज़ों को खिलाना।

उत्तर वस्ति—स्त्री-पुरुषों की जननेन्द्रियों को साफ़ करने के लिए या उनमें बल पहुँचाने के लिए घी आदि चिकनी, पतली चीज़ों की लिङ्ग या मूत्र-छिद्र में और स्त्रियों के योनि-मार्ग में पिचकारी लगाना।

स्वेद—औषधि-मिश्रित जल को औटा कर उसकी बाफ के द्वारा रोगी के किसी या सम्पूर्ण अङ्ग को सेंकना।

वस्ति—पिचकारी (एनीमा) देना। यह दो प्रकार की होती है। स्नेह (घृत, तैल आदि) की पिचकारी को स्नेह-वस्ति या अनुवासन वस्ति कहते हैं। दूध, क्काथ, तैल, साबुन और पानी मिश्रित करके पिचकारी देने को क्काथ या निरूहण वस्ति कहते हैं।

पञ्चकर्म—वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन और नस्य (औषधियों की सुँघनी), इन पाँच कर्मों को पञ्चकर्म कहते हैं। पहले स्नेहपान करा कर फिर स्वेद से पसीना निकालना, बफारे के बाद वमन फिर विरेचन देना, विरेचन के बाद वस्ति से मल को बाहर निकालना चाहिए और सबके अन्त में शिर के दोषों को निकालने के लिए नस्य देना चाहिए। यह पञ्चकर्म का विधान संक्षेप से दिया गया है।

पञ्चाङ्ग—किसी वृक्ष के फल, फूल, छाल, जड़ और पत्ते—इन पाँचों चीज़ों को लेना पञ्चाङ्ग कहा जाता है।

पिचु—औषधियों के कपड़छन चूर्ण अथवा उनके क्काथ, घी, तैल में रुई के टुकड़े को भिगो कर योनि में रखना।

पञ्जीरी—एक प्रकार की चूर्ण के समान मिठाई, जो अन्न के चूर्ण को घी में भून कर चीनी मेवा आदि डालकर बनाई जाती है।

क्वाथ—जौकुट की हुई औषधि को सोलह गुने पानी में पका कर चतुर्थांश रह जाने पर उतार कर छान ले। इसको कषाय, काढ़ा और यूनानी में जोशाँदा कहते हैं। यही अष्टमांश जल शेष रह जाने पर उतार कर छाना जाय तो "अष्टावशेष" कहा जाता है।

कल्क—गीली औषधि को सिल पर महीन पीस ले और सूखी औषधि को पानी से उबटन के समान पीस लेने को कल्क कहते हैं।

अवलेह—चीनी, मिश्री, शक्कर या गुड़ को पानी के साथ अथवा क्वाथ आदि में पका कर मधु के समान हो जाने पर उसमें चूर्ण, घृत आदि मिलाकर चाटने के योग्य बनता है, उसे अवलेह कहते हैं।

कज्जली—पारे और गन्धक को खरल में धीरे-धीरे एक घण्टे तक घोटने से वह काले रङ्ग का चूर्ण बन जाता है, उसको कज्जली कहते हैं।

चावल का जल—ढाई तोले चावलों को पाव भर पानी में एक घण्टे तक भिगो कर कपड़े से छान ले, इसको चावल का जल या चावल का धोवन कहते हैं।

धारोष्ण—तुरन्त का दुहा दूध जिसके धार की उष्णता दूर न हुई हो।

धूप-धूनी—सूखी कूटी हुई औषधियों को निर्धूम (धुँआ-रहित) अग्नि में डाल कर उससे किसी अङ्ग को धूनी देना।

पेय—पीने की वस्तु, पीने के योग्य, जिसको पी सकें।

पोटली—कुटी औषधि वा अन्नादि को कपड़े के बीच में रख कर उसको चारों ओर से बटोर कर गोला बाँधना पोटली कहा जाता है।

लेप—गीली पीसी हुई औषधि को शरीर पर अङ्गुल या आध अङ्गुल की मोटाई से पोत देना लेप, प्रलेप, पुलटिस कहा जाता है।

भावना—औषधियों के चूर्ण को किसी चीज़ के रस, दूध अथवा काढ़े आदि में भिगो कर थोड़ी देर खरल में घोट कर सुखा देना भावना कहलाता है।

यूष—अरहर, मूँग, मोठ, चना, उड़द, मसूर आदि की दाल को १८ गुने पानी में पकावे। दाल के गल जाने पर सेंधानमक मिला नीचे उतार ले, इसे यूष कहते हैं।

पेया—धान की खील आदि को १४ गुने पानी, क्वाथ, दूध आदि में पका कर लप्सी के आकार का हरीरा सा बना लेना पेया होती है।

पिलेपी—यह पेया की अपेक्षा अधिक गाढ़ी होती है। जल आदि चार गुने ही पड़ते हैं।

क्षीरपाक-विधि—औषधि से आठ गुना दूध और दूध से चौगुना जल डाल कर दूध-मात्र शेष रहने पर उतार कर छान ले, यह क्षीरपाक विधि है।

अनुपान—किसी औषधि को किसी पतली चीज़ में

मिला कर खाने या पीने के योग्य बना लेना अनुपान कहा जाता है, जैसे शहद, घी, शरबत, काथ आदि।

न्यग्रोधादि गण—बड़ पीपल, गूलर, पाकर, पलाशी लोध, छोटी-बड़ी दोनों जामुन की छाल, अर्जुन (कौहा), सफ़ेद खैर, पिलखन, आम्र, बेत, चिरौंजी, ढाक, छोटी बेरी, कदम्ब, तेंदू की छाल, मुलेठी और महुआ, इनको न्यग्रोधादि गण कहा जाता है।

उत्पलादि गण—कमल, पुण्डरिया, कुमुद, [illegible], ऋद्धि, काकड़ासिङ्गी, गिलोय, जीवन्ती, मूँगपर्णी, ऋषभक, जीवक, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा आदि औषधियाँ उत्पलादि गण कही जाती हैं।

यवागू—चावल, मूँग, उड़द, तिल आदि चीज़ों को ६ गुने पानी या क्वाथ आदि में डाल कर उनके पक जाने पर पतली आकार की यवागू कही जाती है।

हिम—एक पल (४ तोले) औषधि को जौकुट करके ६ गुने जल में डाल कर हाँडी में भर कर, रात्रि में भिगो दे। प्रातःकाल उस जल को छान कर पीवे। इसको हिम या शीतकषाय कहते हैं।

षड्गुण बलिजारित मकरध्वज—शुद्ध पारे के बराबर शुद्ध गन्धक लेकर दोनों की कज्जली बना, एक कपड़मिट्टी की हुई काँच की शीशी में भर कर उसको बालुकायन्त्र

में रख कर चार पहर की आँच दे, ठण्ढा होने पर शीशी के गले में लगा हुआ शिङ्गरफ़ के समान पदार्थ मिलता है। आँच देते समय जब गन्धक जल जाता है तब शीशी के मुख में ईंट की डाट लगाई जाती है। उससे पारा उड़ने नहीं पाता। इस प्रकार ६ बार करने से उक्त मकरध्वज बनता है।

जीवनीय गण—मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, मुलेठी, मूँगपर्णी, माषपर्णी, इनको जीवनीय गण कहते हैं।

काँजी—एक प्रकार का खट्टा पानी है, जो इस प्रकार बनता है—हींग ५ तोले, सफ़ेद ज़ीरा और सोंठ दस-दस तोले, बाँस का पत्ता, हल्दी और कड़वे तैल में पकाए हुए उड़द के बरे एक-एक पाव, राई आधा सेर, भात का माँड़, सेंधानमक और कुलथी एक-एक सेर, मट्ठा ५ सेर, जल १२ सेर। पहले कुलथी को छोड़ कर सब औषधियों को बारीक कूट डाले, फिर कुलथी को ८ सेर पानी में पकावे। जब दो सेर जल रह जाय तब नीचे उतार कर छान ले। फिर एक मिट्टी के पात्र में भीतर कड़ुवा तैल पोत कर जल, काढ़ा (कुलथी का), मट्ठा, माँड़ और पिसी हुई सब चीज़ें मिला कर पात्र का मुँह बन्द करके जाड़े में सात दिन और गर्मी में चार दिन तक सड़ा कर फिर वस्त्र से छान ले। इसी खट्टे पानी को काँजी कहते हैं।

पुस्तक में विवश होकर अङ्गरेज़ी के कुछ शब्द व्यवहार करने पड़े हैं। नीचे अङ्गरेज़ी अक्षरों में उनकी एक सूची दी जाती है। जहाँ तक हो सका है अङ्गरेज़ी शब्दों का हिन्दी रुपान्तर भी देने की चेष्टा की गई है।

Tincture Steel	टिङ्कचर स्टील
Hydrogen Per Chloride	हाइड्रोजन पर क्लोराइड
Decoction Sarsaparilla	डिकॉक्शन सार्सपेरिला
Gono Coccus	गोनो कॉकस
Bartholene	बारथोलीन
Acetate of Lead	एसिटेट् ऑफ़ लेड
Alum Sulphate of Zinc	एलम सल्फ़ेट ऑफ़ ज़िङ्क
Fibrous Tumour	फ़ाइब्रस ट्यूमर (सूत्रार्बुद)
Ovarion Tumour	ओवेरियन ट्यूमर (डिम्बार्बुद)
Extra Utrine	एक्स्ट्रा यूटराइन (गर्भाशय से बाहर वाला)
Ascitis	एसाइटिस (जलोदर)
Desiduae	डेसीड्यया (प्रसूतान्तर खेड़ी)
Desiduae Serrotina	डेसीड्यूया सिरोटिना (दन्दानेदार आँवल-नाल)
Ergot	अर्गट

Chloral	क्लोरल
Tincture Cimicifuga	टिङ्कचर सिमिसिफ्यूगा
Liquor Morphine Hydrochlorate	लाइकर मारफ़ाइन हाइड्रोक्लोरेट
Acid Hydrocyanic Dilute	एसिड हाइड्रोस्यानिक डाइल्यूट
Cæsarean Section	सिज़ीरियन सेक्शन
Decapitation	डिकेपिटेशन
Pepsine	पेप्सीन
Soda Bi Carb	सोडा बाई कार्ब
Bismuth Sub Nitras	बिस्मथ सब नाइट्रास
Tincture Opium	टिङ्कचर ओपियम
Pulva Creota Arromatic	पल्व क्रोटा ऐरोमैटिक
Chlorodyne	क्लोरोडीन
Spirit Amonia Arromatic	स्प्रिट ऐमोनिया ऐरोमेटिक
Brandy	ब्राण्डी
Spirit Chloroforum	स्प्रिट क्लोरोफ़ार्म
Spirit Ether Compound	स्प्रिट ईथर कम्पाउण्ड
Aqua Campher	एका कैम्फ़र
Syncope	सिनकोपी

Liquor Arsenicalis	लाइकर आरसेनिकेलिस
Infusion Columba	इन्फ्यूज़न कोलम्बा
Albuminoria	एलब्यूमिनोरिया
Chloral Hydrate	क्लोरल हाइड्रेट
Bromide Potash	ब्रोमाइड पोटाश
Para Plagia	पारा प्लेजिया
Hemi Plagia	हेमी प्लेजिया
Oxide of Zinc	आक्साइड ऑफ़ ज़िङ्क
Ferri Et Qunine Sulphas	फ़ेरी एट कुनैन सल्फ़ास
Extract Jention	एक्सट्रैक्ट जेनशन
Mucous Membrane	म्यूकस मेम्ब्रेन
Irritable Bladder	इरिटेबिल ब्लैडर
Prurites of the Vulva	प्राइट्स ऑफ़ दी वलवा
Nuchlein	निकुलीन
Iron Lotion	आयरन लोशन
Liquor Amonia Acetate	लाइकर एमोनिया एसिटेट
Tincture Digitalis	टिङ्क्चर डेजीटेलिस
Tincture Cannabis Indica	टिङ्क्चर कनेवस इण्डिका
Liquor Ferric Per Chloride	लाइकर फेरिक परक्लोराइड
Placenta	प्लासेण्टा
Hyginson's Syringe	हिगिन्सन्स पिचकारी

Chloral Hydrate	क्लोरल हाइड्रेट
Septecemia	सेप्टीसीमिया
Dephtheria	डिप्थीरिया
Typhoid Fever	टाइफ़ाइड फ़ीवर
Erisipelous	ईरिसिपेलिस
Rubeola	रुबीओला
Papeulai	पेप्यूली
Petechei	पिटिकिआई
Versiclore	वारसीक्लोर
Contagious Fever	छूतवाले ज्वर
Sabine	सेबाइन
Iodide Potash	आयोडाइड पोटाश
Castor Oil	कास्ट्रॉइल
Croton	क्रोटन
Salt	साल्ट
Podophyllum	पोडोफ़िलम्
Scammony	स्कामनि
Strychnine	स्ट्रिकनीन
Cantharides	कैनथैरेडिस
Anteseptic	एण्टीसैप्टिक
Fundus	फण्डस (कलश)
Petuitary	पिचुटेरी

Hypodermic	हाइपोडर्मिक (त्वचा की)
Condy's fluid	काएडीज़ फ़्लूइड
Acid Tartaric	एसिड टारटारिक (टाटरी)
Sugar	शुगर (शक्कर)
Soda Bi Carbonate	सोडा बाई कार्बोनेट
Syrup Aurantei	सीरप औरेन्शाई (नारङ्गी का शर्बत)
Onlate of Cerium	ऑक्सिलेट ऑफ़ सीरियम
Extract Nuxvomica	एक्सट्रैक्ट नक्सवोमिका
Morphine	मारफ़ाइन
Belladona	बैलेडोना
Acid Nitro Hydro-chloric Dilute	एसिड नाइट्रो हाइड्रोक्लोरिक डाईल्यूट
Pelvic Cellulitis	पेल्विक सैल्यूलाइटिस
Gum Elastic Catheter	गम इलास्टिक कैथेटर
Stethescope	स्टेथिसकोप
Phenacetine	फ़िनैसिटीन
Antefebrine	एएटीफ़ैबरीन
Jalap Powder	जेज़प पाउडर
Syrup Rose	सीरप रोज़
Pilo Carpine	पाइलो कारपाइन
Tr. Aconite	टिङ्क्चर एकोनाइट

Tr. Cinchona Compound	टिङ्कचर सिनकोना कम्पाउण्ड
Decoction Hemidismeus	डिकॉक्शन हेमीडिसमिस
Mammary Abces	मेमरी एबसेस
Sub Mammary Abces	सब मेमरी एबसेस
Lymphatic	लिम्फ़ेटिक